दलित राजनीति के विविध पक्ष : वर्तमान संदर्भ में

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की पी०एच०डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2002

प्रस्तुतकर्ता :

श्रीमती निशिमा शुक्ला
एम.ए.
राजनीति विज्ञान
डी०वी० (पी०जी०) कालेज, उरई
जिला – जालौन (उ०प्र०)

निर्देशक :

डा० रिपूसूदन सिंह
वरिष्ठ प्रवक्ता
राजनीति विज्ञान
डी०वी०(पी०जी०) कालेज, उरई
जिला – जालौन (उ०प्र०)

CERTIFICATE

It is certified that the thesis entitled "दलित राजनीति के विविध पक्ष : वर्तमान सन्दर्भ में" is being submitted by ***Mrs. Nishima Shukla*** for the award of Ph.D. in Political Science of Bundelkhand University, Jhansi (U.P.). This is a record of candidates work carried under my supervision and guidence. She has worked under me for the period, required under ordinance, (more than 200 days)

It is also to certify that this is her original work and has never been submitted for the award of any degree in any University.

(Dr. Ripusudan Singh)
Senior Lecturer
Political Science
D. V. (P.G.) College, Orai
Distt. Jalaun

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध में दलित राजनीति के विविध पक्ष का तथ्यपरक, तार्किक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। दलित राजनीति के उभार से समाज में उत्पन्न विभिन्न स्थितियों एवं प्रभावों की भी विवेचना की गयी है। विगत वर्षो से चल रहे दलित चेतना के विभिन्न आन्दोलनों ने अपनी अलग पहचान बनायी है। उक्त आन्दोलनों के कर्णधार एक तरफ तो सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की मांग कर रहे है तो दूसरी तरफ राजनीतिक व्यवस्था में दलितों के प्रतिनिधित्व एवं सक्रिय भागीदारी चाहते हैं।

दलितों में आयी राजनीतिक चेतना मे स्वयं को पहचानने तथा स्वाभिमान की भावना दोनों का समावेश है। इस चेतना में सवर्ण से संरक्षण प्राप्त करने या उसकी दया पर जीवित रहने का भाव नही है। अपितु संघर्ष के द्वारा अपने अधिकार प्राप्त करने का बोध निहित है। दलित वर्ग अब सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख है और आज वह एक स्वतन्त्र नागरिक की हैसियत से जीना चाहता है।

इतिहास के प्रत्येक युग मे कुछ विचारशील व्यक्ति और आन्दोलन जाति व्यवस्था और इसमें निहित विषमताओं के विरूद्ध विद्रोह के लिए तत्पर रहे है जिसमें महात्मा बुद्ध का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में राजाराम मोहन राय एवं स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को एक नया अर्थ देने की चेष्टा की और इस बात पर बल दिया कि वर्ण व्यवस्था एक ध र्मिक प्रथा न होकर एक सामाजिक प्रथा है, जिसका आज कोई उपयोग नही रहा और इस प्रथा ने भारत के वातावरण में दुर्गन्ध मात्र फैलायी है। दलित राजनीति के निर्माण एवं दलित आन्दोलन के प्रेरक तत्वों के रूप में सन्तों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। कबीर और रैदास दलितों के मसीहा के रूप में पूजे जाते है। कबीर अहिंसक क्रान्ति भावना के द्वारा धार्मिक असमानता के विरूद्ध क्रान्ति पैदा करना चाहते थे। 10 वीं से 17 वीं सदी के मध्य साहित्य की प्रत्येक भाषा में इस व्यवस्था के विरोध में आवाज उठायी गयी। हिन्दी में कबीर, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, कर्नाटक में बसवेश्वर,

महाराष्ट्र में नामदेव एकनाथ और तुकाराम, तमिलनाडू में आलावर सन्त गुजरात में नरसी मेहता आदि के नाम प्रमुख है।

राजनीतिक नेताओं में महात्मा गांधी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होने छुआछूत उन्मूलन को अपने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सभी प्रकार के कार्यक्रमों का केन्द्र विन्दु बनाया। इस विद्रोह का इतिहास याद करते वक्त तीन समाज सुधारकों का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है ज्योतिबा फूले, ई०वी० रामास्वामी नायकर और सबसे प्रमुख हैं डा० बी० आर० अम्बेडकर जिन्होने अपना सारा जीवन ही दलितों के संघर्ष में लगा दिया। अम्बेडकर के लिए जातिप्रथा, अस्पृश्यता और उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी सामाजिक विषमता प्रत्यक्ष अनुभव का सत्य था। उन्हे स्वयं सवर्णो से अपमान, अन्याय और अमानुषिक व्यवहार झेलना पड़ा था।

स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश शासन काल में पाश्चात्य शिक्षा एवं मूल्यों, विज्ञान के प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, राजनीतिक आन्दोलन एवं आधुनिकीकरण आदि के विकसित परिवेश के फलस्वरूप लोगों में दलितों के साथ भेदभाव एवं उत्पीड़न के विरूद्ध एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इसी चेतना के कारण कई समाज सुधारों का जन्म हुआ, जिन्होने हिन्दुओं के सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाना चाहा। समाज सुधारकों द्वारा किये गये व्यक्तिगत प्रयास के साथ साथ इस दिशा में अनेकानेक संस्थाओं ने भी उल्लेखनीय कार्य किये। जैसे सत्य शोधक समाज, अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी लीग जो बाद में 'सर्वेन्ट्स आफ अनटचेवल्स सोसायटी' के नाम से पुकारी गई तथा अन्ततः दलित सेवक संघ के नाम से विख्यात हुई, अखिल भारतीय दलित वर्ग फैडरेशन सर्वेन्ट्स आफ इण्डियन सोसायटी, भारतीय दलित वर्ग संघ, भारतीय दलित सेवक संघ, आर्य समाज, ब्रम्ह समाज, रामकृष्ण मिशन आदि सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं की भूमिका सराहनीय रही है। इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्ण काल में समाज सुधारको, सन्तों तथा सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा किये गये प्रयासों से अस्पृश्यता निवारण एवं दलित कार्यो के निवारण का एक सिलसिला चल पड़ा जो संतत गतिमान है।

देश के पिछड़े एवं दलित वर्गो के आर्थिक सामाजिक उत्थान की दृष्टि से 1953 में भारतीय संविधान के अनु० 340 के अर्न्तगत राष्ट्रपति के आदेश द्वारा स्व० काका कालेलकर की अध्यक्षता में प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया था, जिसने 30 मार्च 1955 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। 1977 में जब जनता पार्टी सत्ता में आयी तो कालेलकर आयोग की विसंगतियों को दूर करने की दृष्टि से मण्डल आयोग की नियुक्ति की गयी।

यह सर्वविदित है कि किस प्रकार से ब्राम्ह्यण वाद ने भारत वासियों को विभिन्न जातियों, उपजातियों में बांटकर ऊँच नीच, छूत अछूत की भावना पैदा की। जनसंख्या के 70 प्रतिशत लोंगों को शूद्र की संज्ञा देकर अशिक्षा, अज्ञानता तथा अन्धकार में रहने के लिए वाध्य किया। इसी व्यवस्था के कारण न जाने कितने एकलव्यों को गुरू दक्षिणा में अपना अंगूठा द्रोणाचार्य जैसे गुरूओं को देना पड़ा और शम्बूक जैसे महापुरूषों को अपनी जान गवानी पड़ी। जिस कारण इस देश मे ज्ञान योग्यता और दक्षता एक प्रकार से एक वर्ण विशेष में सीमित होकर रह गयी। इस देश के दलितों पिछड़ों को इस देश की सत्ता के संचालन में कभी भागीदार होने का एहसास तक न होने दिया।

इस प्रकार सही मायने में ब्राम्हण वाद ने इस देश की सामाजिक, आर्थिक प्रगति को 500 वर्ष पीछे ढकेल दिया है। आज सैकड़ो वर्षो से भारत में दलित व पीड़ित शूद्र अति शूद्र ब्राम्ह्यण वर्ग के आधीन होकर नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रहे है। इस बात पर विचार करते हुए हमें आगे इस निर्णय पर पहुंचने की आवश्यकता है कि इन नाना प्रकार के कष्टों से दलितों को किस प्रकार छुटकारा दिलाया जा सकता है।

ब्रम्ह्यणों ने इन पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर निजी स्वार्थ साधन हेतु कई ईश्वर प्रदत्त ग्रन्थों की रचना की उन ईश्वर प्रदत्त ग्रन्थों में शूद्रों के उत्पन्न करने का उद्देश्य यह बताया गया है कि यह सेवा भाव से ऊपर तीनों वर्णो की गुलामी करे और उन्हे प्रसन्न रखे ताकि अगले जन्म में उन्हे शूद्र जाति में जन्म न लेना पड़े। इन ग्रन्थों के अध्ययन से बुद्धिजीवी वर्ग यह समझा जायेगा कि यह कपोल कल्पित है या सचमुच ईश्वर द्वारा रचे गये है या नहीं।

दलितों के बीच संघर्ष काफी दिनों पूर्व ही पनप चुका था और आज इस संघर्ष को निःसन्देह एक नई दिशा मिली है। वैसे भी लोकतन्त्र में अन्ततः हर वर्ग को उभारने का मौका मिलता है। इस दृष्टि से दलित उभार का स्वागत किया जाना चाहिए। यहाँ इस बात पर बल देना प्रासंगिक होगा कि भारतीय प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि जिन दलित समूहों मे राजनीतिक चेतना जगी है, वे सक्रिय हो उठे है तथा अपने अधिकारों की मांग करने लगे है। यह भी निरापदेन तार्किक है कि दलित विकास को विखंडित रूप से संचालित करना एक बड़ी भूल है जिसकी प्रभावोत्पादकता परिसीमित होकर अर्थतन्त्र में ऐसी ऐंठनें डाल देगीं जिनसे 'समता एवं वितरणात्मक न्याय के साथ विकास लक्ष्य को प्राप्त करने में संरचात्मक कठिनाइयां आयेगीं। इस शोध के माध्यम से मेरा पूरा प्रयास रहा है कि दलित विकास की किसी सुविचारित रणनीति में गैर दलित वर्ग के सामाजार्थिक दृष्टि से विभिन्न लोगों की स्थिति पर एक समेकित दृष्टिपात करते हुए एक विकास का "बहुजन माडल" लागू करने के लिए निर्धनों बेकारों, शोषितों, कामगारों महिलाओं एवं सत्तापीड़ित लोगों को व्यापक रूप में लाभबध किया जाए। अन्यथा दलित नेतृत्व एक कुहासजन्य परिस्थिति में हाथ पैर मारता रह जायेगा।

अतएव प्रस्तुत शोध में उपरोक्त विन्दुओं पर एक समग्र विश्लेषणात्मक तार्किक, निष्पक्ष एवं सामयिक अध्ययन का प्रयास किया गया है।

आभार प्रदर्शन

मैं डा० रिपूसूदन सिंह जो कि स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं से ही मेरे लिये असीम प्रेरणा के श्रोत रहे हैं, का सह्रदय आभार व्यक्त करती हूं जिनके कुशल निर्देशन में मैने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध तैयार किया। शोध प्रबन्ध के निर्माण में उनके मूल्यवान निर्देश, उपयोगी सुझाव, तार्किक पद्धति एवं प्रेरणादायी प्रोत्साहन के कारण अभियोजित अध्ययन पूर्ण हो सका। इसी सन्दर्भ में आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मीना सिंह की ह्रदय से आभारी हूं जिनके मृदुलव्यवहार और सृजनात्मक सहयोग से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सहायता प्राप्त हुई

मैं डा० राजेन्द्र पुरवार, डा० जयश्री पुरवार एवं डा० आदित्य कुमार की विशेष आभारी हूं जिनके रचनात्मक सुझावों सहयोग एवं मार्गदर्शन से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की पूर्ण करने के प्रयास कर सकी हूँ। मैं श्री के० पी० सिंह, संपादक दैनिक अग्निचरण (समाचार पत्र) का सह्रदय आभार व्यक्त करती हूं जिन्होने शोध से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी एवं अध्ययन सामग्री प्रदान की। इसी क्रम में श्री राभाधीन जी वरिष्ठ लिपिक, डी० वी० सी० उरई की आभारी हूं जिन्होने महत्वपूर्ण शोध सामग्री एवं तार्किक सुझावों से शोध प्रणयन में सहायता प्रदान की। साथ ही डा० जय दयाल सक्सेना, सेवा निवृत वरिष्ठ प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई की आभारी हूं जिन्होने अपना महत्वपूर्ण समय निकाल कर मेरा मार्गदर्शन किया है।

मैं अपने पूज्यनीय पापाजी श्री गिरीश नारायन शुक्ला एवं मम्मी जी श्रीमती अखिलेश शुक्ला की कोटि–कोटि वन्दना करती हूं जिनके स्नेह.....................आशीर्वाद एवं सतत प्रेरणा से यह प्रयास पूर्ण हो सका है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इन्ही के स्नेहाशीष का प्रतिफल है। शोध प्रबन्ध को मूर्तरुप देने में मैं अपने पति डा० कौशल किशोर बाजपेई की विशेष आभारी हूं, इनके अमूल्य सुझावों, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सफल परिणति सम्भव हो सकी। मैं अपने अनुज मनीष शुक्ला एवं मधुर शुक्ला की ऋणी हूं जिन्होने शोध प्रबन्ध की पूर्णता में सक्रिय सहयोग प्रदान किया। जीवन में यह दोनो सतत उत्कर्ष करें, मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ।

मैं अपनी प्रिय सहयोगी मित्र डा० सुनीता सिंह का ह्रदय से धन्यवाद करती हूं जिन्होने शोध प्रबन्ध में अपने तार्किक सुझाव, रचनात्मक सहयोग एवं महत्वपूर्ण जानकारी से सार्थक योगदान दिया। मैं इनके उज्जवल भविष्य की आकांक्षी हूं। इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में अम्बेडकर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय अध्यक्ष एवं समस्त कर्मचारियों की विशेष ऋणि हूं जिन्होने शोध प्रबन्ध हेतु आवश्यक सामग्री प्रदान करने में सहयोग दिया। इसी क्रम में जिला पुस्तकालय उरई के कर्मचारियों का भी धन्यवाद करती हूं जिन्होने महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान कर सहयोग दिया।

अन्त में अनस कम्प्यूटर्स उरई की आभारी हूं जिन्होने अथक परिश्रम एवं निष्ठाा से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कम्प्यूटरीक्रत किया है।

1-5-2002
दिनांक

Nishima shukla
निशिमा शुक्ला

विषय सूची

विस्तार विषय सूची

पेज नं०

प्रथम अध्याय

भूमिका

भूमिका

अपने तीन हजार वर्षो के जटिल अतीत में इस भूभाग पर अपने पूर्व–निश्चित सीमाओं में फसे मनुष्यों के कई वर्ग और समुदाय उभरे। दलित उनमें से एक प्रमुख समुदाय रहा है, जो इस देश में एक विचित्र दासता से जकड़ा रहा है। सभ्यता के निर्माताओं ने अपनी सुविधाओं के अनुसार दलित जनता को उसके भौतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा है। पिछले दो हजार वर्षो में दलितों ने इस तरह की सांस्कृतिक दासता और दमन को भी सहा है, तथा इस दासता को उखाड़ फेकनें का अनवरत प्रयास भी कर रहा है।

अछूत और आदिवासी वर्ग एक हजार वर्षो तक (लगभग 1500 ई० पू० से लगभग 500 ई० पू०) वैदिक सभ्यता के मूलाधारों का साझा विरोध करते रहे है। और इस प्रतिरोध के इस समस्त कालखण्ड् में वे पूरी तरह सामाजिक व्यवस्था के हाशिये पर रहे है।

दलित राजनीति का उभार आज अचानक या अकारण नहीं हुआ है और न ही यह कोई चमत्कारिक घटना है। इसके पीछे ठोस कारण है और इन कारणों के गर्भ में एक लम्बा इतिहास छुपा हुआ है। जाति प्रथा की उत्पत्ति, विकारा और अस्तित्व, सामन्ती व्यवस्था की उत्पत्ति व विकास पर निर्भर है।[1] जाति प्रथा जहाँ शोषक वर्ग को उत्पादक श्रम से अलग करती है, वही दूसरी ओर दलितों को शिक्षा के अधिकार से वंचित करती है।[2] इससे स्पष्ट है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति किसी इच्छा धारणा या दार्शनिक विचार अथवा ऋग्वेद के विराट पुरूष के मानव शरीर से नहीं बल्कि इसके ठीक विपरीत जाति प्रथा की उत्पत्ति उत्पादन की निश्चित अवस्था से होती है।

भारत वर्ष में वर्ण एवं जाति जैसी जटिल एवं विचित्र व्यवस्था पर विद्वानों में विवाद पाया

---

1. रविशंकर निशान्त–देशवासियों से दो बातें, सुलभ प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ संख्या–२
2. पूर्वोक्ति, पृष्ठ संख्या – ३

जाता है। जाति सदैव परिवर्तनशील संस्था रही है। अतः इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मैकाइवर का कहना है कि ''उत्पत्तियाँ सदैव अगम्य होती है।'' जाति व्यवस्था के उद्भव के पक्ष को सुलझाने के लिये बहुत विद्वानों ने अपने–अपने सिद्धान्तों को जन्म दिया। किसी ने जाति को कर्मकाण्डों का प्रतिफल माना है तो किसी ने इसे ब्राहमणों द्वारा बुना स्वार्थ जाल बताया तो कोई इसके लिये आर्यो को दोषी ठहराता है। ऋग्वेद में भी तीन ही वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। उपनिषद काल में धीरे–धीरे चौथे वर्ण का तथा बाद के कालों में अछूत वर्ग का उदय हुआ।

चार वर्णो की व्यवस्था को एक प्रभावहीन सिद्धान्त ठहराया जाता यदि इसे केवल समाज के वर्ण विभाजन से अधिक महत्व प्राप्त न होता। दुखद स्थिति यह है कि इस व्यवस्था में क्र वार असमानता और ऊँचनीच की भावना उनके सामाजिक जीवन का मुख्य अंग बनी हुई है। यह क्रमवार असमानता की भावना कल्पित न होकर वैधानिक और दण्डनीय भी है। चार वर्णो के नियमानुसार दलितों को निषेध और तिरस्कार के द्वारा क्रमवार विभाजन में निम्नतम श्रेणी में पहुँचा दिया गया और वैधानिक नियम बनाकर उन्हें इस प्रकार गर्त में ढ़केला गया है कि वह कभी ऊपर उठने का प्रयास न कर सके। वर्ण व्यवस्था के विरोध में तथा अछूतों की हालत देखते हुये श्री नूर मुहम्मद जो बम्बई कौन्सिल के सदस्य थे उन्होने 1926 में कहा था कि "If the Hindu Society refuses to allow other human being fellow creatures so that to attend Public Schools, and if Beaurocracy the president of Local board reapresenting so many lacks of people in this houses refuses to allow his fellow's and brothers the elementry human right of having water to drink . What right have to ask for more rights from the bureaucracy ? Before we accuse people coming from other lands we should see how we ourselves behave towards our own people .... How can we ask for greater political rights than we ourselves deny, elementry rights of human being[3]"

सामाजिक संस्थायें केवल कानून से नही चलती और भी बातो के बल पर चलती है।

3. भगत सिंह 'अछूत समस्या' दलित जन आभार से उदघृत, बी० एम० एन० प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ ११४

इनमें सामाजिक और आर्थिक बल प्रधान है। वर्ण व्यवस्था धार्मिक बल पर ही कायम है, यही कारण है कि हिन्दुओं का सामाजिक बल भी वर्ण व्यवस्था का साथ देता है। इन्हीं कारणों से वर्ण व्यवस्था फलती – फूलती रहती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि दलितो, अछूतो की हालत अब भी वैसी है जैसी कि पहले थी इसलिए यह नही कहा जा सकता कि इस विषय की खोज अनावश्यक है।

भारतीय इतिहास के दोष दलित समाज के दुखों को बढ़ाते ही गये। सभ्यता द्वारा उत्पन्न भौतिक एवं सांस्कृतिक फलों को दलितों की पहुंच से दूर ही रखा गया। दलित समाज की स्वतन्त्रता सदियों तक मुअत्तल तथा दलित समाज थोपी गयी विचार धारा एवं शासन प्रणाली के तहत जीने के लिये विवश रहा।

फिर भी इतिहास के दोषों का उत्तरदायित्व आधुनिक सभ्यता के निर्माताओं पर नही लादा जा सकता है। औद्योगिक सभ्यता ने अपने साथ नई विचारधाराओं को जन्म दिया, शासन की नयी प्रणालियों का जन्म हुआ, जो पूर्व की तुलना में काफी प्रगतिशील है। हम सभी को इस पर गर्व है। लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त की उत्पत्ति औद्योगिक सभ्यता की एक प्रमुख देन है, और आधुनिक मानव का यह एक सौन्दर्य है। पर अब देखना यह है कि आधुनिक सभ्यता के निर्माताओं ने इतिहास के दोषों को समाप्त करने का प्रयास किया है या नही ? यदि किया है तो किस हद तक? यदि यह पाया कि आधुनिक सभ्यता के निर्माताओं ने इतिहास के दोषों को दूर करने का अपेक्षित प्रयास नही किया है, तो वैदिक जनों की तरह ये भी उतने ही दोषी होगें। हमें यह भी देखना होगा कि इस दिशा में प्रयास हुये भी है या नही। इतिहास के दोषों के रूप में दलितों पर प्रमुख बन्धन क्या थे।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रयास डा० अम्बेडकर ने किया । डा० अम्बेडकर ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा भारतीय समाज के परिवर्तन में लगा दिया। वे मौजूदा सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना चाहते थे। सदियों से शोषित तथा दलित जनसाधारण

अपने साथ न सिर्फ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आधार पर समानता का व्यवहार चाहता है बल्कि वह तब तक विशेषाधिकार की माँग करता है जब तक कि राष्ट्रव्यापी समानता का लक्ष्य प्राप्त न हो जाये। दलित अब हर क्षेत्र के प्रति जागरूक हो गया है। भारतीय समाज में दलितों की सुरक्षा एवं उनका कल्याण न सिर्फ अपने जीवन तथा आजीविका से बल्कि उनके सम्मान जनक अस्तित्व से भी जुड़ा हुआ है। आज का दलित केवल राजनीतिक या आर्थिक, सहायता मात्र से संतुष्ट नहीं है बल्कि वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र चाहे वो सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो या फिर खेलकूद का विषय हो, हर जगह अपनी भागीदारी चाहता है। उनका जो भी सुधार हुआ है वो सबसे ज्यादा राजनीतिक क्षेत्र में है। परन्तु दलित आरक्षण मिलने से संतुष्ट नहीं है। वह तो सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सवर्णो के पीछे न लगा रह कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व चाहता है।

ऋग्वैदिक युग के दस्युओं का उत्तर वैदिक युग के अस्पृश्यों एवं जनों में परिवर्तन और अन्ततः आधुनिक काल में वैधानिक तौर पर इन्हे अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति कहा जाना एक कठिन प्रक्रिया का द्योतक है। अनुसूचित जातियां अपनी दासता में एतिहासिक रूप से तीन प्रमुख अधिकारों से वंचित रही है – (1) सम्पत्ति संचय का अधिकार (2) शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार (3) शस्त्र रखने का अधिकार।[5] इस क्रूर एवं विवेकहीन व्यवस्था के निर्माताओं ने यह जान लिया था कि यदि एक बार किसी समुदाय को इन तीन अधिकारों से वंचित कर दिया जाये तो वह न तो समानता का आदर्श प्राप्त कर सकता है और न ही इस समाज के नेतृत्व में उनकी कोई भूमिका हो सकती है। उनकी योजना के अनुरूप दलित समुदाय अधिकार विहीन रहा – मनुष्यता के इतिहास में विकास के एक आश्चर्य जनक दुख–प्रतिमान की तरह। अम्बेडकर ने शुरू से ही दलित शिक्षा पर विशेष बल दिया। अपनी शिक्षा को उच्च्व स्तरीय उपलब्धि से प्रेरित होकर ही उन्होनें इस तथ्य को भाँप लिया था कि दलितो के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनका अशिक्षित होना ही है। यह सच भी है कि शिक्षा ही दलितो के दुख को दूर करने में कारगर सिद्ध होगी।

---

5. चन्द्रभान प्रसाद–विश्वासघात, डी.एस.ए. प्रकाशन नई दिल्ली से उदघृत १९९९ पृष्ठ – ३

दयनीय समाज की रूपरेखा सोचने योग्य है तथा इस वर्ग का शोषण काफी समय से किया जा रहा है। समय–समय पर राजनीतिक और सामाजिक आयाम बने बहुत से अधिकार अस्तित्व में आये लेकिन क्रियाशील न हो सके। अन्य शब्दों में कह सकते हे कि दलित समुदाय के सम्बन्ध में राजनीतिक नेताओं, समाज सुधारकों, धर्म युद्ध में लगे व्यक्तियों, शासन करने वाले लोग तथा सिद्धान्त वादियों ने तमाम प्रकार के सुझाव और व्याख्या दी है अतः दलित राजनीति के सभी पक्षों को देखने से पहले दलित राजनीति के सैद्धान्तिक ढ़ाचे के बारे में जानना आवश्यक है कि दजित राजनीति की अवधारणा क्या है और इसमें कितनी सच्चाई है। तथा यह राजनीति जिस ओर जा रही है वहा वास्तव में इसका कोई अस्तित्व सम्भव है।

दलितों को दलित नाम संविधान द्वारा दिया गया उससे पहले हरिजन तथा उससे भी पहले उन्हें शूद्र नाम से पुकारा जाता था, हरिजन नाम के लिये उनमे काफी असन्तोष व्याप्त था परन्तु दलित नाम दिये जाने पर उन्हें संतुष्टी मिली क्योकि दलित शब्द संघर्ष का प्रतीक है, और वो चाहते भी यही है, दलित संघर्ष के बल पर स्वयं अपना अधिकार पाना चाहते है, अपनी लड़ाई खुद लड़ना चाहते है न कि किसी सवर्ण का अहसान ले कर।

राष्ट्रीय ऐतिहासिक आँकड़े बताते है कि यह प्रक्रिया पारम्परिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक उतार–चढ़ाव देखते हुये आगे बढ़ती चली गयी। इसमें कई प्रकार के धार्मिक शैक्षणिक और राजनीतिक, नौकर शाहियों, व्यवसायियों ने समय–समय पर आँकलन और विभिन्न प्रकार से परिवर्तन भी किया। और वास्तव में देखा जाये तो उच्च वर्ग ने इस वर्ग (कमजोर वर्ग) का परिदीप्त के साथ शोषण किया, जिससे कि दलित आधुनिक भारतीय समाज बना। समय परिवर्तन होता रहा बहुत से कानून बनाये गये दण्ड देने वाले और साध्य। समय–समय पर क्रान्ति हुई लेकिन ये सारी क्रान्तियाँ असफल रही। दलित समाज को उठाने में डा० अम्बेडकर महात्मा गाँधी और पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी तमाम प्रकार की गोष्ठियाँ की। इसके परिणाम ये निकले कि दलित भारतीय समाज राष्ट्रीय राजनीति की मुख्यधारा में आकर जुड़ गया जिससे प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को समझा और अपने समाज को स्थायित्व प्रदान किया।

हाल ही के विकास के दौरान दलित समाज में सामाजिक, आर्थिक भिन्नतायें आयी। कुछ कमजोर और निष्क्रिय वर्ग ऊँचा उठा तथा राज्य में कई प्रकार के दलित समाज में संरक्षक बने और उन्होनें एक शक्ति की संरचना करके एक अस्तित्व तैयार किया। दिन प्रतिदिन दलित समाज ने स्वपयनीकरण को समझा और इससे एक संरचनात्मक विचारधारा तैयार हुई तथा सामाजिक राजनीतिक अशान्ति में कमी आयी। दलित समाज आज भी तमाम प्रकार के झंझटो तथा उलझनों एवं अशान्ति से पीड़ित है और इसे हम दलितवाद कह सकते है। इस वाद के द्वारा दलित समाज अपना उत्थान करने का प्रयास करता है और दलित समाज में एक सामाजिक क्रान्ति की लहर दौड़ा सकता है। इस दलितवाद को चलाने में सबसे बड़ा योगदान डा० अम्बेडकर का रहा है। पर अब जब अम्बेडकर ऐसे कोई व्यक्ति नही रहे तो दलितो को स्वयं अपनी चाहारदीवारी से बाहर देखने, उससे बड़ा बनने तथा उसे अतिक्रमित करने का प्रयास करना चाहिये। अतिवादी जड़ता संवेदना को पथराती है और इस प्रकार स्वस्थ चिन्तन एवं सृजन में बाधक बनती है। विवेक की वास्तविक जगह 'मध्यमा प्रतिपदा' ही है। यही से विवेकशील संवाद बनाये जा सकते है जिसके बिना दलित वाद सांस्कृतिक – सामाजिक नेतृत्व नहीं पा सकेगा और न ही राजनीति में उनकी नेतृत्व कारी भूमिका बन सकेगी जिसका वह आकांक्षी है और एक सीमा तक हकदार भी। [6]

वैसे यह सच है कि दलित जागरण अब काफी पुख्ता स्थिति में है। साधारण जातियों को आकर्षित करने की शक्ति उसमें आ गयी है जबकि ये शुरू से ही कमजोर भयभीत वर्ग रहा है। यह इस वर्ग की अलग से पहचान है। परन्तु सामाजिक परिवर्तन के दौरान दलित समाज के ढ़ाचे में जो विकृतियां थी वो भी धीरे–धीरे समझने योग्य बनी। और बहुत से विचारकों ने अपने विचारों को देकर प्रचलित परिस्थितियों को कायम किया। शुरू से ये परिस्थितियां अकाल्पनिक, अकथनीय तथा जटिल थी परन्तु धीरे–धीरे दलित वर्ग ने भारतीय संविधान के महत्व को जाना, राजनीति के मौलिक सिद्धान्त को समझा, तथा अपने आप में विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता अर्जित की और फिर एक अलग समाज जिसे आधुनिक दलित कह सकते है उसका निर्माण हुआ वैसे इसकी शुरूआत बरसं पहले जरूर हो गई पर परिणाम आज 90 के दशक में सामने आया। जब पहली बार भारत का राष्ट्रपति

---

6. समकालीन सोच समझ – सम्पादकीय पी.एन. सिंह, सितम्बर–दिसम्बर २०००

एक दलित व्यक्ति बनता है। पहली बार लोकसभा अध्यक्ष एक आदिवासी को तथा दूसरी बार एक दलित को बनाया जाता है। और उ०प्र० ऐसे बड़े राज्य पर एक दलित महिला मुख्यमंत्री के पद पर आसीन हुयी वर्तमान में छत्तीसगढ़ एवं कर्नाटक में भी दलित मुख्यमंत्री हैं।

दलित समाज को आगे बढ़ाने में कुछ दलित नेताओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होनें दलितों को बताया कि अपने आप को स्वयं पहचानो जिससे कि अन्धकार की पट्टी दूर हो सके। दलितों के सम्बन्ध में बहुत सारी पौराणिक कथाये इतिहास तथा पुराना साहित्य भी लिखा गया। हर जगह इस समाज का शोषण रिक्त किया गया।

इस वर्ग का राजनीतिक सांस्कृतिक क्षेत्र में काफी बड़ा योगदान रहा है। इस वर्ग को ऊँचा उठाने में भी कही–कही प्रजातान्त्रिक ढ़ांचे ने सहयोग किया है। पुश्पमित्र शंशक तथा रामानन्द और गान्धी ने भी दलित वर्ग का एक अस्तित्व तैयार किया हैं। आज कोई भी विचारशील व्यक्ति इस तर्क को मानने के लिये तैयार नही है कि जन्भ आधारित वर्ण व्यवस्था का कोई मूल्य है, जाति प्रथा की जड़े पूरी तरह हिल चुकी है परन्तु फिर भी यदि वर्तमान स्थिति की समीक्षा करे तो हमें समझ आयेगा कि अभी भी जाति प्रथा बाहरी रूप से समाप्त हो रही है उसके आन्तरिक रूप में अब भी वही स्थायित्व है। और उस स्थायित्व के पीछे सिर्फ सवर्ण जिम्मेदार नही बल्कि राजनीतिक भी जिम्मेदार है।

इतिहासकारों का मानना है कि भारतीय इतिहास सिर्फ विषमताओं और अन्याय का इतिहास रहा है। ब्राहमणी व्यवस्था ने दलितों का अमानवीयकरण किया है, जाति प्रथा ने जनचेतना को नष्ट कर दिया है उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी खत्म कर दिया है जाति प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असम्भव हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व सिर्फ अपनी जाति तक ही सीमित रखता है। जाति व्यवस्था के चारों तरफ बनाई गयी दीवार अभेध है और जिस सामग्री से इनका निर्माण किया गया है उनमें तर्क और नैतिकता जैसी कोई ज्वलनशील वस्तु नही है बल्कि इसके पीछे ब्राहमणवादी व्यवस्था खड़ी हुई है।

यही वजह है कि दलितो द्वारा सामाजिक समानता तथा सम्मानजनक पहचान प्राप्त करने के दावे को अब और विस्तार की आवश्यकता है। वस्तुतः आज सामाजिक तथा राजनीतिक रूप से जागरूक दलित सामाजिक समानता तथा पहचान के विषय पर विशेष संवेदनशील हो गये है। परन्तु यह भी सत्य है कि सूक्ष्म स्तर पर वे सामाजिक समानता की जिस प्रासंगिक विचारधारा की बात करते है उसका सम्बन्ध उच्च वर्ण से सम्बन्धित होता है। सामान्यतः वे उन दलितों की ओर ध्यान नही देते जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़े है। इस तरह से वे देश में व्याप्त सामान्य प्रवृत्ति का ही अनुसरण कर रहे है जो समाज विज्ञान के अनुसार सामाजिक गतिशीलता की व्यापक अवधारणा या सिद्धान्त है। उससे भी ज्यादा यह चेतना उनकी सामाजिक समानता की सोच पर ज्यादा व्यवहारिक रूप से काम करती है।

जाति प्रथा से लड़ने के लिये चारो तरफ से प्रहार करना होगा क्योकि वह ईट की दीवार जैसी कोई भौतिक वस्तु न होकर एक विचार है, एक मन स्थिति है, इस मन स्थिति की नींव शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री पुरूष को पहले शास्त्रों के बन्धनों से मुक्त किया जाये, लोगो के दिमाग को साफ किया जाये तभी वे जात–पात का भेदभाव बन्द करेगे। डा० अम्बेडकर तथा लोहिया का विचार था कि अंतभोज तथा अंतर्जातीय विवाह इसका एकमात्र उपाय है। रक्त के मिश्रण से ही अपनेपन की भावना पैदा होती है और जब तक भाईचारे की, बन्धुत्व की भावना नही होगी तब तक जाति प्रथा द्वारा पैदा की गयी अलगाव की भावना समाप्त नही होगी।

वस्तुतः दलितो की आकांक्षाओं के बारे में सूक्ष्म तथा व्यापक दोनो स्तरों पर बहुत ही सुव्यवस्थित ढ़ंग से सोचना पड़ेगा। दलितों पर लगे पुराने धब्बे को भूलना होगा तथा समाज को एक नया आयाम देना होगा एवं व्यवहारिक अर्थो में समतावादी आधुनिक तथा प्रजातांन्त्रिक समाज की स्थापना करनी होगी यह तभी सम्भव है जब वे लगातार लेकिन सन्तुलित आलोचना के साथ अम्बेड़कर के संघर्ष से प्रेरणा ले। हालांकि दलितों की सामाजिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। आज कोई यह कहने की हिम्मत नही कर सकता कि वह दलितो के साथ बैठकर खाना नहीं खायेगा या उनके छू जाने से उसका धर्म भ्रष्ट हो गया। पर एक सच्चाई यह भी है कि दलितों को अभी

भी बराबरी का दर्जा प्राप्त नही है। कानूनी और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के बावजूद सदियों से सवर्ण और दलित की जो धारणा लोगों के मन में बैठी है वह मिटी नही है। इसके लिये लगातार प्रयास करने की जरूरत है ताकि यह धारणा मिटे। दलितों की सामाजिक स्थिति के पीछे एक बड़ा कारण उसकी आर्थिक स्थिति है।[7] हकीकत तो यह है कि दलितों की तरक्की के बिना भारतीय समाज की तरक्की नही हो सकती है इस तरक्की के लिये सिर्फ सरकार के प्रयास काफी नही है जरूरत यह है कि दलितों के बीच आगे बढ़ने की जागरूकता पैदा की जाये और समाज के सभी वर्ग दलितों को आगे बढ़ने में मदद करें। दलितों को आखिर कब तक दलित समझा जायेगा। समाज को आज भी अगड़े, पिछडे, दलित आदि वर्गो में बांट रखने का काम सबसे ज्यादा राजनीतिक दलो ने किया है। उचित यही होगा कि पुरानी कटुता को भुलाया जाये। आर्थिक एवं तकनीकि प्रगति के इस युग मे सोच में भी प्रगति होनी चाहिये। दलितों की तरक्की उन्हे दलित बनाये रखकर नही होगी बल्कि उन्हे सभी अन्य वर्गो की बराबरी में बिठाने से होगी। सदियों पूर्व उनके साथ जो अन्याय हुआ उसे सिर्फ दोहराते रहने से सामाजिक प्रगति सम्भव नही है। आज लोकतान्त्रिक एवं प्रगतिशील भारत में नई सोच और नये प्रयास के साथ कृत संकल्प हो कर आगे बढ़ना होगा तभी दलितों की वास्तिविक तरक्की सम्भव होगी।

विगत वर्षो में दलित राजनीति एवं दलित राजनीतिक चेतना का आन्दोलन अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफल होता जा रहा है और निःसन्देह ये प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में एक सकारात्मक कदम है। दलित राजनीतिक चेतना के आन्दोलन के कर्णधार एक तरफ तो सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की माँग कर रहे है तो दूसरी तरफ राजनीतिक व्यवस्था में दलितों के प्रतिनिधित्व के लिये भी दलितों को संगठित कर रहे है।

दलितों में आयी राजनैतिक चेतना में स्वयं को पहचानने तथा स्वाभिमान की भावना दोनों का समावेश है। इस चेतना में सवर्ण से संरक्षण प्राप्त करने या उनकी दया पर जीवित रहने का भाव नही है अपितु संघर्ष के द्वारा अपने अधिकार प्राप्त करने का बोध निहित है। दलित राजनीति

7. हिन्दुस्तान 3 नवम्बर 2000 नई दिल्ली

का आधार जाति विभेद का फल है, जो जातीय विद्वेष के रूप में फलित हो रही है। इस चेतना में तर्कनावाद और उपयोगिता वाद के दर्शन होते है। जिसमें मूल्य का एक व्यवहारिक उद्देश्य इस अर्थ में है कि यह सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख है अब वह एक स्वतंत्र नागरिक की हैसियत से जीवन जीना चाहता है।

दलितों ने अपने शोषण एवं उत्पीड़न को रेखांकित करने के लिये शबूक एवं एकलव्य को उभारा है[8], और साथ ही हिन्दू समाज व्यवस्था की सम्यक आलोचना की एवं एक आदर्श समाज व्यवस्था का निर्माण करने के लिये गौतम बुद्ध और डा० अम्बेडकर को सामने रखा है। इस दलित जागरण की वास्तविक ताकत एक समग्र एवं सकारात्मक सामाजिक, सांस्कृतिक सक्रियता, उनमे व्याप्त उत्साह एवं आत्म विश्वास को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि अब उनके इस बहुआयामी हस्तक्षेप को दरकिनार नही किया जा सकता।

वैसे तो दलितों के बीच संघर्ष सालो पूर्व पनप चुका था और आज निःसन्देह उन्हे एक नई दिशा मिली है, ये जरूरी भी था क्योकि लोकतंत्र में अन्ततः हर वर्ग को उभरने का मौका मिलता है इस दृष्टि से दलित उभार का स्वागत जोर शोर से किया जाना चाहिये। आजाद भारत मे दलित उत्थान पिछड़े लोगो की प्रगति, सिद्धान्त और नैतिकता की बात बहुत जोर दारी से की जा रही है। दलित राजनीति की आज अपनी एक अलग सोच विकसित होती जा रही है। ऐसा नही है कि मण्डल कमीशन पास होने के बाद उनका आन्दोलन खत्म हो गया और न ही आरक्षण मिलने के बाद दलित संतुष्ट होकर बैठ गये है आज भी दलितों की लड़ाई जारी है उन्हें समाज के हर क्षेत्र में अपनी भागीदारी चाहिये चाहे वे सांस्कृतिक क्षेत्र हो, शिक्षा का क्षेत्र हो या फिर खेलजगत में उनकी हिस्सेदारी हो। सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में उनकी भूमिका से वो खुश नही है।

अम्बेडकर और गान्धी जी दोनो हमेशा से यही चाहते थे कि दलित वर्ग की आधारभूत आवश्यकतायें तथा मौलिक सिद्धान्त उन्हें दिये जाते जिससे उनके भौतिक जीवन में रौशनी हो सके।

8. रवि शंकर निशांत – 'देशवाशी से दो बातें' सुलभ प्रकाशन लखनऊ 1988 पृष्ठ न० 95.

अम्बेडकर ने राजनीति गति के द्वारा दलित समाज को एक नये समाज में परवर्तित किया। और ये विश्वास किया जाता है कि भविष्य में भारत में दलित वर्ग की एक बहुत ही महत्वपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा बनेगी।

आमतौर पर अब दलित शब्द राष्ट्रीय राजनीति की मुख्यधारा को परिलक्षित करता है। आज दलित अपनी एक हैसियत समाज में चाहता है तथा अपने बारे में स्वयं सोचना तथा स्वयं निर्णय लेना उसने शुरू कर दिया है।

परन्तु फिर भी दलित प्रश्न भारतीय राजनीति में यक्ष प्रश्न के रूप में उभर रहा है। मण्डलवाद के साथ मिलकर उसने जिस राजनीतिक ऊर्जा का विभाजन किया है। वह यदि देश में एक नई राजनीतिक चेतना प्रदान कर सकती है तो दूसरी तरफ भारतीय समाज के लिये आत्म विध्वंस की भूमिका तैयार कर सकती है।(9)

9. हरिजन से दलित -- सम्पादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 1994

द्वितीय अध्याय

दलित राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष

(A) दलित अवधारणा मिथ्या और यथार्थ

(B) हरिजन से दलित तक

(C) शास्त्र और संविधान में दलित

दलित राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष

दलित राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत हमने तीन बातो को ध्यान में रखा है पहली ये कि दलित अवधारणा 'मिथ और यथार्थ' अर्थात दलित अवधारणा कितनी मिथक है और इसमें कितनी सच्चाई है। क्या दलित चेतना की बात करने वाले लोग समझौतावादी होते जा रहे है अथवा अपनी एक अलग सोच विकसित करके अपने स्वतंत्र अस्तित्व का निर्माण कर रहे है।

इसके अन्तर्गत दूसरी बात आती है 'हरिजन से दलित' इसमें हमने इस बात को समझाया है कि शूद्र को हरिजन से दलित तक पहुँचाने के लिये कितना संघर्ष करना पड़ा। हरिजन गान्धी जी द्वारा दिया गया शब्द था जिसे अम्बेडकर तथा उनके अनुयायियों ने कभी पसन्द नहीं किया। फिर किस तरह अम्बेडकर ने कोशिश कर संविधान लागू होने पर इन्हे दलित नाम दिलवाया। इस संघर्ष का विस्तृत ब्यौरा हम 'हरिजन से दलित' में देंगे।

दलित राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष की तीसरी और अन्तिम बात यह मानी है कि 'शास्त्रों और संविधान में दलित स्थिति' शास्त्रों में कही भी दलितों की अच्छी स्थिति का वर्णन नही मिलता है, हर शास्त्र में उनकी दयनीय हालत ही नजर आती है।

वेद, मनुस्मृति रामायण, गीता आदि प्रत्येक ग्रन्थ में इन पर हुये 'अत्याचारों का वर्णन मिलता है। गुलाम से ज़्यादा बदतर स्थिति उस समय दलितो की थी। तुलसीदास ऐसे विद्वान व्यक्ति ने रामायण में लिखा है कि –

"ढोल गवाँर शूद्र पशु नारी
सकल ताड़ना के अधिकारी"। [1]

---

1. तुलसीदास कृत – 'रामचरित मानस'

उस समय शास्त्रों में शूद्र और नारी की लगभग समान स्थिति थी। आगे चलकर गान्धी जी अम्बेडकर एवं कई लोगो के प्रयास के फलस्वरूप देश स्वतंत्र होने तक दलितो की हालत में सुधार आया। संविधान लागू होने पर तो दलितों की स्थिति पूरी तरह बदल गयी जिसकी विस्तृत जानकारी हम आगे दे रहे है।

(A) दलित अवधारणा मिथ्या और यथार्थ

दलित दर्शन इस देश में हमेशा गतिशून्य व बेवसी का शिकार रहा है। पराजय निराशा अज्ञानता व संकीर्णता में डूबी हमारी समाज व्यवस्था दुनिया की अप्राकृतिक और अमानुषिक मान्यताओं पर आधारित रही है। इस राष्ट्रीय जड़ता के गढ़ में हमारी हजारों साल पुरानी जातिवादी परम्परा है जिसने सामाजिक बोध को सीमित स्वार्थपूर्ण दृष्टि प्रदान की।

दलित एक सटीक शब्द है यह संघर्ष की प्रेरणा भी देता है। दलित शब्द की आरम्भ से लेकर अन्त तक इसकी व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे है। उन्होने इनके अर्थ इस प्रकार दियें है। भारत में आठ दशक पूर्व दलित शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ संस्कृत शब्द कोशों के अनुसार[2] –

दल – (अक.) विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना

दल – (सक.) चर्ष करना, टुकड़े करना, विदारना,

दल – (नृप.) सैन्य, लश्कर,पत्र, पत्री, स्पिलिट

दल – (दलित) ह्रदय गाठों द्वेश, द्विधा तू न विधते

दल – (वेदनाओं के कारण ह्रदय के टुकड़े टुकड़े होते)

---

2. पूनम देवी 'दलित अवधारणा चिन्तन और भारतीय सामाजिक सन्दर्भ' दलित जन उभार से उदधृत पृष्ठ न० 253

हिन्दी शब्द कोशों के अनुसार[3]

1. दलित —स्त्री, दलिता

2. मसला हुआ, मर्दित

3. दबाया हुआ, रौंदा हुआ, या कुचला हुआ

4. खण्डित, टूटा, चीरा हुआ, फाड़ा, फटा हुआ

5. विनष्ट किया हुआ ।

डा० भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का अर्थ इस प्रकार से दिया है।[4]

1. दलित — कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौंदा हुआ

2. " " — पस्त हिम्मत, हतोत्साह

3. " " — अछूत, जनजाति, डिस्प्रेस्ट क्लास

डा० हरदेन बाहरी ने इस की व्याख्या निम्न लिखित की है[5]

दलित — कुचला हुआ, दबाया हुआ (जैसे दलित वर्ग), नष्ट किया हुआ (जैसे दलित जाति)

संक्षेप में दलित शब्द दल जाति से उत्पन्न हुआ है 'डत' अथवा क्त प्रत्यय लगाने से विश्लेषण बनता है। जिसका अर्थ दबाया हुआ, कुचला हुआ, रौंदा हुआ है।

क्रमशः समय के प्रभाव में यह दबे कुचले समुदाय वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगा है। आज यह समस्त अस्पृश्य जातियों, आदिवासी, भूमिहीन खेत मजदूर, श्रमिक जनता, बहिष्कृत जातियों के लिए प्रयुक्त होता है। जाति और वर्ग अर्थात सामाजिक दलित तथा आर्थिक दलित को व्यक्त करने वाला शब्द है।

अतः दलित की परिभाषा करते समय बिखरे सूत्रों तथा विचारों को एकत्रित कर कहा जा सकता है कि दलित का अर्थ भारतीय हिन्दू समाज में उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, निर्धन, अनुसूचित

---

3. पूर्वोक्त

4. पूर्वोक्त

5. पूर्वोक्त पृष्ठ न० 254

जाति, जनजाति, गरीब किसान मजदूर नारी समाज से है। वे लोग जो आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक तौर पर दबाये गये रहे हैं।

दलित समाज शुरू से ही वर्ण व्यवस्थाा का शिकार रहा है। इस वर्ण व्यवस्था की बुनियाद वेदों में मिलती है। वर्तमान में दलित अवधारणा के तीन वर्ग है।(6)

प्रथम वर्ग में -

सुदूर गांव में रहने वाले दलित आते है। जिनकी संरचनात्मक नियोजकता बहुत ही दयनीय है एवं जिनका भौतिक आधार पूरी तरह से उच्च वर्ग के अनुदान पर आधारित है। और जिनका वीभत्स तरीके से सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण होता रहा है।

द्वितीय वर्ग में -

दलित जनसंख्या का वह भाग आता है जो अपने अधिकारो तथा विशेषाधिकारों के बारे में सचेत है। परन्तु वे इनकी प्राप्ति के लिये सूक्ष्म तथा व्यापक दोनो स्तरों पर अनेक रूचियों तथा शक्तियों के साथ समझौते कर लेते है। इसमें दलितों के नेता मूल रूप से शामिल है। इस वर्ग के दलित शिक्षित एवं सुनियोजित है।

तृतीय वर्ग में -

वे दलित आते है जिन्हें डा० अम्बेडकर के दर्शन में विश्वास है तथा इसी आधार पर प्रयास करते है कि सामाजिक न्याय, समानता, आत्मसम्मान तथा स्वाभिमान की प्राप्ति हेतु रास्ते खोजे जाये।

यहा यह उल्लेख करना भी जरूरी है कि दलित किस प्रकार की सामाजिक समानता की बात करते है। सामाजिक समानता की विचारधारा की दो स्तरो पर व्याख्या की जा सकती है एक तो स्पष्ट रूप से भौतिक तथा भौतिक आवश्यकताओं तथा विचारधाराओं पर आधारित है।

---

6. नंदूराम (लेख) डा० अम्बेडकर के सपनों का भारत' उदघृत प्रतिपक्ष अप्रैल 1991पृष्ठ न० 18

दलितों के लिये समानता का अर्थ जाति व्यवस्था के ही अन्दर उच्च वर्ण या वर्ग के लोगों के बराबर प्रतिष्ठा प्राप्त करना है। दूसरे स्तर की सामाजिक समानता के सन्दर्भ में लोगों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से अमूर्त प्रतीत होता है। जो इतना आदर्शमय है कि उसकी व्याख्या हो ही नही सकती।

आज यह विषय सबसे अधिक सचेतन एवं ललचाने वाला विषय है। जाग्रति और समानता के लिये संघर्ष को दलित प्रकृति के साथ जीतने का व्यस्ततम् प्रयास कर रहे है। इतिहास में पहली बार हो रहा है कि भारतीय दलित सामाजिक अडियल और राजनीतिक उपद्रवी है। लेकिन यह आसमान की ओर एक उछाल मात्र नहीं है, यह वास्तव में स्वतन्त्रता की लड़ाई के दिनो से कार्य कर रहे लोगो का एकत्रित प्रयास है।

महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन इस राज्य की सीमाओं से बाहर नहीं फैल सका। और वहा पर भी यह एक सीमित समूह तक ही फैला। परन्तु कांशीराम अपने राजनीतिक नौसिखियेंपन के बावजूद दलित वोट बैंक को उ० प्र० व उत्तर भारत में मजबूत करने में सफल रहे, व दलित उद्धार को उन्होने एक गम्भीर मुद्दा बनाया। इसके साथ–साथ सामाजिक व सांस्कृतिक जाग्रति भी हुई।

परन्तु देखना यह है कि दलित अवधारणा कितनी सच है और कितनी मिथ। क्या दलित चेतना में लगे लोग सचमुच दलितो के हित के बारे में सोच रहे है ? क्या वाकई प्रत्येक दलित का हित हो रहा है, शायद नही। आज से 20 साल पहले जो व्यक्ति जूता बनाता था आज भी वह वही कर रहा है, जो शौचालय साफ करते थे उसके परिवार के व्यक्ति आज भी शौचालय या सड़कों की सफाई कर रहे हैं। इस पर कोई भी ध्यान क्यो नही दे रहा, जब आरक्षण व्यवस्था संविधान में पूरे दलित वर्ग के लिये की गयी है तो इन्हें उस आरक्षण का लाभ क्यों नहीं मिल पा रहा है। इन बेचारो की जो वास्तव में दलित है, की स्थिति में सुधार आज तक नही हो पा रहा है क्यो ? फिर ऐसे आरक्षण या ऐसी दलित चेतना का क्या फायदा जो पूरे दलित समाज का भला न कर के केवल

विशेष दलितो के हित को पूरा करने में लगा हुआ है, जो कि वास्तव में अब दलित रहे ही नही। क्योंकि दलित वही है जिसका समाज में शोषण हो रहा हो जो दबा कुचला वर्ग है फिर वो चाहे किसी भी जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय का हो।

अतः आवश्यक है कि दलित राजनीति के सैद्धान्तिक स्वरूप को समझने का प्रयास किया जाना चाहिये। तभी इसका कोई अस्तित्व रह जायेगा। वरना स्थिति वही की वही रहेगी और दलित अवधारणा या दलित चेतना का कोई अर्थ नही रह जायेगा।

(B) हरिजन से दलित तक

कल का हरिजन आज अपने को दलित कहता है। दूसरे भी अब उसे दलित ही कहने लगे है। यह एक दृष्टि से अच्छी बात है, और दूसरी दृष्टि से चिन्ताजनक। अच्छी बात इसलिये कि भारत के अछूत वर्ग को एक पृथक और पीड़ित सामाजिक राजनीतिक वर्ग के रूप में मान्यता है जो तथ्य सम्मत है। डा० अम्बेडकर ने इसके लिये अथक प्रयास किया किन्तु उसे सीमित सफलता ही मिल सकी।

गान्धी जी ने 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। परन्तु हरिजन के लिये प्रेम की भावना कुछ लोगो तक ही सीमित रह गयी यह व्यापक नही हो पायी। तभी शूद्रों ने अपने को हरिजन कहलाने में नाराजगी दिखाई और अपने को दलित कहलाना ज्यादा पसन्द किया। वो मानते है कि दलित एक सटीक शब्द है, क्योंकि यह न केवल उनकी पूरी स्थिति का निचोड़ है बल्कि संघर्ष की प्रेरणा भी देता है।

गांधी कहते थे कि हरिजन का अर्थ है 'हरि का जन' संसार के सभी धर्म ईश्वर को अनाथ का सखा, असहाय तथा निर्बल का रक्षक बताते है। वो वर्ण व्यवस्था के समर्थक जरूर थे

पर अस्पृश्यता को एक बड़ी बुराई मानते थे। उनका कहना था कि–

"अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म में यह सब कुछ नही है जब तक प्रत्येक हिन्दू अपने चमार, भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिन्दू न समझेगें तब तक मैं उन्हे हिन्दू नहीं समझूगां मनुष्य तिरिष्कार और दया दो चीजों के बीच नही रह सकता।"[7]

गांधी का कहना था कि हरिजनों(दलितों) को वास्तिविक भूख है स्वाभिमान तथा समानता पूर्वक आदमी की तरह रहने की भूख मनुष्य होने के नाते न्यायोचित व्यवहार की भूख। उनको जरूरत है भय से मुक्ति सफाई, मितव्यय, परिश्रम तथा शिक्षा की। इसके लिये हमें लगन आत्म त्याग तथा धीरज के साथ बुद्धिमत्ता से काम करने की जरूरत है। यदि कोई मुझे दलितों को खाना खिलाने के लिय रूपया देते है तो मै उसे अस्वीकार कर दूंगा। क्योकिं मैं उन्हे भिखारी तथ आलसी नही बनना चाहता।[8] हरिजन एक सुन्दर शब्द है, इस पर गान्धी जी के व्यक्तित्व की मिठास की छाप है, लेकिन आज़ कोई भी गान्धी जैसा नही है। अतः हरिजन शब्द का अर्थ भी तिरोहित हो चुका है। शूद्र आज अपने को दलित कहलाना भी मुनासिब समझते है क्योंकि दलित शब्द से संघर्ष की बू आती है। और दलितों को अब संघर्ष का रास्ता ही पसन्द आ रहा है।

अब दलितों को एक अलग सामाजिक वर्ग के रूप में मान्यता मिल चुकी है शासन के क्षेत्र में इनके अस्तित्व को ब्रिटिश भारत में ही स्वीकार कर लिया गया था अब हर कोई मानता है कि प्रत्येक क्षेत्र में दलित वर्ग की एक अलग पहचान है। और अपनी पहचान इन्होनें स्वयं बनायी है।

अब ये अपने चिन्तन में नगण्य और अस्पृश्य नही रह गये। ये दबने को तैयार नही है।

गान्धी ने हरिजन शब्द का पुनः नामकरण अच्छे इरादों व आत्मा की स्वीकृति से किया

7. प्रेमचन्द्र (लेख) 'हमारा कर्तव्य' उदघृतदलित जन उभार पृष्ठ न० 132

8. गान्धी जी (लेख) 'अस्पृश्यता' उदघृत दलित जन उभार पृष्ठ न० 113

था। पर अम्बेडकर इस शब्द के प्रयोग के अत्यधिक खिलाफ थे। आज का बुद्धिजीवी दलित वर्ग भी इस शब्द के प्रयोग से अत्यधिक खिलाफ है। आज का बुद्धिजीवी दलित वर्ग भी इस शब्द को एक सागाजिक बुराई तथा अपमान मानता है। इसीलिये संविधान लागू होने के बाद से इन्होनें अपने को पूरी तरह हरिजन से दलित शब्द में बदल लिया। अम्बेडकर स्वतन्त्र भारत में अपने लोगो का भविष्य संवारने के लिये, उनके सामाजिक राजनीतिक अधिकार सुरक्षित कर लेना चाहते थे। और अम्बेडकर प्रतीकात्मक के बजाय अस्पृश्यता उन्मूलन के लिये ठोस संस्थागत और स्थायी आधार तैयार करना चाहते थे।[9]

अम्बेडकर जब दलितों को जगाने का प्रयत्न कर रहे थे तभी गाँधी अस्पृश्यता के विरूद्ध सवर्णों की पथरायी हुई अन्तरात्मा को झकझोरने की कोशिश कर रहे थे।[10] यह सच है कि आज देश मे दलितों में रिरियाने के बजाय संघर्ष का स्वर सुनाई देता है तो यह निश्चित रूप से अम्बेडकर की ही देन है।

गान्धी की विचारधारा का हरिजन विनम्र, कमजोर, आज्ञाकारी व राजनीतिक रूप से उदासीन था। जो भारतीय समाज के ताने–बाने में स्थान पाने का इच्छुक था। परन्तु अम्बेडकर का दलित राजनीतिक रूप से महत्वाकांक्षी, सामाजिक रूप से उग्र व सांस्कृतिक रूप में हिन्दू दर्शन व सामाजिक परम्पराओं का आलोचक है। इस बातपर यह तर्क भी दिया जा सकता है कि भारतीय अछूत की यात्रा हरिजन जो विनम्र व अमहत्वाकांक्षी था से दलित तक जो कि उग्र महत्वाकांक्षी व हटी है तक पूरी हो चुकी है। इसमे हरिजन गान्धी का आवरण ओढ़े है जबकि दलित अम्बेडकर का।

प्रेम की परीक्षा कर्म से ही होती है वैसे भी समाज के किसी खास वर्ग के लिये कोई स्थायी नामकरण नही होना चाहिये इस दृष्टि से हरिजन और दलित दोनो ही निरर्थक शब्द है

---

9. गणेश मंत्री (लेख) 'अम्बेडकर और गांधी' हरिजन से दलित, से उदघृत पृष्ठ न० 118
10. पूर्वोक्त पृष्ठ न० 19

हरिजन प्रेम और दलित संघर्ष दोनो की श्रेष्ठ परिणति यही होगी कि ये शब्द हमारे कोश से क्रमशः बाहर होते जाये। अब हरिजन शब्द केवल इसी रूप में चल सकता है। कि हम सभी हरिजन है – सवर्ण या अवर्ण नही। क्योंकि इस संसार में जो भी व्यक्ति जन्म लेगा वो ईश्वर की ही सन्तान कहलायेगा फिर हरिजन अर्थात भगवान के जन केवल शूद्र कैसे हो सकते है। क्योंकि देखा जाये तो सभी ईश्वर के ही जन होते है।

इसी तरह दलित को नीग्रो की तरह नस्लीय शब्द नही बनाना चाहिये। जाति प्रथा बनाने वालो ने सोचा होगा कि वे कुछ शाश्वत कोटियों की रचना कर रहे है। उन्हे सम्पूर्ण रूप से पराजित करने से बड़ा सुख इस समय भारत में क्या हो सकता है। (11)

अगर हम दलित शब्द की व्याख्या करे तो 'दलित वर्ग' अंग्रेज के 'डे प्रेस्ड क्लास' का अनुवाद है। इसका अर्थ समाज के उस वर्ग से है जो सताया गया है। लेकिन कालान्तर में यह वर्ग सताया हुआ रहने वाला नही है। यह हिन्दुओं से पृथक पहचान के लिये सदैव दलित कहलाने को तैयार नही है। यह विरोधी शक्तियों से इसलियें संघर्ष कर रहा है ताकि यह आजीवन दलित न रह सके। पर जब यह वर्ग आज के अर्थ में दलित नही रह जायेगा तब इस शब्द के साथ क्या होगा ? इसका एक उत्तर यह है कि तब दलित समुदाय को सम्बोधित करने के लिये कोई नया शब्द ले लिया जायेगा, जिससे कुछ भी बुराई नही होगी। और इसका दूसरा उत्तर यह भी है कि 'दलित' शब्द का अर्थ सताया हुआ ही नही रह जायेगा।

आखिर दलित शब्द दल से बना है, जिसमें 'दलवीर' और 'दलेल' जैसे वीरता के सूचक शब्द बनते है। केरल के एक महान क्रान्तिकारी का नाम कुछ और बल्कि 'बेलुप्तम्पि दलवा' था यह उपनाम दलवा अपनी सार्थकता दर्शाता है। (12)

---

11. हरिजन से दलित सम्पादकीय राजकिशोर,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 1994
12. धर्मबीर (लेख) 'दलितों का दर्शन क्या हो', उदघृत हरिजन से दलित आज के प्रश्न पृष्ठ 155

तब दलित का अर्थ यह हो जायेगा कि वे लोग जो समाज में दल के अर्थात समूह के रूप में संगठित रहते है। और यही दलित के गैर दलित होने तक की यात्रा होगी।

(C) शास्त्र और संविधान में दलित

हमारे शास्त्रो पर ब्राहमणों का पूर्ण प्रभुत्व था अपने निजी स्वार्थ साधन हेतु ही "ईश्वर प्रदत्त" ग्रन्थों की रचना की गयी। और उन्हीं शास्त्रों में शूद्रों को उत्पन्न करने का उद्देश्य यह बताया गया था कि वह सेवाभाव से ऊपर के तीनों वर्णो की गुलामी करे उन्हे प्रसन्न रखे ताकि अगले जन्म में उन्हें शूद्र जाति में जन्म न लेना पड़े। शास्त्रों को पढ़कर स्पष्ट होता है कि दलितो को हमेशा से कैसा नरकीय जीवन बिताना पड़ा। इन शास्त्रों में दलितों को अज्ञानी बताकर ब्राहमणों की महत्ता का अतिरंजित वर्णन किया गया है। दलितों के मनमस्तिष्क में यह बिठाने का प्रयास किया गया है कि ब्राहमण ईश्वर के समतुल्य है, इस तरह उन्होने ईश्वर के अस्तित्व को भी कम कर दिया।

आर्यो के तथाकथित धार्मिक ग्रन्थों में शूद्रों के लिये वर्ण व्यवस्था के आधार पर जो व्यवस्थायें दी गयी है – वे मानव समाज में असमानता तथा घृणा उत्पादक है तथा दलितों के साथ घोर जुल्म व अत्याचार करने को प्रोत्साहित करती है जिसके कारण शूद्र बतलाया जाने वाला बहुसंख्यक मानव समाज कई हजार वर्षो से दुख उठाता आ रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में दलितों की स्थिति इस प्रकार वर्णित है।

वेदों में दलित स्थिति

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त [13] में ही सर्वप्रथम शूद्र शब्द का प्रयोग मिलता है। पुरूष सूक्त में ही कहा गया है कि –

"ईश्वर के मुख से ब्रामाहण, भुजाओं से क्षत्रिय जंघा से वैश्य तथा शूद्र पैरों से पैदा हुये है।"

केवल शूद्र का क्रिया पद पैरो से पैदा हुआ है।

---

13. आधुनिक मान्यता के अनुसार यद्यपि पुरूष सूक्त प्रक्षिप्त अंश है

हालांकि पुरूष सूक्त को ऋग्वेद से भिन्न बताया जाता है। उसका कारण है कि ऋग्वेद केवल मानव की बात करता है। वह पाँच जातियों के समन्वय से स्थापित आर्य जाति और राष्ट्र की बात करता है –

1. ऋग्वेद (vi. 11. 4) - में कहा गया है कि पाँचों जातिया एक साथ अग्नि में आहुति दे रही है स्तुति कर रही है।

2. ऋग्वेद (vii. 15. 2) - गृह का ज्ञानी व युवा स्वामी पाँचों जातियो के घरो मे विद्यमान है।

परन्तु ये पाँच जातियाँ कौन सही है इस पर मतभेद है।

अथर्ववेद में भी ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के समान वर्ण व्यवस्था मानी गयी है।(14)

3. तैत्तिरेय ब्राहामण (12. 6. 7) - में बताया गया है कि "ब्राहामण देवताओ से और शूद्र असुरों से पैदा हुये है।"

4. तैत्तिरेय ब्राहामण के मन्त्र (iii, 2. 3. 9) - के अनुसार शूद्र शून्य से उत्पन्न हुआ।

मनुस्मृति में दलित स्थिति - मनुस्मृति में शूद्रों के बारे में निम्नलिखित वर्णन है।(15)

1 / 91 - में लिखा है कि शूद्र के लिये ईश्वर ने एक ही कर्म निश्चित किया है। कि वह तन मन से तीनो वर्गो (ब्राहामण, क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा करे।

---

14. डा० अम्बेडकर– शुद्रो की खोज, कल्चरल पब्लिशर्स

15. मनुस्मृति – पं० केशव प्रसाद शर्मा, सम्वत 196 सार्क 1832

1/93, 1/95 - मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राहामण सबसे बड़ा है और सृष्टि का स्वामी है[16] तथा देवता लोग ब्राहामणों के मुख द्वारा ही भोजन करते है। इसलिये संसार में ब्राहामण से बढ़कर कोई नही।

2/31 - में वर्णन है कि ब्राहामण का नाम मंगल सूचक क्षत्रिय का नाम बल सूचक, वैश्य का नाम धन सूचक और शूद्र का नाम दीनता सूचक रखे।

3/246 - आद्ध में पृथ्वी पर गिरा हुआ जूठा अन्न दास लोगो का है, परन्तु दास कुटिल या नटखट न हो अर्थात शीलवान हो।

10/124 - शूद्र को जूठा अन्न, पहनने को पुराने कपड़े, बिछाने के लिये धान का पुवाल देना चाहेये।

9/314 - जिन ब्राहामणों ने कुद्ध होकर अग्नि को सर्वभक्षी बना दिया। समुद्र के जल को खारा कर के उसे पीने योग्य नही रहने दिया और चन्द्रमा को क्षया का रोगी बना दिया। उन ब्राहामणों को कुपित कर के कौन ऐसा है जो नष्ट नही हो जायेगा अर्थात सभी सर्वनाश को प्राप्त होगे।[17]

उत्तर में रचित मनुस्मृति पहले के विधि साहित्य का चरमोत्कर्ष है और इसमें जोर रूढ़ियों पर है। इस तथ्य के कारण तथा ज्ञान समूहों के बारे में विस्तृत जानकारी और नये समूहो के बारे में सूचना देने के कारण ही यह ग्रन्थ भविष्य में अद्वितीय प्रभाव छोड़ सका।

विष्णु स्मृति में दलित - विष्णु स्मृति में दलितो की स्थिति निम्न लिखित है –

1/15 - में दिया गया है कि – चौथा वर्ण शूद्र सब संस्कारों से हीन है। उसका संस्कार यही

16. मनु स्मृति अध्याय एक
17. पूर्वोक्त

है कि वह अपने आप को द्विजों को समर्पण कर दे।[18]

1/11 - जो शूद्र अपने प्राण, धन और स्त्री को ब्राहामण को अर्पित कर दे उस शूद्र का भोजन करने योग्य है।[19]

27/69 - ब्राहामण का नाम मंगलकारी, क्षत्रिय का बल शाली वैश्य का धनशाली और शूद्र का घृणा सूचक हो।

गौतम - धर्म - सूत्र में दलित -

12/8 - शूद्र यदि वेद को सुन पाये तो उसके कानो में पिघलता हुआ शीशा भरवा देना चाहिये। यदि वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ कटवा देनी चाहिये, यदि वेद की स्मरण करे तो उसको मरवा देना चाहिये।[20]

10/5, 56, 59 - शूद्र चौथे वर्ण का और एक जन्म वाला है। उसका धर्म है बाकी तीन वर्णो की सेवा करना। उच्च वर्ण के उतरे हुये जूते पहनना तथा जूठे भोजन को खा कर जीवन व्यतीत करना।

शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र - दलित यदि वेद को सुने तो उसके कान में गर्म शीशा डालना चाहिये, यदि जीभ से उच्चारण करे तो उसे कटवा देनी चाहिये। पढ़ लिख कर विद्वान बन जाये तो उसे फाँसी की सजा देनी चाहिये।

ब्राहामण ग्रन्थों में दलित तंतरीय 1/2 - 6 - घी, दूध पान और श्रेष्ठ अन्न शूद्रों को नही

---

18. पैरियर ललई सिंह – शोषितों पर धार्मिक डकैती पृष्ठ १६
19. पूर्वोक्त
20. पूर्वोक्त, पृष्ठ 17

खाना चाहिये, क्योकि इससे ब्राहामणों को दुख होता है। शूद्र को घर में नहीं रखना चाहिये, शुद्ध जल नहीं पीना चाहिये और ऊँचे स्थान पर नहीं बैठना चाहिये।

रामायण में दलित - बाल्मीकी रामायण में कहा गया है कि –

"मुख तो ब्राहामणः जाता, बाहु क्षत्रिय तथा
उरूभ्यां जाति वैश्यां पदभ्यां शूद्रः"[21]

तुलसी क्रत रामायण के अन्तर्गत विष्णु भगवान कहते है कि जो व्यक्ति कपट त्यागकर मन कर्म व वचन से ब्राहामण की सेवा करते है। उनके वश में मुझ समेत ब्रहमा व शिव आदि सभी देवता हो जाते है।

राम भगवान परशुराम से कहते है कि ब्राहामण वंश की महिमा ऐसी है, कि जो तुमसे (ब्राहामण से) डरते रहे उसे संसार में किसी और से डरने की जरूरत नहीं है।

रामायण में ही सबसे शर्मनाक बात कही गयी है कि ढोल (ढ़ोलक) गवांर, शूद्र, पशु और नारी इन सबको मारते पीटते रहना चाहिये।[22]

महाभारत काल में दलित - अनु 47/18 में लिखा है वर्ण केवल चार है पाँचवा कोई नही।

165 / 10 - शूद्र को चार आश्रमों अर्थात ब्रह्मचर्य, गृहस्थचर्य, वानप्रस्थ व सन्यास का अधिकार नही है। महाभारत काल में ही एकलव्य का उदाहरण आता है कि किस तरह से शूद्र को आगे बढ़ने से रोकने के लिये एकलव्य का अगूठा द्रोणाचार्य की भेट चढ़ गया था।

गीता 3 - 26 में दिया गया हे कि अपने कार्यो में लगे रहने पर मनुष्य सिद्धि पाता है।

---

21. पूर्वोक्त पृष्ठ 24
22. तुलसी कृत रामायण

अपने धर्म में मर जाना अच्छा है और पराया धर्म भयावह है।

गीता - गीता में दिया गया है कि ज्ञानी पुरूष (ब्राहामण) को चाहिये कि कर्मो में आसक्ति वाले अज्ञानियों (शूद्रों) की बुद्धि में भ्रम (दासता से छुटकारा) कर्मो (दास धर्म) में अश्रद्धा उत्पन्न न करे किन्तु स्वयं (ब्राहामण) परमात्मा में स्वरूप में स्थिर हुआ और सब कर्मो को भली प्रकार करता हुआ उन (शूद्रों) से भी (दास कर्म पूर्ववत) वैसे ही कराये।[23]

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राहामणों को चाहिये कि शूद्रों को दास कर्म में लगे रहने दे। और उन्हें ज्ञान विज्ञान की कोई बात न बताये।

इन सभी धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद हम सोच सकते है कि ये सभी ग्रन्थ किस प्रकार समाज को अधेंरे के गर्त में धकेलते आ रहे है। वेद से लेकर दुर्गापाठ तक ब्राहामण को उच्च से उच्च सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान कर रहे है तथा दलितों को निकृष्ट कीड़े–मकौड़े से भी बदतर दशा में रखने की प्रेरणा देते है।

इनको पढ़कर सवर्ण और उनके धर्म की उदारता एवं सहिष्णुता का सही दिग्दर्शन हो जाता है। आज देश स्वतंत्र है तथा कथित इस सेक्यूलर स्टेट के नाम पर यहा की जो शासन व्यवस्था चलाई जा रही है और धर्म निरपेक्ष राज्य की माँग की जा रही है, परन्तु शूद्रों के खिलाफ उसी पुरानी ब्राहामणी धार्मिक व्यवस्था की पुष्टि करने के लिये मनुस्मृति और रामायण जैसे घोर जातिवादी ग्रन्थों को प्रोत्साहित किया जा रहा है।[24]

अब सवाल यह उठता है कि दलितों के प्रति ब्राम्ह्यण वादी विधान के निर्माताओं ने

---

23. पैरियर ललई सिंह – शोषितों पर धार्मिक डकैती, पृष्ठ न० 16
24. पूर्वोक्त पेज नं० १०

इतना निर्दयतापूर्ण व्यवहार क्यों किया ? उनकी विधानों की पुस्तक केवल निषेधों का वर्णन करती है उनमें लिखा है कि शुद्र उपनयन का अधिकारी नही है किन्तु यह नही बताती कि क्यों इस तरह यह बातें तर्क हीन लगती है[25] दलितों का निषेध उनके व्यक्तिगत चरित्र से राम्बधित नही है यह किसी प्रकार के दोष के परिणाम स्वरूप भी नही है। दलित शूद्र को सिर्फ इसलिये दण्डित किया जाये क्योंकि वह शूद्र है यह तो समझ में नही आता। अतः एक तरह से यह ग्रन्थ विरोधाभाष उत्पन्न करते है।

इन ग्रन्थों को पढ़कर एक दलित कवि की कविता याद आती है कि –

"तुम्हारी वर्ण व्यवस्थाा का चौथा हिस्सा
कब और कैसे हो गया
जबकि मै वेद नही पढ़ सकता था
मन्दिरों पर नहीं चढ़ सकता था
तालाब का पानी भी पी नहीं सकता था।"[26]

संविधान में दलित

स्वतन्त्रता प्राप्ति करने के बाद भारत के लिये एक नये संविधान की आवश्यकता का अनुभव करते हुये संविधान सभा का गठन हुआ जिसने दिसम्बर 1 दिसम्बर 1946 से अपना कार्य शुरू किया और 26 नवम्बर 1949 को संविधान को स्वीकार किया जो 26 जनवरी 1950 को देशवासियों द्वारा स्वीकार किया गया।[27] संविधान बनाने के लिये एक कमेटी बनायी गयी जिसके अध्यक्ष डा० भीमराव अम्बेडकर थे। 25 नवम्बर 1949 को संविधान सभा में बोलते हुए अम्बेडकर

---

25. डा० अम्बेडकर – शूद्रों की खोज, कल्चरल पब्लिशर्स, लखनऊ ।
26. रामकुमार करौतिया (लेख) 'दलित साहित्य और डा० अम्बेडकर' उदघृत अश्वघोष मार्च–अप्रैल 1998 पृष्ठ न० 30

27- 26 जनवरी प्रतिवर्ष देश में गणतन्त्र द्विवस के रुप में विख्यात होगी।

ने कहा था कि "इसका कोई खंडन नही कर सकता कि इस देश में राजनीति पर काफी दिनों तक बहुत ही गिने चुने व्यक्तियों का एकाधिकार रहा है जबकि अधिकांश लोगों ने भार ढोने वाले जानवर की तरह ही नही बल्कि बलि वाले जानवर की तरह अपना जीवन व्यतीत किया है। इस एकाधिकार ने जनसाधारण को न सिर्फ उन्नति से रोका बल्कि उन्हे सार्थक जीवन के प्रति दुर्वल बनाने में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ये दलित वर्ग शासित होकर थक चुके है इसलिये अपना शासन स्वयं चलाने के लिए आधीर है। यह दलितों में आत्मबोध का संकेत है।[28]

अनुसूचित जातियों के संरक्षण के लिये भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान में विशेष प्रावधान करने का निश्चय किया है। संविधान निर्माताओं के विचारों के अनुरूप सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से संवैधानिक प्रावधानों के साथ–साथ कुछ विशेष कानूनी उपाय भी किये गये है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राजनीतिक और आर्थिक न्याय के साथ–साथ सामाजिक न्याय का जो आदर्श प्रतिपादित किया गया है उससे ही वे कानूनी प्रेरणा ग्रहण करते है।

संविधान के अर्न्तगत

अनुच्छेद 17 :- में कहा गया है कि –

"अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।"[29]

इस शक्ति के प्रयोग में संसद ने अस्पृश्यता अधिनियम 1955 बनाय था। यह उस सामाजिक पद्धति के प्रति निर्देश करता है जिसमें दलित वर्गो को उनके जन्म के कारण ही हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस अधिनियम के कुछ कार्यों को जब वे अस्पृश्यता के

28. भगवान दास (लेख) 'डा० अम्बेडकर और भारतीय संविधान प्रतिपक्ष अप्रेल 1991 से उदघृत पृष्ठ 25
29. भारत का संविधान एक परिचय : डा० दुर्गादास बसु खण्ड 4 पृष्ठ 95

आधार पर किय जाते है तब अपराध माना गया है। उदाहरण के लिये –

A- किसी व्यक्ति को किसी सामाजिक संस्था में जैसे अस्पताल, औषधालय, शिक्षा संस्था में प्रवेश न देना।

B- किसी व्यक्ति को सार्वजनिक उपासना के किसी स्थल पर पूजा करने से मना करना।

C- अनुसूचित जाति के किसी सदस्य का अस्पृश्यता के आधार पर अपमान करना।

D- प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का उपदेश देना।

अनुच्छेद 330 - 322 तक में कुछ पिछड़े समुदाय जैसे अनुसूचित जाति और जनजाति स्थानों का आरक्षण किया गया है। [30]

इसके अतिरिक्त संविधान में दलितों के हितों की रक्षा हेतु निम्नलिखित उपबंध किये गये है।

(i) अनुसूचित जातियों (दलितों) की उन्नति के लिये उपबंधों पर **अनु.** 15 (4) में अन्तर्विष्ट मूलवंश और इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विभेद करने के विरूद्ध साधारण प्रतिबन्ध लागू नही होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि राज्य द्वारा इन जातियों के पक्ष में विशेष उपबन्ध किये जाते है, तो अन्य नागरिक ऐसे उपबन्धों की विधि मान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नही कर सकते कि वे उनके विरूद्ध विभेदकारी है।

(ii) अनुच्छेद 19 (5) - में दिया हे कि भारत के राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण और निवास करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्रत्याभूत है। किन्तु अनुसूचित जातियों के सदस्यों की दशा में राज्य उनके हितों की सुरक्षा के लिये विशेष निर्बन्धन अधिरोपित कर सकता है। उदाहरणार्थ – उनकी सम्पत्ति के अन्य संक्रामण या विभाजन को रोकने के लिये राज्य यह उपबन्ध कर सकता है कि वे अपनी सम्पत्ति या अन्य संक्रामण विनिर्दिष्ट प्रशासनिक अधिकारी की सहमति से विशेष दशा में ही कर सकते है अन्यथा नही।[31]

30. पूर्वोक्त

31. पूर्वोक्त

(iii) अनुच्छेद 335 - के अर्न्तगत संघ तथा राज्य के क्रियाकलापों में सम्बन्धित सेवाओं ओर पदों के लिये नियुक्तियां करने में अनुसूचित जाति के सदस्यों के दावों को प्रशासन की दक्षता बनाये रखने के लिये संगति के अनुसार ध्यान में रखा जायेगा।

(iv) अनुच्छेद 338 - के अर्न्तगत दलितों के लिये एक राष्ट्रीय आयोग होगा जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि वह दलितों के लिये इस संविधान या अन्य विधियों के अधीन उपबंधित रक्षोपायों के कार्यकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष या ऐसे अन्य समयों पर जो आयोग ठीक समझे प्रतिवेदन दे।

(v) अनुच्छेद 339 (1) - में लिखित है कि राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित जातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिये आयोग की नियुक्ति आदेश द्वारा किसी भी समय कर सकेगा। और इस संविधान के प्रारम्भ से 10 वर्ष की समाप्ति पर करेगा।

(vi) अनुच्छेद 339 (2) - के अर्न्तगत संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिये निदेश में आवश्यक बताई गई स्कीमों के बनाने और निष्पादन के बारे में है।

(vii) अनुच्छेद 16(4) - के परन्तुक में यह अभिकथित है कि बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा राज्य में जनजातियों के कल्याण का प्रभारी एक मन्त्री होगा जो अनुसूचित जातियों के कल्याण का प्रभारी भी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त **अनु. 46** में यह साधारण निदेश है कि राज्य जनता के दुर्बल वर्गो के विशिष्टतया अनुसूचित जातियों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि

करेगा और सामाजिक अन्याय के सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।[32]

इस प्रकार से शास्त्र और संविधान में दलित स्थिति पर विचार करने के बाद हम ये कह सकते है शास्त्रों के द्वारा दलितों पर जो अत्याचार हुये है या दूसरे शब्दों में शास्त्रों ने जो जख्म दलितों को दिये है, संविधान के द्वारा उन जख्मों पर मरहम रख दी गयी है। संविधान में दलितों को वो सारे अधिकार दिये गये है जो कि एक स्वतंत्र देश के प्रत्येक स्वतंत्र नागरिक को मिलना चाहिये। अब विचार करने वाली बात ये है कि इन अधिकारों का प्रयोग या उसका लाभ प्रत्येक दलित ले पा रहा है अथवा कुछ विशेष लोग (दलित) ही इससे लाभान्वित हो रहे है।

भारतीय संविधान के लागू होने के 51 वर्ष बाद जातिवादी राजनीति ने इस देश में इतना जोर पकड़ लिया है कि सभी सुशिक्षित लोग स्तम्भित हो गये है कि देश किधर जा रहा है।

---

32. पूर्वोक्त

तृतीय अध्याय

ऐतिहासिक संदर्भ में दलित

(A) प्राचीन ग्रंथों में दलित

(B) समाज सुधार और दलित

(C) स्वतंत्रता आंदोलन एवं दलित राजनीति

ऐतिहासिक सन्दर्भ में दलित

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन सैकड़ो वर्षो से विद्वानों के दुर्निवार कुतूहल का विषय रही है। विशेष तौर पर इसकी वर्ण व्यवस्था को लेकर विद्वानों में जबरजस्त मतभेद रहा है। कुछ लोग इसे प्राचीन काल के समाज के अनुकूल आवश्यक श्रम विभाजन के रूप में देखते है तो कुछ इसे तत्कालिक शाषक वर्ग के षडयन्त्र के रूप में साक्षित करते है। कुछ इसे जन्म के आधार पर मानते है तो कुछ कर्म के आधार पर इसकी उत्पत्ति और विकास को मान्यता देते है । भारत के दलितों ने यहाँ के इतिहास में जो यात्रा की और जिस दुर्दशा को झेला, उसे वैदिक युग से देखा जा सकता है।

(i) वैदिक काल -

इतिहासकारों ने लगभग 1750 ई० पू० से 1500 ई० पू० की अवधि को ऋग्वैदिक काल और 1500 ई० पू० से 600 ई०पू० तक को उत्तरवैदिक काल बताया है। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में शूद्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है। वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की स्थिति सबसे नीचे थी और इनका प्रधान कार्य परिचायिका वृत्ति था।

अथर्ववेद के उन्नीसवें अध्याय में दलितों का वर्णन एक वर्ग के रूप में किया गया है । पंचविश ब्राहम्ण के अनुसार शूद्र चाहे जितना वैभव सम्पन्न हो वह दूसरों का भृत्य होने के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता। शूद्र का यद्यपि उपनयन संस्कार नही होता था लेकिन उसे सभी वैदिक क्रियाओं से वंचित नही किया गया था। **तैत्तिरीय ब्राहम्ण** के अनुसार रथकार जिसकी गणना शूद्रों में थी, को वैदिक यज्ञ करने का अधिकार था।

उत्तर वैदिक काल में जितने प्राचीन सन्दर्भ मिलते है उनसे ज्ञात होता है कि शूद्र

सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य वर्णों के साथ भाग लेते थे। अतः यह स्पष्ट है कि इस काल में शूद्रों की अधिक निम्न स्थिति नही थी। वह अपनी आवश्यकता और इच्छानुसार शिक्षा ग्रहण कर सकता था।

(ii) वेदोत्तर काल या धर्म सूत्र काल -

उत्तरवैदिक काल के अन्त तक शूदों को धार्मिक कृत्यों से वंचित किया जाने लगा था। इस काल में वर्णो के उदगम में जन्म का आधार प्रमुख हो गया था और कर्म का गौण। वर्ण व्यवस्था की स्थिति में अनुवांशिकता का प्रधान महत्व दिया गया। यह भी स्पष्ट है कि ब्राहम्णों के लिये शूद्र अस्पृश्य होने लगा था। यद्यपि प्रारम्भ में दलितों को वेद पढ़ने का अधिकार था किन्तु बाद में उन्हें इस अधिकार से वंचित कर दिया गया। **आपरस्तम्ब धर्म सूत्र** के अनुसार यदि वेद–पाठ के समय शूद्र विशेष रूप से चाण्डाल आ जाये तो तुरन्त वेद पाठ बन्द कर देना चाहिये।

पाणिनी ने दलितों को दो वर्गो में विभाजित किया – निरवसित और अनिरवसित। अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्र वे थे जिन्हें भोजन कराने से द्विजों के बर्तन अपवित्र नही होते थे जबकि निरवसित शूदों को अपने बर्तन में भोजन कराने से द्विजों के बर्तन अपवित्र हो जाते थे। [1]

महाकाव्यों का काल -

रामायण–महाभारत काल के युग में उत्तरवैदिक कालीन वर्णव्यवस्था ही चल रही थी। लेकिन इस काल में भी कर्म के स्थान पर जन्म प्रधान हो गया था। गीताकार ने यद्यपि यह स्थापित किया कि गुण और कर्म के अनुसार उन्होनें ही 4 वर्ण बनाये थे फिर भी उनका जोर यह था "स्वधर्मे निधनम् श्रेमः परधर्मो भयावहः"। अतः शूद्रों का स्थान अति निम्न ही था। न वह अध्ययन और भजन का अधिकारी था [2] और न वह विद्यार्जन के लिये आचार्य के आश्रम में प्रवेश पा सकता था[3]

1. अष्ठाध्यायी, 2, 4, 10 ।
2. रामायण, 1, 59, 13-14 ।
3. महाभारत, 13, 10, 16 ।

भगवान राम ने तपस्या करने वाले शम्बूक का ब्राह्मणों की शिकायत पर वर्ण धर्म की सुरक्षा के लिये बध कर डाला। [4]

परन्तु महाभारत के अनुसार कुछ शूद्र अपने सत्कर्मों और सदाचरणों से समाज में आदृत थे जिनमें विदुर कायव्य और मतंग प्रमुख थे। कुछ शूद्र अपने परिवार की कन्याओं का विवाह राजपरिवारों में करने में भी सफल रहे। दशरथ की पत्नी सुमित्रा एक शूद्रा थी। [5] महाभारत प्रसिद्ध शान्तनु ने मत्स्य कन्या सत्यवती से विवाह किया था।

मौर्य काल -

यह काल 306 ई० पू० से 200 ई०पू० तक माना जाता है। कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य जो एक शूद्र था उसे मगध की राजगद्दी पर प्रतिष्ठित किया था। कौटिल्य ने भी शूद्रों के वही कार्य बताये जो सूत्रकाल के अन्तिम दिनों में थे। इस काल में कृषि, पशुपालन और व्यापार, धनोपार्जन के मुख्य कारण थे जिन्हें वैश्य शूद्रों की सहायता से करते थे। अशोक ने दासों और भृत्यों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आदेश दिया था। [6] इस काल में केवल चाण्डालों को ही अस्पृश्य माना जाता था। परन्तु मौर्य काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति और बिगड़ गयी, ब्राह्मण और शूद्र का सामाजिक विभेद बढ़ा। आवास्तव, बौधायन और गौतम का विचार है कि ब्राह्मण को किसी भी हालत में शूद्र का सत्कार नही करना चाहिए।[7]

स्मृति काल -

यह 200 ई०पू० से 500 ई०पू० तक माना जाता है। मनु ने ब्राह्म्णों को आकाश पर बैठा दिया उन्हें भू देवता बताया। वर्णव्यवस्था के स्थान पर जाति व्यवस्था दृढ़ हो गयी। यद्यपि मनु ने

4. रामायण, 7, 73, 76।
5. रामायण, निर्णय सागर संस्करण, 1, 2, 72।
6. शिलालेख 9, 11।
7. कृष्ण मोहन (लेख) 'दलित की ऐतिहासिक यात्रा' – उधृत दलित जन उभार पृष्ठ न० 215

शूद्र अध्यापकों और शिष्यों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट होता है कि शूद्र भी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। (8) फिर भी उन्हे वेद पढ़ने का अधिकार नही था और न ही वे वैदिक यज्ञ कर सकते थे। मनु के नियमों के अनुसार शूद्रों के कर्त्तव्य तो बहुत थे लेकिन अधिकार प्रायः कोई नही था। उन्होनें शूद्रों के अपराधों को दण्ड देने के लिये अत्यन्त कठोर नियम बनाये थे। लेकिन उसकी कही इस बात कि "यदि किसी राष्ट्र में शूद्रों की संख्या अधिक हो जाये तो उस राष्ट्र का सर्वनाश निश्चित है। (9) से स्पष्ट है कि मनु के काल में शूद्रों की जनसंख्या अधिक नही थी।

याज्ञवल्क्य के अनुसर यदि उच्च जाति का व्यक्ति परिवार के शूद्र मित्र का भोजन कर ले तो यह आपत्तिजनक कार्य नही था। (10) मनु के विधान में याज्ञवल्क्य ने काफी लचीलापन ला दिया था।

चूँकि बौद्ध धर्म के उद्‌भव के कारण ब्राहम्ण व्यवस्था के प्रति विद्रोह हो चुका था। अधिकांश क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र बौद्ध धर्म को अपना चुके थे, इसलिये ब्राहम्णों ने भी अपने विधान में काफी ढ़ील दी, जिससे ब्राहम्ण व्यवस्था लुप्त होने से बच सके।

अतः स्पष्ट है कि इस काल में जाति प्रथा बौद्धधर्म के कारण कुछ ढ़ीली हुई और शूद्रों की स्थिति में भी तरक्की हुयी। इस काल में अनेक शूद्र किसान हो गये।

गुप्तोत्तर काल -

गुप्तोत्तर काल का समय 500 ई०पू० में 1200 ई० तक का है। पाराशर के अनुसार तेजस्वी पुरूष भी यदि शूद्र का भोजन कर ले, उसके साथ सम्पर्क करे, उस आसन पर बैठे जिस

---

8. मनुस्मृति, 2-238, 240, पंडित केशव प्रसाद शर्मा, सम्वत 196, सार्क 1832
9. मनुस्मृति, 8, 22।
10. याज्ञवलक्य, 1, 166।

पर शूद्र बैठा हो, शूद्र से शिक्षा ग्रहण करे तो वह पतित हो जाता है। [11] गार्ग्य का मत था कि शूद्र या निषाद का स्पर्श होने पर उच्च जाति के व्यक्ति को पवित्र होने के लिये जल का आचमन करना चाहिये। परन्तु फिर भी मेधातिथि ने शूद्रों की स्थिति का जो विवेचन किया है उससे निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में उनकी स्थिति में निश्चय ही सुधार आया लेकिन मेधातिथि ने भी सूत मागध और आयोगव को अस्पृश्य माना है। लेकिन उनकी स्थिति वह नही रह गयी जो मनु के समय थी।

मुस्लिम शासनकाल में जाति–पाँति के आधार पर भेदभाव का अभाव रहा, इसी समय अनेक हिन्दू सन्त जातिपाँति के भेदभाव को दूर करने की कोशिश करते रहे।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र में जो धार्मिक आन्दोलन शुरू हुये उनसे शूद्रों की धार्मिक स्थिति में काफी सुधार हुआ। इस समय महाराष्ट्र में उत्कृष्ट व्यक्तित्व वाले अनेक शूद्र सन्त हुये। ब्राहम्ण सन्तों जैसे ज्ञानेश्वर और एकनाथ ने भी शूद्रों के धार्मिक उत्थान हेतु प्रशंसनीय कार्य किये। एकनाथ ने तो अस्पृश्यों को श्राद्ध भोज में आमन्त्रित ब्राहम्णों के पूर्व भोजन कराया और उन्होनें उनके घर में भी भोजन किया।

उसके बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन से लेकर पूना एक्ट तक आते आते दलितो की स्थिति कैसे बेहतर होती गयी इसका आगे हम विस्तृत वर्णन करेगे।

(A) प्राचीन ग्रन्थों में दलित

भारतीय समाज का पूरा इतिहास तथा साहित्य एवं ग्रन्थ शुरू से ही वर्ण व्यवस्था प्रणाली के इर्द–गिर्द ही चक्कर काटते चले आ रहे है। ब्राहम्णों तथा उनके प्रभाव में यहाँ तक कि अनेको गैर ब्राहम्णों द्वारा रचित ग्रन्थों एवं साहित्य को भगवान के मुँह से निकला बताकर वर्णव्यवस्था को अनन्त तथा न्यायोचित ठहराया गया।

---

11. मनु स्मृति, 10, 126 - 128 ।

मनुस्मृति :

मनुस्मृति जिसकी रचना पुष्पमित्र शुंग के दरबार में लगभग पहली सदी में ब्राह्मणवादी शासक वर्गो ने की थी।[12] वह जाति प्रथा को राजनीतिक प्रथा में बांधती है। जो हजारों वर्षो से निर्मम तरीके से शूद्रों पर अत्याचार करती रही है। ब्राह्मणों को हत्या का अपराधी होने पर भी मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था।

दशवें अध्याय में मनु कहते है समर्थ होने पर भी शूद्र को धन संग्रह नही करना चाहिए, क्योंकि धन प्राप्त होने से शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ित करने लगता है।[13] सामान्यतः मनुस्मृति पर वर्णव्यवस्था के सृजन की जिम्मेदारी मढ़ दी जाती है, किन्तु इस कड़ी में याज्ञवल्क्य स्मृति तथा नारदस्मृति जैसी अनेक रचनाओं को भुला दिया जाता है। 'प्राचीन ग्रन्थों में दलित' के अन्तर्गत हम 'रामायण' ऐसे पवित्र ग्रन्थ से शुरू करते है। उससे पूर्व मनुस्मृति वेद उपनिषद पर चर्चा हम पहले कर चुके है। जैसा कि विदित है कि वेदो में तीन वर्णो का उल्लेख मिलता है इक्के–दुक्के स्थान पर दलित नाम आता है तदुपरान्त मनुस्मृति तक आते–आते शूद्र शब्द की स्पष्ट व्याख्या होती है और बाकी के तीनो वर्णो की सेवा हेतु उसकी उत्पत्ति निश्चित मानी गयी है। मनुस्मृति के श्लोक –

1 / 100 - में कहा गया है कि पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब ब्राहम्णों का है, अर्थात ब्राहम्ण अच्छे कुल में जन्म लेने के कारण इन सभी वस्तुओं का स्वामी है।

1 / 101 - ब्राहम्ण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है, अपना ही दान करता है तथा दूसरे व्यवित ब्राहम्ण की कृपा से इन सब का भोग करते है।

---

12. रविशंकर निशांत – देश वासियों से दो बातें, सुलभ प्रकाशन लखनऊ, 1998 पेज 6।
13. मस्तराम कपूर (लेख) 'ब्राह्मणवाद का नया छल', हरिजन से दलित सम्पादक राजकिशोर पृष्ठ न० 103।

3 / 15 - द्विज के जो लोग मोह में नीचे जाति की स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते है, वे शीघ्र ही अपनी–अपनी पत्नियों और उनके बच्चों को द्विजों की स्थिति में ला देते है।

8 / 20 - कोई भी ब्राहम्ण जो जन्म से ब्राहम्ण है, अर्थात जिसने न तो वेदों का अध्ययन किया और न वेदो द्वारा अपेक्षित कोई कर्म किया है, वह राजा के अनुरोध पर उसके लिये धर्म का निर्वचन कर सकता है, लेकिन शूद्र यह कभी नही कर सकता। (चाहे वह कितना ही विद्वान क्यो न हो)

"मनुस्मृति" "गीता" "रामचरितमानस" हमेशा से ब्राह्मण वादी प्रति क्रान्ति के कारगर हथियार रहे है। रामायण में राम के मुख से ब्राहम्णवाद अर्थात वर्चस्व, वर्णवाद, जाति–पाँति भेदभाव तथा शूद्र अवमानना इत्यादि को उचित ठहराया गया। रामचरित मानस ने ब्राहम्णवाद को सामाजिक विश्वसनीयता प्रदान करने में अप्रतिम भूमिका निभाई है। इस प्रकार हम कह सकते है कि तुलसीदास ने शोषित समाज (दलित) का बहुत बड़ा अहित किया है। उन्होने अपने इतने पवित्र ग्रन्थ (रामायण) में दलितों को ताड़ना का अधिकारी बतलाया है। दूसरी तरफ रामायण में ही शंबूक वध प्रत्यक्ष उदाहरण है कि उस युग में दलितो को कैसे दबाया जाता था।

महाभारत -

में भी दलितों की स्थिति उसी तरह से ही थी पर रामायण काल से थोड़ी सी बेहतर थी युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के वर्णन से स्पष्ट होता है कि शूद्रों ने राज्याभिषेक समारोह में भाग लिया था। राजा शान्तनु ने स्वयं एक शूद्र स्त्री गंगा से विवाह किया था अर्थात सवर्ण अपने स्वार्थ हेतु दलितों को अपना भी लेते थे और अपने स्वार्थ हेतु ही दुत्कारते भी रहते थे। महाभारत काल में अजगर और युधिष्ठर के मध्य वार्तालाप के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत करते है–

अजगर का प्रश्न था कि "ब्राह्मण कौन है तथा उसे क्या जानना चाहिए" ?
युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, क्रूरता का अभाव, तप तथा दया हो वही ब्राह्मण है। ब्राह्मण को सुख–दुख, से परे परम ब्रह्म को ही जानना चाहिए । जिसमें ये गुण नही वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मण नहीं है और जिसमें ये गुण है वह चाहे शूद्र कुल में ही उत्पन्न क्यों न हुआ हो, शूद्र नहीं ब्राम्ह्मण है।[14]"

अजगर ने पुनः प्रश्न किया "क्या आचरणहीन आचार वर्ण बन सकता है" ?
युधिष्ठिर ने स्पष्ट किया, "वर्ण संकरता के कारण रंग के आधार पर वर्ण निर्धारण कठिन है। आचरण ही वर्ण निर्धारण का आधार है।"[15] भगवतगीता में चातुर्वर्ण्य की दार्शनिक पुष्टि है। निः सन्देह भगवतगीता में बताया गया हे कि चातुर्वण्य ईश्वर का सृजन है और इसलिये यह अति पवित्र है। परन्तु गीता में इसे वैध नहीं बताया गया है इसके लिये दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया गया है तथा उसे मनुष्य के स्वाभाविक और जन्मजात गुणों के साथ जोड़ दिया गया है।

गीता में प्राचीन हिन्दू व्यवस्था पर सशक्त प्रहार के प्रति कोई समर्थन के संकेत नही मिलते है। फिर भी गीता वर्णव्यवस्था का उन्मूलन नहीं करती। यह वर्ण व्यवस्था को कुछ कम निराधार बताती है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठर ने अपने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी निमंत्रित किया था। [16]

मौर्य काल में लिखा गया ग्रन्थ है कौटिल्य का ''अर्थशास्त्र''। इस ग्रन्थ को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय दलितों की स्थिति में थोड़ा सा सुधार पहले की अपेक्षा हुआ था। इस समय तक वैश्यों की सहायता से दलित वर्ग खेती तथा कृषि फार्म पर कार्य करना शुरू कर दिये थे। कौटिल्य ने स्वयं ब्राहम्ण होकर चन्द्रगुप्त मौर्य (शूद्र) को राजगद्दी पर बैठाया। परन्तु कुछ स्थिति सुधरने के बावजूद जातिप्रथा का वर्चस्व ज्यो का त्यो था।

---

14. डा० जयदयाल सक्सेना – ''भारत की पौराणिक कथायें'', किताब महल प्रकाशन इलाहाबाद 1998 पृष्ठ न० 34 -35
15. पूर्वोक्ति.
16. महाभारत 2, 33, 41.

गीता :

गीता की रचना के समय भारतवर्ष में पाखण्ड, जड़ता और ऊँच–नीच के अभेद दुर्ग बने हुये थे उस समय माना गया कि वर्ण व्यवस्था और उस पर आधारित सामन्ती व्यवस्था की रक्षा के लिये जोड़ दिया गया कि समाधिस्थ ज्ञानी को अपने कर्म करने की आवश्यकता नही है किन्तु लोक कल्याण के लिये उसे उसी प्रकार अपने कर्तव्य कर्म को करते रहना चाहिए जिस प्रकार हर तरह से पूर्ण होते हुये भी परमात्मा आवश्यक न होने पर भी लोक कल्याण के लिए अनासक्त–निष्काम कर्म करता रहता है। (17)

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिस व्यक्ति में सत् की प्रधानता होती है वह ब्राहम्ण, रज की प्रधानता से क्षत्रिय, रज–तम के मिश्रण से वैश्य, तथा तम की प्रधानता से शूद्र होता है अर्थात तीन गुणों से चार वर्णो की कल्पना की गई। पर यह नही सोचा गया कि यदि रजतम का मिश्रण सम्भव है तो सत्–रज, और तम–सत् के मिश्रण से दो अन्य वर्ण क्यों नहीं बने ?

गीतकार को भी वर्णव्यवस्था की दुर्बलता का आभास था इसीलिये उसने उसे दृढ़ता प्रदान करने के लिये ईश्वरकृत घोषित कर दिया।

यह वर्णव्यवस्था महाभारत के उस काल में गलत प्रमाणित होती है। जब ऊँची जाति वाले पसन्द आने पर किसी से भी विवाह कर लेते थे। समझ नही आता कि उस समय जब कि किसी ब्राहम्ण या क्षत्रिय को शूद्र स्त्री पसन्द आ जाती थी तब उनकी वर्ण व्यवस्था उन्हे उस स्त्री से विवाह करने की इजाजत कैसे देती थी। उदाहरण स्वरूप – महाभारत में ही शान्तनु ने सत्यवती (शूद्र) से, भीम ने हिडिम्बा (राक्षसी) से, ब्राहम्ण ऋषि पराशर ने मत्स्यगंधा (धीवर) से, विवाह किया था।

भक्ति कालीन कवियों की रचनाओं में दलित :

---

17. डा० जय दयाल सक्सेना लेख 'गीता : वैज्ञानिक विवेचन' अश्वघोष (मासिक) 1998 पृष्ठ – 9

मध्यकाल में इस सामाजिक असमानता के खिलाफ पूरा भक्ति आन्दोलन खड़ा हो गया। बन्दनार, चोखामेला, रविदास दादू, धन्ना तथा कबीरदास जी ऐसे अनेक साधु सन्त और कवि हुये जिन्होने अपनी कविताओं में वर्ण व्यवस्था पर करारी चोट की। उन्होने अपनी रचनाओं में कहा कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य एक है इसका अर्थ यह हुआ कि जब संसार के सबसे बड़े नियता के सामने सभी मनुष्य एक है तो किसी मनुष्य को यह हक हासिल नही होता कि वह किसी मनुष्य को ऊँच और किसी को नीच माने। कबीर दास जी ने चूंकि : परम्परा से हट कर अपनी रचनाये दी है तथा सारे आडम्बर, पाखण्ड और कुरीतियों का विरोध किया है वही दूसरी तरफ तुलसीदास ने परम्परागत रचना करते हुये वर्णव्यवस्था कायम रखने की बात की। यही कारण है कि आज भी साहित्य जगत में कबीर दास जी को वह सम्मान नहीं दिया गया जो कि तुलसीदास जी को मिला। अर्थात लीक से हटकर बात कहने वाले या सच्चाई कहने वाले का विरोध तो स्वाभाविक है।

'बुद्ध चरित' के महान कवि अश्वघोष पहले संस्कृत कवि थे जिन्होनें वर्णव्यवस्था पर आक्रमण करते हुये 'वज्र सूची' अर्थात 'हीरे की सुई' नामक एक लघु काव्य ग्रन्थ लिखा था। वज्र सूची में दिया गया है कि 'वेदाः प्रमाणं स्मृत्यःप्रमाणं धर्मार्थ युक्तं वचनं प्रमाणम् यस्य प्रमाणम् न भवेत्यप्रमाणं कस्तस्य कुर्याद्वचनं प्रमाणम्'[18] अर्थात वेद प्रमाण है, स्मृतियाँ प्रमाण है समुचित धर्म युक्त श्रति प्रमाण है। वह जो प्रमाण को प्रमाण के रूप में नहीं मानेगा तो उसकी बात को प्रमाण के रूप में कौन ग्रहण करेगा। अश्वघोष एक बौद्ध भिक्षु थे तथा जाति के ब्राहम्ण थे। उनका एक नाटक था 'सारिपुत्र प्रकरण' इसमें ब्राहम्ण क्षत्रिय द्वन्द्व का रोचक वर्णन मिलता है। इसमें विदूषक व्यग्य करते हुये सारिपुत्र से कहता है; ''आप तो ब्राहम्ण है, फिर क्षत्रिय गुरू से कैसे शिक्षा प्राप्त करोगे ?'' इस पर सारिपुत्र उत्तर देते है; ''यदि रोग का उपचार नीच जाति का डाक्टर भी करे, तो उससे उपचार कराने में ही भलाई है।''[19]

छठीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच अनेक दलित सन्त कवि हुये, परन्तु उन सभी

18. अश्वघोष– वज्रसूची, उधृत दलित जन उभार पृष्ठ 143।
19. डा० तुलसीराम– 'दलित साहित्य की राजनीतिक अवधारणा' समकालीन सोच चातुर्मासिक 2000 पृष्ठ 17

ने कहीं न कही ब्राहम्ण वाद को ही मजबूत करने में अपनी भूमिका अदा की। नन्दनार, चोखोमेला तथा रविदास जैसे अनेक महान दलित सन्त हुये जिन्होंने समाज सुधारक के बजाय धार्मिक सन्त कवि होना अधिक पसन्द किया। चोखामेला के लिये तो कहा जाता है कि उन्हे तो दलित होना ही नही चाहिये था शायद पिछले जन्म में उन्होंने कोई बुरे काम किये होगें इसलिये वो इस जन्म में दलित हुये अर्थात यदि दलित वर्ग में कोई विद्वान, योग्य या सन्त निकलता है तो सवर्ण उसका विरोध न कर पाने की वजह से यह कहना शुरू कर देते है कि उसे तो दलित होना ही नहा चाहिये था।

दलित सन्त कवियों में एकमात्र कबीरदास जी ही ऐसे कवि थे, जिन्होने वैदिक वर्ण व्यवस्था पर खुला प्रहार किया था। कबीर दास जी द्वारा लिखा गया एक दोहा इस प्रकार है।

"निगुण ब्राहम्ण नही भला, गुरू मुख भला चमार।
देवतन से कुत्ता भला, नित उठि भौके द्वार।।"

मनुस्मृति के दसवें अध्याय के 51-52 वें श्लोक में मनु ने लिखा है कि "दलितो के पात्र मिट्टी के होने चाहिये तथा कुत्ता और गदहा ही इनका धन है। मुर्दो के उतारे कफन ही इनके वस्त्र है। तथा टूटे फूटे बर्तन में इन्हें भोजन कराना चाहिये।"

ऐसे ही मान्यताओं का विरोध कबीर दास जी ने इस दोहे में किया है। क्योकि कबीर इस देश में हिन्दू–मुस्लिम एकता के सबसे बड़े प्रतीक तथा दलितों के गौरव के रूप में जाने जाते है। कबीर दास जी ने कहा है कि –

जो तुम ब्राहम्ण ब्राहम्णी जाया और राह से काहे न आया
जनऊ धालि के ब्राहम्ण बनता। ब्राहम्णी को क्या पहिनाया !!
और के छुये ते लेत हो सींचा तुमते कहहु कौन है नीचा

जब देही को आयो अन्त, जैसा गधा तैसो संत !![20]

सन्त रविदास (रैदास) –

जाति पांति पूछं नही कोई

हरि को भजै सो हरि को होई[21]

सन्त तुकाराम –

वर्ण अभियाने, कोण झाले पावन

ऐसा ध्या साँगून मजपासी[22]

इन ग्रन्थों की समीक्षा करने पर कुछ प्रश्न प्रत्येक बुद्धजीवी के दिमाग में कचोट रहते है कि दलितों के प्रति ब्राहम्णवादी विधान के निर्माताओं ने इतना निर्दयता पूर्ण व्यवहार क्यो किया ? प्राचीन ग्रन्थ केवलनिषेधों का वर्णन करते है। उनमें लिखा है कि दलित उपनयन का अधिकारी नही है किन्तु यह नही बताते कि क्यो ? समस्त बाते तर्कहीन है। दलितों का निषेध उनके व्यक्तिगत चरित्र से सम्बन्धित नही है। यह किसी प्रकार के दोष के भी परिणामस्वरूप नही है। शूद्रों को दंडित इसलिये किया जाय क्योकि वह शूद्र है। यह एक रहस्य है जिसका निराकरण आवश्यक है। और ये सारे प्राचीन ग्रन्थ समस्या के निराकरण में सहायक नही है। इन प्रश्नों के उत्तर वर्तमान में हमें खोजने होगे।

(B) समाज सुधार और दलित

गौतम बुद्ध :

समाज सुधार की बात शुरू करते ही सर्वप्रथम अपने आप ही गौतम बुद्ध का नाम जेहन

20. पैरियर ललई सिंह – शोषितों पर धार्मिक डकैती, 1991 पेज 29
21. पूर्वोक्ति पृष्ठ न० 28।
22. पूर्वोक्ति ।

में आता है क्योंकि गौतम बुद्ध को हम सबसे महान एवं प्रथम समाज सुधारक के रूप में जानते है। समाज सुधार का इतिहास बुद्ध से ही शुरू है और उनकी उपलब्धियां बताये बिना अधूरा रहेगा।

गौतम बुद्ध ने जाति प्रथा की घोर निन्दा की, हालांकि जातिप्रथा उस समय वर्तमान रूप में विद्यमान नही थी। अंतर्जातीय भोजन और अंतर्जातीय विवाह पर निषेध नही था। तब व्यवहार में लचीलापन था। आज की तरह कठोरता नही थी। किन्तु असमानता का सिद्धान्त जो कि जाति प्रथा का आधार है, उस समय सुस्थापित हो गया था, और इसी सिद्धान्त के विरूद्ध बुद्ध ने एक निश्चयात्मक और कठोर संघर्ष छेड़ा। अन्य वर्गो पर अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये ब्राहम्णों के मिथ्याभिमान के वह कट्टर विरोधी थे और उनके विरोध के आधार विश्वशोत्पादक थे। गौतम बुद्ध का कहना था कि–

"जिस प्रकार अपने जीवत का खतरा उठाते हुए माँ अपने शिशु की देखभाल करती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्राणियों के प्रति अपार प्रेम प्रदान करने के लिए मन बनाना चाहिए उसे सम्पूर्ण विश्व के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए। ऊपर नीचे और उस पार सभी के लिए उसके मन में घृणा–हीन और शत्रुता रहित अबाध प्रेम होना चाहिए। ऐसी जीवन पद्धति विश्व में सर्वोत्तम है।"[23)]

वर्ण व्यवस्था के खिलाफ अपनी जंग उन्होने अपने संघ से ही शुरू की जिस पर उनका पूरा नियन्त्रण था। उन्होने दलित मनुष्यों को भिक्षुओं को सर्वोच्य दर्जा दिलाकर उनकी स्थिति को उन्नति की ओर अग्रसर किया साथ ही वह स्त्रियों की स्थिति सुधारने की कोशिश भी करते रहे। बुद्ध ने आर्यो के इस सिद्धान्त की भी निन्दा की कि यदि ऐसे पुरूषों को पढ़ाया जो द्विज नही है तो सामाजिक व्यवस्था के लिये भय उत्पन्न हो जायेगा।

गौतम बुद्ध ने खोज की प्रक्रिया की ओर से लोगो का ध्यान आकृष्ट किया और यह एक

---

23. बाबा साहेब डा० अम्बेडकर– सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड 7 अप्रैल 1995

आन्दोलन ही था। धर्म जाति और भगवान से सम्बन्धित प्रश्नों का उन्होने बड़े ही सहज ढंग से हल प्रस्तुत किया।

बुद्ध की मानवता एवं समानतावादी विचारधारा से जहा भारत का दलित समाज सचेत हुआ वही यहाँ के सवर्ण बौखला उठे। इस विचार धारा से उनका बनाया हुआ साम्राज्य डगमगाने लगा।

इसके बाद अश्वघोष जो कि एक संस्कृत कवि थे तथा ब्राहम्ण भी थे उन्होने अपनी रचनाओं के द्वारा समाज सुधार में महत्वपूर्ण योगदान किया। कबीरदास जी को तो हम सब एक समाज सुधारक के रूप में ही जानते है। मध्य काल में कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से वर्ण व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया हालांकि 10 वीं से 17 वीं सदी के मध्य साहित्य की प्रत्येक भाषा में समाज सुधारकों ने अपनी आवाज बुलंद की। हिन्दी में कबीर, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु कर्नाटक में बसवेश्वर, महाराष्ट्र में नामदेव, एकनाथ और तुकाराम, तमिलनाडु में आलावर सन्त, गुजरात में नरसी मेहता (जिन्होनें शूद्रों को सर्वप्रथम हरिजन कह कर पुकारा था) आदि के नाम प्रमुख है। पर फिर भी हम कबीरदास जी को सबसे बड़े समाज सुधारक के रूप में याद करते है।

समाज सुधारक की इस श्रृंखला में ज्योतिबा फूले. एवं ई. वी. रामास्वामी नायकर के नाम भी उल्लेखनीय है। ज्योतिबा फूले हमेशा दलितों की शिक्षा पर विशेष जोर देते थे। उनका कहना था कि "मात्र विधा के अभाव में यह सब कुछ हुआ अर्थात मति, नीति, गति तथा वित्त औश्र वित्त के अभ।व में ही शूद्र स्वयं नष्ट हुये है।"

महात्मा गांधी :

19 वीं शताब्दी में गान्धी एवं अम्बेड़कर जो कि महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले की परम्परा को आगे बढ़ाते हुये समाज सुधार में जुटे हुये थे। गान्धी के बारे में 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में नेहरू ने लिखा है कि "गान्धी ताजा हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिये पूरी तरह

फैलना और गहरी साँस लेना सम्भव बनाया'' वास्तव में गान्धी हर आँख से आँसू पोछ देना चाहते थे। उन्होने 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। हरिजन शब्द गान्धी के लिये सामाजिक एवं आध्यात्मिक तौर पर उपदेशात्मक था। गान्धी का प्रयास हालांकि लाक्षणिक था पर उन्होने वह सब किया जो वह कर सकते थे। वास्तव में समाज सुधार का यह प्रयास वास्तविक सामाजिक प्रयोग एवं राजनीतिक वातावरण जो कि उस मौजूदा वातावरण में उपस्थित था उन पर आधारित था। गान्धी और अम्बेडकर लगभग एक ही मत के थे पर दोनो के विचारों में कुछ भिन्नतायें थी।

महात्मा गांधी को खलनायक बनाने से पहले यह आवश्यक है कि उनके वक्तव्यों को समय के साथ परखा जाये। उनके हरिजन शब्द इस्तेमाल करने पर बहुतों ने इनका विरोध किया था। जिस पर गान्धी जी ने जबाव दिया था कि 'हरिजन' शब्द उन्हे उनके कुछ निम्न वर्ग के दोस्तों ने सुझाया था और उन्होनें स्वयं ये महसूस किया कि उन लोगो का समूह है जो ईश्वर के बहुत करीब है। उन्हे इसमें कुछ भी दासतापूर्ण समझ नही आया बल्कि उन्होने स्वयं इसी वर्ग में शामिल होने तथा ईश्वर के करीब जाने की इच्छा जाहिर की थी।

अम्बेडकर का गान्धी से हमेशा मतभेद होने के बावजूद अपने अन्तिम वार्तालाप जो कि "पूना पैक्ट" के नाम से जाना जाता है में अम्बेडकर ने महसूस किया कि महात्मा गान्धी आश्चर्य रूप से अपनी खुद की भावनाओं से जुड़े हुये थे और सच्चे मन से दलितों का हित चाहते है।

कुल मिलाकर गान्धी एवं अम्बेडकर के विचारों के विरोध का कोई मतलब नही है क्योंकि उनकी महानता पर कोई प्रश्नचिन्ह नही लगाया जा सकता क्योंकि दोनो के पास समय के साथ ऊँचा उठने की पर्याप्त क्षमता है।

डा० अम्बेडकर :

अम्बेडकर तो दलित चेतना के प्रतीक बन गये है। वे सम्पूर्ण परिवर्तन के पक्षधर थे। वे चाहते थे कि स्वतन्त्रता से पहले भारतीय समाज के दलित वर्ग को स्वतन्त्र किया जाये। डा० अम्बेडकर वर्ण व्यवस्था के प्रवल विरोधी थे। उनका कहना था कि मनुष्य की सब वस्तुओं का प्रमाण

है। अर्थात "मनुष्य का सच्चा मानदण्ड योग्यता है न कि जन्म"(24) यह सर्वमान्य है कि अम्बेडकर ने समाज के अन्दर एक नई जाग्रति लाने में अपना विशेष योगदान दिया और जाति पाँति के बन्धनों में जकड़े भारतीय समाज की बहुसंख्यक दलित जातियों में आत्मसम्मान तथा स्वाभिमान की भावना उत्पन्न करने में अपनी एक अहम भूमिका निभाई। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि अम्बेडकर किसी एक जाति या समुदाय के नेता थे, बल्कि वे एक राष्ट्रीय नेता। वास्तव में वे सामाजिक न्याय के प्रबल पक्षधर थे तथा रूढ़ियों एवं समाज में हो रहे सभी प्रकार के अन्याय के विरोधी थे। अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा, अदम्य क्षमता, दृढ़ निश्चय स्पष्ट उद्देश्य तथा आत्म विश्वास से सराबोर थे। इन्ही आधारो पर उन्होने समाज के दलित तथा वंचित वर्ग के लोगो को शोषण तथा गिरते सामाजिक वातावरण के लिये जिम्मेदार तत्वो से मुकाबला करने के लिये प्रेरित एवं संगठित किया। (25)

सवर्णो में गान्धी सबसे शक्तिशाली समाज सुधारक थे। गान्धी और अम्बेडकर दोनो ही दलितो को ऊँचा उठाना चाहते थे फिर वे एक ही लक्ष्य के लिये परस्पर मिलकर क्यों नहीं लड़ सके ? क्योंकि विचारों की दृष्टि से दोनों में जमीन आसमान का अन्तर था अम्बेडकर पुर्नजन्म और कर्म के सिद्धान्त को नही मानते थे जबकि गान्धी जी चाल चातुर वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे तथा धर्म में गहरी आस्था रखते थे।

इसी श्रेणी में राहुल सांस्कृत्यायन का जिक्र बहुत आवश्यक है। जो कि स्वंय ब्राहम्ण होकर वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे कारण यह भी हो सकता है कि वह बौद्ध धर्म से प्रभावित थे तथा बाद में वो स्वयं बौद्ध हो गये। वह जाति–पाँति व्यवस्था को ऋषि मुनियों का वह अविष्कार मानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्रीयता के पथ पर पैर रखने वालो को समझना चाहिये कि उन्हे जाति–पाँति की दीवारे गिरानी होगी अन्यथा वह एक सफल राष्ट्रीय नेता नही रह पायेगा। इसका अर्थ यह है कि वह उन नेताओं पर व्यंग्य करते है जो जाति की ओट में राजनीति कर के जातिवाद को आज भी बढ़ावा दे रहे है।

---

24. बी०आर० अम्बेडकर : द बुद्ध एण्ड हिज थम्स, 1997. सपृष्ठ 306
25. रविराय : लेख "डा० बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर", प्रतिपक्ष अप्रैल 1991.

सांकृत्यायन की तरह ही प्रेमचन्द्र भी साहित्यकार होने के साथ ही समाज सुधारक भी थे। प्रेमचन्द्र की प्रत्येक रचना में जाति–पाँति का विरोध नजर आयेगा। प्रेमचन्द्र कहते है कि साहित्य की अदालत समाज है। और उसका चर्मोत्कर्ष दलितों वंचितों की पक्षधरता है। प्रेमचन्द्र अपनी युगीन परिस्थितियों से गहराई तक जुड़े थे। अपने जमाने के दुख दर्द से उनकी रचनाधर्मिता प्रभावित थी। यहीं वजह है कि दलितों का दुख उनकी अधिकतर रचनाओं में नजर आता है।

सामाजिक रूढ़िवाद की परिणति जिस मानव विरोधी एवं अंधी मानसिकता वाली पवित संस्कृति से होती है। इसका चित्र उन्होने **प्रेमाश्रय** मं तेजशंकर एवं पदमशंकर के भैरव मन्त्र के माध्यम से अमरत्व प्राप्ति का वर्णन किया। **ठाकुर का कुँआ** कहानी में जातिभेद एवं छुआछूत के विरूद्ध अछूत गंगी के उद्‌गार उल्लेखनीय है। – "हम क्यों नीच है ये लोग क्यो ऊँचे है[26] ? इसलिये कि ये लोग गले में तागा ड़ाल लेते है ? यहाँ तो जितने है एक से एक छँटे है। चोरी ये करे जाल फरेब थे करे फिर भी मुँह से हमसे ऊँचे है। कभी गाँव में आ जाती हूँ तो रस भरी आखो से देखने लगते है। जैसे सब की छाती पर साप लोटने लगता है, परन्तु घमण्ड यह कि हम ऊँचे है।"

सौभाग्य के कौड़े, मन्दिर, मन्त्र, ब्रह्ममा का स्वाँग आदि कहानियों में भी अस्पृश्यता को प्रेमचन्द्र ने अपना विषय बनाया है। लोकमान्य तिलक ने भी छुआछूत की तीव्र आलोचना की पर कभी भी वह इन कुरीतियों को समाप्त करने के लिये कोई ठोस कार्यक्रम नही बना पाये। गान्धी जी ने उसी समय घोषणा की थी कि छुआछूत के खिलाफ संघर्ष, आजादी के संघर्ष से कम महत्वपूर्ण नही है। लगभग उसी समय केरल में दो महत्वपूर्ण घटनाये हुयी जिससे छुआछूत के खिलाफ चल रहे संघर्ष को नई दिशा दी।

26. आशा कौशिक – गान्धी चिन्तन (तुलनात्मक परिपेक्ष्य) भाग–२, प्रिण्टवेल जयपुर 1995

वायकोम सत्याग्रह -

केरल में छुआछूत का रोग गहरी जड़े जमाये हुये था। वहाँ 'एझवा' और 'पुलैया' अछूत जातियाँ थी जिनको सवर्णो से 16 से 32 फुट की दूरी बनाये रखनी पड़ती थी। 19 वीं सदी की समाप्ति के समय से ही इन कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष शुरू हो गया। बहुत से बुद्धिजीवी एवं समाज सुधारक केरल में इसके खिलाफ संघर्ष शुरू कर दिये। जिनमे नारायण गुरू, एन. कुमारन, और टी. के. माधवन के नाम उल्लेखनीय है।

त्रावनकोर के एक गाँव वायकोम से इन आन्दोलन की शुरूआत की गई। 30 मार्च 1924 को काग्रेसियों के नेतृत्व में सवर्णो और अवर्णो का एक जुलूस छुआछूत कानून की अवहेलना करता हुआ मन्दिर पहुंचा।

वायकोम सत्याग्रह से पूरे देश में उत्साह की एक लहर सी आ गयी। ई. वी. रामास्वामी नायकर ने (जिन्हें हम पेरियार के नाम से भी जानते है) मदुरै से एक जत्थे का नेतृत्व इसी आन्दोलन के तहत किया और वे जेल भी गये। मार्च 1925 में गान्धी जी ने केरल का एक दौरा किया वहाँ की महारानी और अधिकारियों से मुलाकात की। अन्ततः एक समझौता हुआ कि मन्दिरों के बाहर की सड़के तो उनके लिये खोल दी गयी पर मन्दिर के भीतर अभी भी दलितों का प्रवेश वर्जित था। चूँकि दलित मन्दिर के भीतर नही जा सकते तो गान्धी भी अपने केरल यात्रा के दौरान किसी भी मन्दिर में भीतर नही गये।

गुरूवायूर सत्याग्रह -

केरल में ही एक बार फिर इस संघर्ष ने जोर पकड़ा। के० के० लप्पण के उकसाने पर केरल प्रदेश काँग्रेस कमेटी ने 1931 में मन्दिर प्रवेश का सवाल फिर उठाया। तथा 1931 को गुरूवायूर में मन्दिर प्रवेश सत्याग्रह छेड़ने का निर्णय लिया। पीत सुब्रहमण्यम तिरूमाबू के नेतृत्व में 16 स्वयंसेवको का एक जत्था 21 अक्टूबर को कन्नामूर से गुरूवायूर की ओर पैदल मार्च करता हुआ

चल पड़ा। इस जत्थे में सबसे पिछड़ी जाति हरिजन से लेकर सबसे ऊँची जाति, नंबूदरी तक के लोग शामिल थे। छुआछूत विरोधी इस आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ा और इसे गजब का समर्थन भी मिला। यहाँ तक कि तमाम दर्शनार्थियों ने अपने चढ़ावे को पुजारी को देने के बजाय सत्याग्रहियों को दे दिया। उन्हे लगा कि सत्याग्रहियों का शिविर शायद मंदिर से भी ज्यादा पवित्र था।

21 सितम्बर 1932 को के० केलप्पण आमरण अनशन पर बैठ गये और कहा कि जब तक मन्दिर के दरवाजे दलितो के लिये नही खुलेंगे वो अनशन नही तोड़ेंगे पर दरवाजे फिर भी नही खुले। अन्ततः गान्धी जी के अनुरोध पर 2 अक्टूबर 1932 को उन्होने अनशन खत्म किया। तथा मन्दिर प्रवेश के लिये आन्दोलन चलता रहा तथा और भी तेज हो गया।

ए० के० गोपालन ने अपनी आत्मकथा में लिखा कि "हालांकि गुरूवायूर मन्दिर के दरवाजे अवर्णो के लिये अब भी बन्द थे, पर ये आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रेरणादयी साबित हुआ। इसके चलते हर जगह सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया शुरू हुई।" (27)

नवम्बर 1936 में त्रावनकोर के महाराज ने एक आदेश जारी कर सरकार नियन्त्रित सभी मंदिरों को हिन्दुओं की सभी जातियों के लिये खोल दिया। मद्रास में 1938 में सी० राजगोपालाचारी के नेतृत्व वाले मन्त्रिमण्डल ने भी ऐसा ही किया।

भारतवर्ष में जातिभेद, जातीय असमानता और इससे जुड़ी अन्य कुरीतियों की जड़े समाज में इतनी गहराई से बैठी हुई है कि महज मंदिर प्रवेश आन्दोलन की सफलता से ये समाप्त होने वाली नही थी। हालांकि स्वाधीन भारत के संविधान में इस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव दिखाई पड़ा, जातीय असमानता को नकारा गया, छुआछूत को अपराध घोषित किया गया। और सभी नागरिकों को समान अवसर देने का वादा किया गया परन्तु जातिवाद की जड़े और भी मजबूत होती चली गयी और आज भी है।

---

27. प्रो० विपिन चन्द्रपाल– भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, पृष्ठ 178.

असमानता मूलतः और अन्ततः सामाजिक ही है इसलिये इससे सामाजिक धरातल पर ही निपटना होगा। भारत में इसकी सबसे बड़ी शरण स्थली जाति प्रथा है जो जन्म लेते ही किसी एक बच्चे को ब्राहम्ण तो दूसरे को दलित बना देती है। यह सच है कि इस मानव निर्मित असमानता की निरर्थकता का बोध जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे इसके खिलाफ लोगो का असन्तोष भी प्रबल होता गया। प्राचीन काल में बुद्ध से लेकर कबीर तथा आधुनिक काल में ज्योतिवा फूले, महात्मा गान्धी, डा० अम्बेडकर, रामा स्वामी नायकर और डा० राममनोहर लोहिया ने सामाजिक क्षमता के लिये अथक संघर्ष किया आधुनिक काल के समता संघर्ष की मुख्य विशेषता यह रही कि इस संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा गया पहले इसे मुख्यतः सामाजिक सुधार के रूप में ही लिया जाता था। इन सभी समाज सुधारको के समवेत प्रयास से निः सन्देह दलितो को आज बेहतर स्थिति मिली और बराबर आगे बढ़ने को दलित धर्म संघर्षरत एवं प्रयत्नशील है।

(C) स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं दलित राजनीति (पूना पैक्ट)

पूना पैक्ट :

दलितों का संघर्ष स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ–साथ ही पनपा है। 1932 में अंग्रेजों की एक नीति सामने आयी जिसके तहत मुसलमान, सिख, ईसाई के साथ साथ दलितों को भी अल्पसंख्यक करार दिया गया और प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय के लिये विधानमंडलो में कुछ सीटे सुरक्षित की गयी। जिनके लिये सदस्यों का चुनाव पृथक निर्वाचन मण्डल से होना था। इस तरह से दलित वर्ग को हिन्दू धर्म से अलग कर दिया गया। दलित वर्ग को शेष हिन्दू समाज से अलग करने के प्रयास का लगभग सभी राष्ट्रवादी नेताओं ने विरोध किया। गान्धी उस समय यरवदा जेल में थे यह खबर मिलते ही उन्होने इसका कड़ा विरोध किया। उन्होने इस भारतीय एकता पर हमला कहा तथा हिन्दूवाद और दलित वर्ग दोनो के लिये खतरनाक कहा उनका मानना था कि यदि एक बार पिछड़े और दलित वर्ग को पृथक समुदाय का दर्जा दे दिया गया, तो फिर छुआछूत को खत्म करने का मामला ही दब जायेगा और हिन्दू समाज के सुधार का क़ाम रूक जायेगा। इस प्रकार

1932 क्रिश्चियन कैलेण्डर में सीमा चिन्ह बनकर रहेगा । और नये युग में दलितों का आना जाना लगा रहेगा ।17 अगस्त 1932 में ब्रिटिश सरकार ने अछूतों के लिए एक पृथक निर्वाचक मण्डल बनाने की घोषणा की ।(28)

पृथक निर्वाचन मण्डल का सबसे बड़ा खतरा यह है कि वह अछूतों के हमेशा अछूत बने रहने की बात सुनिश्चित करता है। दलित के हितों की सुरक्षा के नाम पर विधानमंडलों में या नौकरियों में सीटे सुरक्षित करने की जरूरत नही है, उन्हे अलग समुदाय बनाने की जरूरत नही है, जरूरत है समाज से छुआछूत की कुरीति को जड़ से उखाड़ फेंकने की। 30 जनवरी 2000 के पायनियर ने ठीक ही लिखा है कि– [Many people know about the poona pact and its consequences. It made Dalit leadership a toothless tigers but saved Gandhi ji from a sure death.]

गान्धी जी ने मांग की कि दलित वर्ग के प्रतिनिधियों का चुनाव व्यस्क मताधिकार के आधार पर आम निर्वाचन मण्डल के माध्यम से होना चाहिये। साथ ही गान्धी जी ने दलित वर्ग के लिये काफी संख्या में सीटे सुरक्षित करने की माँग का विरोध नही किया। अपनी माँग मनवाने के लिये वह 20 Sep. 1932 से आमरण अनशन पर बैठ गये। अपने एक बयान में उन्होने कहा कि "मुझे अपनी जिन्दगी की परवाह नही। इस पवित्र उद्देश्य के लिये यदि ऐसी सैकड़ो जिन्दगियाँ कुरबान हो जाये। तो भी उस जुल्म का प्रायश्चित नही हो सकता, जो हिन्दुओं ने अपने ही असहाय भाइयों पर ढ़ाए है।" (29)

इन अनशन के फलस्वरूप लगभग सभी जगहो पर 20 Sep. का दिन 'उपवास और प्रार्थना दिवस' के रूप में मनाया गया है। पूरे देश में कुएं, मंदिर वगैरह दलितों के लिये खोल दिये गये है। विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के नेता, जिनमें मदनमोहन मालवीय, एम० सी० रजा और

---

28. पूर्वोक्ति पृष्ठ – 229.
29. The pioneer, 30 January 2000, 'BETRAYALS' "Poona Pact"

बी० आर० अम्बेडकर भी शामिल थे, सक्रिय हो गये। अंततोगत्वा एक समझौता हुआ, जिसे **पूना समझौता** (पूना पैक्ट) के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के तहत दलित वर्गो के लिये पृथक निर्वाचन मण्डल समाप्त कर दिया गया, लेकिन प्रान्तीय विधान मंडलो में दलितो के लिये सुरक्षित सीटो की संख्या 71 से बढ़ाकर 147 कर दी गई।[30] केन्द्रीय विधान मण्डल (सेंट्रल लेजिस्लेचर) में सुरक्षित सीटों की संख्या में 18 प्रतिशत की वृद्धि की गई। आम चुनाव की सीटों में से प्रान्तीय विधान सभाओं में अछूतों के लिए निम्न लिखित हिसाब से सीटें सुरक्षित की जायेगीं[31]–

प्रान्त		सुरक्षित सीटें
1.	मद्रास	30
2.	बम्बई (सिन्धसमेत)	15
3.	पंजाब	8
4.	विहार–उड़ीसा	21
5.	मध्य प्रान्त	20
6.	असम	7
7.	बंगाल	30
8.	उत्तर प्रदेश	20
योगः–		151

इस समझौते के पश्चात गान्धी जी लगभग 2 साल तक सारा कामकाज छोड़कर 'छुआछूत निवारण आन्दोलन' में जुटे रहे। 7 Nov. 1933 को वर्धा से गान्धी जी ने अपनी 'हरिजन यात्रा' आरम्भ की छुआछूत उन्मूलन के लिये जबरदस्त प्रचार किया। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से सब कुछ छोड़कर हरिजनों के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक उत्थान के लिये काम करने की अपील की। गान्धी जी ने सवर्णो से कहा कि "या तो वे छुआ–छूत को जड़ से समाप्त करे या फिर मुझे अपने बीच से हटा दे।"

30. प्रो० विपिन चन्द्रपाल – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ – 229
31. डा० अंगनेलाल– बाबा साहब डा० अम्बेडकर जीवन और दर्शन, पेज न० 62 ।

पूना पैक्ट के बाद से ही दलितों पर अत्याचार के खिलाफ गान्धी जी की आवाज दिन व दिन प्रखर होती रही। उनका कहना था कि यदि किसी शास्त्र या किताब में इस कुरीति को मान्यता भी दी गयी तो भी हरिजन को चिन्ता नही करनी चाहिये, क्योकि **सत्य किसी पुस्तक का बधंक नहीं है**। यदि शास्त्र मानव गरिमा की अवहेलना करते है तो उन्हे नकार दिया जाना चाहिये।

चूँकि अम्बेडकर गान्धी जी के प्रबल आलोचक थे, उन्हे गान्धी जी पर विश्वास नही था परन्तु गान्धी जी ने अम्बेडकर या अन्य दलित नेताओं की आलोचना का कभी बुरा नही माना उनका कहना था कि "मुझ पर भरोसा न करने का उन्हे पूरा हक है। आखिर मैं भी तो उसी तथाकथित उच्च वर्गीय हिन्दू समाज का हूँ जिसने दलितों का शोषण एवं उन पर अत्याचार किये है।" गान्धी जी हिन्दू समाज को हमेशा चेतावनी देते थे कि यदि छुआछूत खत्म नही किया तो हिन्दू समाज खत्म हो जायेगा। उनका मानना था कि प्रत्येक सवर्ण को अपनी इस गलती पर प्रायश्चित करना चाहिये।

अम्बेडकर के अनुसार अछूत जाति प्रथा की ही देन है। जब तक जाति–प्रथा कायम रहेगी अछूत बने रहेगे। जाति प्रथा को समाप्त किये बिना अछूतोद्वार असम्भव है पर गान्धी जी अम्बेडकर के इस विचार से असहमत थे। वो वर्णाश्रम को नही छुआछूत को पाप मानते थे। उनका कहना था कि छुआछूत जातिप्रथा के कारण नही बल्कि यह तो उच्च और निम्न के कृत्रिम बँटवारे का प्रतिफल है। जातियां यदि एक दूसरे की पूरक होकर काम करे तो जातिप्रथा में कोई बुराई नही है, कोई जाति न ऊँची है न नीची।

पूना पैक्ट से पूर्व जब गान्धी जी से संकल्प ने सारे देश में सनसनी फैल गयी। तब पंडित मदन मोहन मालवीय ने इस समस्या का हल निकालने के लिये 19 Sep. को मुम्बई में एक परिषद का आयोजन किया। गान्धी जी और अम्बेडकर की आपसी बातचीत भी हुई। गान्धी जी ने उनसे कहा "आप जन्म से अस्पृश्य है, मैं मन से अछूत हूँ। हम सब एक है, अविभाज्य है अभंग है।

हिन्दू समाज का विघटन टालने के लिये मैं अपने प्राण तक न्यौछावर करने के लिये कृत संकल्प हूँ।"(32) अन्ततः अम्बेडकर ने गान्धी जी की बात मान ली।

24 Sep. 1932 में दोनो पक्ष के नेताओं ने उस समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसी समझौते का हम "पूना पैक्ट" के नाम से जानते है। इस इकरारनामें पर अस्पृश्यों की तरफ से अम्बेडकर ने तथा हिन्दुओं की तरफ से मदन मोहन मालवीय ने हस्ताक्षर किये। पूना पैक्ट के बाद 25 सितम्बर 1932 को बम्बई में प० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में सम्पन्न एक कान्फ्रेंन्स में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित किया गया–

"यह सभा निश्चित करती है कि आज से हिन्दू जाति में किसी को जन्म से अछूत नहीं समझा जायेगा। जिन्हे अब तक अछूत समझा जाता रहा उन्हे अन्य हिन्दुओं की भाँति ही कुओं, तालाबों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने का अधिकार रहेगा। मौका मिलते ही इस अधिकार को कानून का स्वरूप दे दिया जायेगा।(33)

26 Sep. को ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने इस समझौते को पर्लियामेंट में स्वीकृत करवा दिया। इस समझौते से डा० अम्बेडकर के नेतृत्व को चार चाँद लग गये। एक बार फिर वे नेतृत्व की कसौटी पर खरे उतरे। पुणे के इस समझौते के अनुसार अब अस्पृश्यों को 71 के बजाय 148 स्थान मिले और उन्हे अपनी जनसंख्या से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया।

---

32. विपिन चन्द्रपाल भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष ।
33. डा० भंगुने लाल वर्मा–बाबा साहब अम्बेडकर जीवन और दर्शन पृष्ठ 62

चतुर्थ अध्याय

भारतीय संविधान एवं दलित अधिकार

(A) दलित के राजनीतिक अधिकार

(B) दलित के शैक्षणिक अधिकार

(C) कानूनी कार्यक्रमों में दलित उपबन्ध

भारतीय संविधान एवं दलित अधिकार

26 जनवरी 1950 के भारतीय संविधान लागू होने के बाद अनुच्छेद 16 (4) पर संविधान सभा के सदस्यों के बीच एक जोरदार बहस हुइं। ड्राफ्ट अनुच्छेद 10 (3) अनु० 16 (4) का ही पूर्ववर्ती था जो कि इस प्रकार है।

(i) ड्राफ्ट अनुच्छेद 10 (3) -

ड्राफ्ट अनुच्छेद 10 (3) जो कि संविधान के अनु० 16 (4) का पूर्ववर्ती था, मूलतः निम्नलिखित रूप में संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया था।

"इस अनुच्छेद में कोई चीज राज्य को नागरिकों के किसी वर्ग जिनका राज्य की राय में, राज्य के अन्तर्गत सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही है, के पक्ष में नियुक्तियों या पदों में आरक्षण करने के किसी प्रावधान के बनाने से नही रोकेगा।"(1)

बाद में ड्राफ्ट कमेटी ने स्वतः उक्त अनु० में शब्द "पिछड़ा" (back ward) को शब्द "वर्ग" (class) के आगे जोड़ दिया।

संविधान सभा में बहस -

संविधान सभा में ड्राफ्ट अनु० 10 (3) पर जोरदार बहस 30 नवम्बर 1948 को हुई अर्थात यह बहस तब हुई जब भारत को स्वतन्त्रता मिल चुकी थी। कई संशोधन भी प्रस्तुत किये गये और हृदयनाथ कुंजक ने जो संशोधन प्रस्तुत किया उसके अनुसार ड्राफ्ट अनु० 10 (3) में शब्द "इस संविधान के लागू होने के बाद 10 वर्ष की अवधि के अन्दर" जोड़े जाने थे। कुंजक ने अपने तर्कों में जोर दिया कि चूँकिः संविधान में "पिछड़ा" शब्द परिभाषित नही किया गया है, इसलिये

1. आचार्य शुकलेन्द्र–"आरक्षण की राजनीति और संविधान की कराह"1995 इला. प्रकाशन पृ०–44

इसका अर्थ अस्पष्ट है, जिस कारण यह उचित नही होगा कि उक्त अनुच्छेद अनिश्चित काल के लिये लागू रहे। अजीम अहमद खाँ ने तो शब्द ''पिछड़ा'' को ही निकाल जाने का संशोधन प्रस्तुत किया। [2]

अनुच्छेद की आवश्यकता -

संविधान सभा के उपाध्यक्ष डा० एच० सी० मुकर्जी ने अनु० 10 (3) पर सामान्य चर्चा प्रारम्भ करने के पूर्व कहा – ''वह खण्ड जो अभी तक चर्चा का विषय रहा है। हमारी जनसंख्या के निश्चित भागों को विशेष रूप से प्रभावित करता है – वे भाग जिनके प्रति अतीत में निर्दयता से व्यवहार किया गया – और यद्यपि हम लोग आज अपने पूर्वजों के दुष्कृत्यों की क्षतिपूर्ति करने को तैयार है।

अतः डा० मुकर्जी के संबोधन से स्पष्ट होता है कि ड्राफ्ट अनुच्छेद 10 (3) की आवश्यकता इसलिये महसूस की गयी क्योंकि अतीत में भारत की जनसंख्या के कुछ हिस्सों के प्रति निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया गया था। अब समझने लायक बात यह है कि यद्यपि 'निर्दयता पूर्ण व्यवहार' को उक्त अनुच्छेद का प्रेरणा स्रोत माना गया लेकिन यह नही समझा गया कि उक्त निर्दयतापूर्ण व्यवहार क्या राज्य ने किया था और यदि हाँ तो कब तक, क्योकि तथ्य यह है कि संविधान राज्य के शरीर की संरचना होता है, अतः राज्य के कुकृत्यों पर ही संविधान द्वारा रोक लगायी जाती है।

संविधान सभा की बहस में सदस्यों की राय -

ड्राफ्ट अनु० 10 (3) पर संविधान सभा में जो बहस हुयी उसमें सदस्यों की समझ का सारांश निम्न है।

1. संयुक्त प्रान्त के सामान्य सदस्य डा० धर्म प्रकाश की राय थी – ''प्रत्येक समुदाय में पिछड़े लोग है। मैं व्यक्तिगत रूप से विश्वास करता हूँ कि यदि सेवाओं में पिछड़े वर्गो के लिये कोई

---

2. ''संविधान सभा बहसें'' खण्ड 7, पृष्ठ 679 - 89.

आरक्षण होता है, तो यह देखना आवश्यक है कि वर्तमान स्थिति क्या है और भविष्य में वर्ग विशेष जो सदियों से पिछड़ा है, चाहे धार्मिक रूप से या आर्थिक रूप से या सामाजिक रूप से, क्या होना है ? .... इसलिये मैं निवेदन करता हूँ कि शब्द "पिछड़ा वर्ग" को शब्द "दलित वर्ग" या "अनुसूचित वर्ग" द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाये जिससे अर्थ स्पष्ट हो .... हरिजन लोग निश्चित रूप से पिछड़े है और उनके लिये कुछ समय के लिये आरक्षण उचित होगा लेकिन कुछ समय के लिये ही।"

2. मद्रास के सामान्य सदस्य पी कक्कन की राय थी कि सेवाओं में हरिजनों के लिये कुछ समय तक आरक्षण दिया जाना चाहिये।

3. मैसूर के सदस्य टी चैन्नैया के अनुसार – "दक्षिण भारत में "पिछड़ा वर्ग" या तो सामाजिक रूप से या शैक्षिक रूप से पिछड़ा होता है। केवल वही वर्ग जो ड्राफ्ट अनु० 10 (3) में स्थान पाने योग्य नही है जो आर्थिक रूप से पिछड़े नही है क्योकि आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के लोगों की वास्तव में अनु० 10 (3) के शब्द "पिछड़ा" में अभिरूचि नही है।"

4. उड़ीसा के शान्तनु कुमार दास की राय में हरिजनों और अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण देना बहुत जरूरी है।

5. टी० टी० कृष्णमचारी के अनुसार – "क्या मैं पूछ सकता हूँ कि नागरिकों का पिछड़ा वर्ग कौन है ? यह पिछड़ी जाति के लिये लागू नही होता। यह अनुसूचित जाति या किसी विशेष समुदाय के लिये लागू नही होता। मेरा कहना है कि भविष्य में "पिछड़ा" और "अँगड़ा" या गैर पिछड़ा में विभाजन का आधार साक्षरता है, के आधार में ही हो सकता है यदि विभाजन का आधार साक्षरता है तो हमारी जनता का 80% नागरिकों के पिछड़े वर्ग में आयेगी, अन्तिम निर्णय कौन देगा? शायद सर्वोच्य न्यायालय यह निर्माताओं के अभिप्राय की खोज करेगा कि कौन पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में आता है। यह जाति नही कहतां, यह वर्ग कहता है। क्या यह वर्ग आर्थिक स्थिति परआधारित है ? या साक्षरता पर या जन्म के कारणों पर ? यह क्या है ....मैं यह अनुभव करने को बाध्य हूँ कि यह खण्ड बहुत मुकदमें–वाजी पैदा करेगा।"

ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर ने उपुर्यक्त बहस का जो उत्तर दिया वो इस प्रकार है।

डा० अम्बेडकर का उत्तर -

डा० अम्बेडकर ने सामान्य कथन से कहना आरम्भ किया कि "यदि सदस्य इस विषय पर अपने मतों का विनिमय करे तो वे पायेगे कि इसमें 3 दृष्टिकोण है जिनका सामंजस्य करना हमारे लिये आवश्यक है। यदि हम किसी कार्यकारी सिद्धान्त को उत्पन्न करना चाहते है जो सबको स्वीकार्य हो। तीन दृष्टिकोणों में से प्रथम यह है कि सभी नागरिकों के लिये अवसर की समानता होगी। इस सदन के बहुतत से सदस्यों की यह इच्छा है कि प्रत्येक व्यक्ति जो किसी पद के योग्य है, को उस पद के लिये आवेदन करने, परीक्षा में बैठने और अपनी योग्यताओं की इस उद्देश्य से जाँच कराने के लिये कि वह पद के योग्य है या नही, स्वतन्त्र होना चाहिये और कोई सीमायें नही होनी चाहिये, अवसर की समानता के उस सिद्धान्त में लागू होने में कोई बाधा नही होनी चाहिये।

दूसरा मत जो सदन के एक भाग द्वारा अत्यधिक माना गया है यह है कि यदि सिद्धान्त लागू होना है – और उसके निर्णय में इसे पूरे विस्तार के साथ लागू होना चाहिये – किसी वर्ग या समुदाय के लिये किसी प्रकार का कोई आरक्षण कतई नही होना चाहिये, सभी नागरिको, यदि वे योग्य है, को लोक सेवाओं के सम्बन्ध में समानता के बराबर स्तर पर रखा जाना चाहिये। यह दूसरा दृष्टिकोण है। उसके बाद हमारे पास एक अत्यन्त बड़ी राय है जो जोर देती है कि, यद्यपि सिद्धान्त रूप से यह ठीक है कि अवसर की समानता होनी चाहिये, तथापि उसके साथ ही कुछ समुदायो के प्रवेश के लिये जो अब तक प्रशासन से बाहर रहे है एक प्रावधान होना चाहिये। जैसे मैने कहा ड्राफ्ट कमेटी को एक नियम बनाना था जो तीनों दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

उनका कहना था कि अनुच्छेद 10 (3) में निहित सिद्धान्त से कोई अन्य अच्छा सिद्धान्त नही बनाया ज़ा सकता यह एक सामान्य सिद्धान्त है, साथ ही जैसा मैने कहा हमें इस सिद्धान्त का कुछ समुदायों द्वारा की गयी माँग से सामंजस्य स्थापित करना था कि प्रशासन जो अब तक ऐतिहासिक कारणों से एक समुदाय या कुछ समुदायों द्वारा नियन्त्रित किया गया है। वह स्थिति समाप्त की जानी चाहिये। और अन्य को भी लोक सेवाओं में प्रवेश पाने का अवसर मिलना चाहिये मैं एक उदाहरण देता हूँ कि कल्पना कीजिये एक समुदाय या समुदायों के समूह को ऐसा आरक्षण

दिया गया जो राज्य के अन्तर्गत कुल पदों का 70% हुआ और केवल 30% अनारक्षित है। क्या कोई यह कह सकता है कि सामान्य प्रतिस्पर्धा के लिये बचाया गया यह 30% प्रथम सिद्धान्त अर्थात अवसरों की समानता होगी, को पूर्ण प्रभाव देने की दृष्टि से सन्तोषजनक होगा ? मेरे निर्णय में ऐसा नहीं हो सकता। यदि माननीय सदस्य इस स्थिति को समझे कि हमे दो चीजें अर्थात अवसर की समानता का सिद्धान्त और साथ ही उन समुदायों जिन्हे अब तक राज्य में प्रतिनिधित्व नही मिला है, की माँग की सन्तुष्टि की सुरक्षा करना है तो मुझे विश्वास है कि वे सहमत होगे कि यदि आप पिछड़ा जैसे शब्द नही प्रयोग करते तो आरक्षण के पक्ष में किया गया अपवाद अन्ततः नियम को पूरी तरह समाप्त कर देगा। लेकिन मैं सोचता हूँ कि माननीय सदस्य यह अनुभव करेगे कि ड्राफ्ट कमेटी जिसका एक से अधिक कारणों से कभी ढ़ीला ड्राफ्ट, कभी कोई चीज जो उपुर्यक्त नही है आदि–आदि बनाने के लिये उपहास किया गया है, अपने को और आक्रमण के लिये खुली छोड़ती है कि उसने ऐसा ड्राफ्ट संविधान बनाया है जिसमें अपवाद इतना बड़ा था कि इसने नियम को क्रियान्वित होने की कोई गुंजाइश नही छोड़ी। मैं समझता हूँ कि यह पर्याप्त औचित्य है कि शब्द "पिछड़ा" क्यो प्रस्तुत किया गया है .... कुछ लोगो ने मुझसे पूछा : 'समुदाय क्या है ? "मैं समझात हूँ कि जो कोई ड्राफ्ट की भाषा को पढ़ेगा वह पायेगा कि हमने इसे प्रत्येक स्थानीय सरकार द्वारा निर्धारित करने के लिये छोड़ दिया है। एक पिछड़ा समुदाय वह समुदाय है जो सरकार की राय में पिछड़ा है।" (3)

अनुच्छेद 16 (4) -

ड्राफ्ट अनुच्छेद 10 (3) में "पिछड़ा" शब्द "वर्ग" शब्द के साथ जोड़कर संविधान सभा ने पारित कर दिया जो कि अब अनुच्छेद 16 (4) है। ड्राफ्ट अनु० 10 (3) में हृदयनाथ कुँजरू द्वारा एक संशोधन प्रस्तुत किया गया था जिसके अनुसार शब्द "इस संविधान के लागू होने के बाद 10 वर्ष की अवधि के अन्दर" जोड़े जाने थे। लेकिन यह संशोधन संविधान सभा द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इसका मतलब है कि अनुच्छेद 16 (4) की व्यवस्था शाश्वत है। यह भी सच है कि अम्बेडकर ने अपने उत्तर में उक्त संशोधन के बारे में कुछ नहीं कहा। ऐसा क्यों ? क्या इसका

3. देखिये 'संविधान सभा बहसें' खण्ड 7 पृष्ठ 701 - 02. ।

तात्पर्य यह है कि इस अनु० द्वारा की गयी आरक्षण की व्यवस्था सर्वदा के लिये है ?

यह ध्यान देने योग्य है कि अम्बेडकर के अनुसार यदि "पिछड़ा" शब्द नहीं जोड़ा गया होता तो आरक्षण के अपवाद द्वारा अवसर की समानता का मौलिक अधिकार ही समाप्त हो गया होता। पिछड़े वर्ग के आरक्षण की व्यवस्था भी तब जरूरी समझी गयी कि जब यह पाया गया कि ड्राफ्ट अनु० 10 (3) पर बहस किये जाने के समय तक कुछ समुदायों का प्रशासन में प्रतिनिधित्व नही था। अम्बेडकर के मत के अनुसार आरक्षण केवल अपवाद है और उसकी व्यवस्था की आवश्यकता भूतकालीन परिस्थितियों के कारण करनी पड़ी। इसलिये यह व्यवस्था शाश्वत नही हो सकती, अन्यथा संविधान का समानता का मौलिक अधिकार ही बाधित हो जायेगा और संविधान निर्माता उस अधिकार को बाधित करने की कोई अनुमति देने को तैयार नही थे। [4] अतः निः सन्देह आरक्षण की व्यवस्था अत्यन्त काल्पनिक है जैसा कि संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने स्पष्टतः अपेक्षा भी किया था कि ऐसी व्यवस्था कुछ समय के लिये ही होनी चाहिये।

अतः जब संविधान लागू हुआ तो उसी समय लोक सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था सरकार को करनी थी। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये उस प्रकार व्यवस्था Sep. 1950 में ही की भी गयी और काकाकालेलकर की अध्यक्षता में एक पिछड़ा वर्ग आयोग 29 Jan. 1953 को संविधान के अनु० 340 के अन्तर्गत नियुक्ति भी किया गया। लेकिन उस आयोग की रपट में कमियाँ पाये जाने के कारण उसे कार्यान्वित नही किया गया।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अनु० 16 किस उद्देश्य से बनाया गया ? क्या यह आशंका थी कि यदि इस प्रकार का अनु० संविधान में नही रहेगा तो नागरिको को लोक सेवाओं में समान अवसर नहीं मिलेगा ? ऐसी कोई सम्भावना नही थी क्योकि संविधान – निर्माता काफी परिपक्व बुद्धि के लोग थे और भारतीय संविधान बनाते समय अन्य देशो के संविधानों का भी अध्ययन किया गया था। इसलिये संविधान निर्माताओं की चिन्ता का विषय यह नही था कि संविधान के लागू होने पर

---

4. देखिये ऊपर ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष अम्बेडकर का उत्तर।

नागरिकों को लोक सेवाओं में समान अवसर नही मिल पायेगा, बल्कि उनकी चिन्ता इस बात की थी कि भूतकाल में नागरिकों के जिन समुदायों को "ऐतिहासिक कारणों" से लोक सेवाओं में प्रवेश नही मिल पाया था उनके लिये आरक्षण की व्यवस्था की जाये जिससे भूतकाल में उनके ऊपर किये गये "निर्दयता पूर्ण व्यवहारों" की क्षतिपूर्ति की जा सके। यह संविधान सभा में ड्राफ्ट अनु० 10 (3) पर की गयी बहसों के अम्बेडकर द्वारा दिये गये उत्तर से स्पष्ट है। [5] अतः यह कहना कि अनु० 16 (4) की व्यवस्था शाश्वत है संविधान निर्माताओं के मन्तव्य के सर्वथा विपरीत है।

संविधान निर्माता इतने समझदार थे कि वे जानते थे कि यदि अनु० 16 (4) की व्यवस्था को शाश्वत माना जायेगा तो जनता में इसकी बहुत ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी जैसी 1990 में मण्डल आयोगीय जातिवादी आरक्षण करते समय हुयी। अतः 1 जनवरी 1969 को जब मण्डल आयोग नियुक्त किया गया तो उसकी नियुक्ति ही संवैधानिक नही थी। यद्यपि उस आयोग की नियुक्ति अनु० 340 के अन्तर्गत की गयी, तब भी उस आयोग की रपट को अनु० 16 (4) के आरक्षण के आधार नही बनाया जा सकता था क्योकि यह नही कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के 32 वर्ष बाद अर्थात 1979 में ही वही परिस्थितियाँ थी जो 1947 के पहले थी और यदि ऐसा माना जाता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि इन 32 वर्षो में राज्य द्वारा संविधान की मान्यताओं का घनघोर उल्लंघन किया गया। क्या ऐसा माना जा सकता है ? इस देश में किसी भी जाति या समुदाय में जो बच्चा 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पैदा हुआ वह जब मण्डल आयोग नियुक्ति किया गय तब 31 वर्ष से अधिक का हो गया। क्या यह कहा जा सकता है कि उस बच्चे को भी राज्य ने भूतकाल की तरह लोक सेवाओं में समानता के मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया था ? मजेदार बात तो यह है कि जातिवादी आरक्षण के लिये 13 अगस्त 1990 को केन्द्र सरकार ने जो आफिस मेमो निकाला उसमें कहा गया है – "सरकार ने वर्तमान सन्दर्भ में आयोग की रपट और सिफारिशों का सावधानी पूर्वक विचार किया है।" जाहिर है कि केन्द्र सरकार आयोग की रपट और सिफारिशों को वर्तमान सन्दर्भ में देख रही थी न कि भूतकाल के सन्दर्भ में जो कि अनुच्छेद 16 (4) की व्यवस्था की अन्तरात्मा है।

---

5. देखिये ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर का उत्तर

चूँकि संविधान निर्माताओं का यह स्पष्ट मन्तव्य था कि आरक्षण की व्यवस्था अवसर की समानता के मौलिक अधिकार के अपवाद के रूप में थी, इसलिये ड्राफ्ट कमेटी ने ड्राफ्ट अनु० 10 (3) में "पिछड़ा" शब्द को जोड़ा और यह स्पष्ट किया कि उस शब्द के जोड़ने का कारण यह थ कि अन्यथा आरक्षण का अपवाद अवसर की समानता के मूल नियम को ही समाप्त कर ा ता है। इसलिये अपवाद संविधान लागू होते ही लागू होना था, उसके बाद नही। यदि संविधान निर्माताओं का मन्तव्य यह होता कि आरक्षण की व्यवस्था शाश्वत रहेगी तो वे इसे अपवाद नही मानते और अनु० 16 (4) में "समय समय पर" या "जब कभी" जैसे शब्द जोड़ते जिस प्रकार "पिछड़ा" शब्द जोड़ा गया। जाहिर है कि जब सितम्बर 1950 में अनु० 16 (4) के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये लोक सेवाओं में भारत सरकार द्वारा आरक्षण किया गया तो इस अनुच्छेद की क्रियाशीलता समाप्त हो गयी।

(A) दलित के राजनीतिक अधिकार -

अब विधायिकाओ में आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था का अध्ययन आवश्यक है जिससे यह समझा जा सके कि आरक्षण ही व्यवस्था देश के लिये कितनी हितकारी है या सिद्ध हुई है।

विधायी इतिहास -

महाराष्ट्र की एक प्रमुख तथाकथित अस्पृश्य जाति महार, के राजनीतिक नेता के रूप में डा० भीमराव अम्बेडकर का 1919 में सर्वप्रथम उदय हुआ जब उन्हे साउथबारो कमेटी (मताधिकार की कमेटी) जो मान्टेग्यू – चेम्स फोर्ड सुधारों के कार्यान्वयन हेतु आवश्यक सामग्री एकत्र कर रही थी, के समक्ष साक्ष्य देने को आमन्त्रित किया गया। अम्बेडकर ने अपने साक्ष्य में प्रदर्शित किया कि भारत में सामाजिक विभाजन हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि के रूप में नही था। बल्कि स्पृश्य हिन्दू अस्पृश्य हिन्दू, मुसलमान आदि के रूप में था। उन्होनें अस्पृश्यों के लिये विधायिका में साम्प्रदायिक पृथक और प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की माँग किया। उसके अनुसार बम्बई विधान परिषद में दो अछूतों को प्रतिनिधित्व दिया गया। साइमन आयोग के समक्ष 18 दलित वर्गो के संघो ने स्वतः साक्ष्य दिया, उनमें से 16 ने अस्पृश्यों के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग की,

लेकिन अम्बेडकर ने 1919 में की गयी पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग को नही दुहराया। 1930 में भारत के भावी संविधान पर चर्चा करने के लिए लंदन में आयोजित गोलमेज सम्मेलन में अम्बेडकर को नामांकित किया गया जिसने उनकी ख्याति और महत्व को पूरे देश में फैलाया। 1932 के साम्प्रदायिक अभिनिर्णय ने दलित वर्गो के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र स्वीकृत कर दिया अर्थात उन्हे हिन्दुओं से अलग कर दिया, जिसके विरूद्ध महात्मा गान्धी ने आमरण अनशन किया। दलित वर्गो की सन्तुष्टि और महात्मा गान्धी के अनशन की समाप्ति की दृष्टि से पूना समझौता हुआ जिसमें अम्बेडकर की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसके अनुसार प्रान्तीय विधायिकाओं में दलित वर्गो को 148 सीटें दी गयी जबकि साम्प्रदायिक अभिनिर्णय न केवल 71 सीटें दी और उनके लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था समाप्त हो गयी।

नये संविधान अर्थात भारत सरकार अधिनियम 1935 में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली की पुनः स्थापना की गयी और हरिजनों की हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश की गयी। उक्त अधिनियम के अन्तर्गत 1937 में होने वाले प्रान्तीय विधायिकाओं के चुनावों को दृष्टि में रखते हुये अम्बेडकर ने 1936 में स्वतंत्र श्रम पार्टी का गठन किया। 1937 के चुनाव में इस पार्टी ने महाराष्ट्र विधानसभा में अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षित 15 में 10 सीटों और 3 सामान्य सीटों को जीता और मध्य प्रान्त तथा बरार की आरक्षित सीटों में 3 सीटें इसे मिली।[6]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दलित वर्गो या अनुसूचित जातियां के लिये विधायिकाओं में आरक्षण 1919 से ही प्रारम्भ हो गया और क्रमशः उसका विस्तार हुआ।

आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था -

विधायिकाओं में आरक्षण की संविधान द्वारा व्यवस्था इस प्रकार की गयी है।

---

6. आचार्य शुकलेन्द्र–(लेख)' विधायिका में आरक्षण' अध्याय–13, आरक्षण की राजनीति और संविधान की कराह, 1995 इला प्रकाशन, पृष्ठ–159

लोक सभा में आरक्षण -

अनुच्छेद 330 लोकसभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिये आरक्षण की व्यवस्था करता है। अनु० 330 (2) के अनुसार आरक्षित सीटों की संख्या राज्य या केन्द्र प्रशासित प्रदेश को लोकसभा में आवंटित सीटों के लगभग उसी अनुपात में होगी जो अनुपात इन जातियों की जनसंख्या का राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश की कुल जनसंख्या से है।

सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार अनुसूचित जातियों या जन–जातियों के लिये सीटों के आरक्षण का प्रभाव इन जातियों के सदस्यों के लिये सीटों की न्यूनतम संख्या की गारंटी करना है। यह अनुसूचित जाति के सदस्य को सामान्य सीट से चुनाव लड़ने के अधिकार जो प्रत्येक वयस्क नागरिक के पास है, से वंचित नही करता है। [7] इससे स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियों को दोहरा लाभ प्राप्त है। क्या यह संवैधानिक है ?

(ii) राज्यों की विधानसभाओं में आरक्षण -

अनुच्छेद 332 के अनुसार राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षण की व्यवस्था है। आरक्षित सीटों की संख्या इन जातियों की राज्य की कुल जनसंख्या के अनुपात में होगी।

(iii) आरक्षण की समय - सीमा -

अनुच्छेद 334 के अनुसार लोकसभा और विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये आरक्षण की अवधि प्रारम्भ में केवल 10 वर्ष थी। बाद में इसे 10 - 10 वर्ष संविधान संशोधनों द्वारा बढ़ाया जाता रहा है। और अब यह आरक्षण 2000 ई० तक है। अब प्रश्न यह है कि आरक्षण प्रारम्भ में 10 वर्ष के लिये ही क्यो था और इसको 10 - 10 वर्ष क्यो बढ़ाया जाता रहा है और क्या अनु० 334 इस प्रकार बढ़ाये जाने की अनुमति देता है ? जब प्रारम्भ में इस आरक्षण

---

7. गिरि प्रति डोरा, ए० आई० आर० 1959 एस० पी० 1318

की अवधि 10 वर्ष रखी गयी तो संविधान सभा ने निश्चय ही यह समझा होगा कि उसके बाद आरक्षण की कोई आवश्यकता नही होगी। क्योकि अनुच्छेद 334 स्पष्टतः घोषणा करता है –

"(आरक्षण) इस संविधान के लागू होने से 10 वर्ष की अवधि की समाप्ति पर निष्प्रभावी हो जायेगा।"

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि संविधान – निर्माताओं की मंशा यह होती कि आरक्षण की अवधि को 10 वर्ष के बाद भी बढ़ाने की आवश्यकता होती तो वे अनिवार्यतः इन अनु० में यह वाक्यांश जोड़ते – "यदि समय–समय पर बढ़ाया न जाये।" (8)

यह उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 334 का ड्राफ्ट अनुच्छेद 295 A मूल ड्राफ्ट में नहीं था और उसे संशोधन के रूप में संविधान – सभा में प्रस्तुत किया गया। इस सम्बन्ध में ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर ने कहा – "यह (ड्राफ्ट अनुच्छेद 295 A) सदन के निर्णय के भी अनुसार है। मैं नही समझता कि किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।" (9) ड्राफ्ट अनुच्छेद 295 A में संविधान – सभा के एक सदस्य मुनिस्वामी पिल्ले ने अपना संशोधन प्रस्तुत किया कि शब्द "दस वर्ष" के बाद वाक्यांश" या लम्बी (अधिक) अवधि यदि संसद बाद में वैसा निर्णय करती है" को जोड़ा जाये। (10) अन्य सदस्य मनमोहनदास का संशोधन था कि वाक्यांश "यदि संसद विधि द्वारा अन्यथा प्रावधान न करे" को ड्राफ्ट अनुच्छेद 295 A के अन्त में जोड़ा जाये। (11) लेकिन अम्बेडकर ने इन संशोधनों को स्वीकार नही किया और कहा – मुझे यह कहना है कि वास्तव में उन्हे शिकायत का कोई कारण नही है, क्योकि चीज (अवधि) को 10 वर्ष तक सीमित करने का निर्णय वस्तुतः उनकी सहमति से लिया गया है। मैं व्यक्तिगत रूप से लम्बी अवधि के लिये जोर देने को तैयार था, क्योंकि मैं निश्चय ही अनुभव करता हूँ कि जहा तक अनुसूचित जातियों का सम्बन्ध है, उन्हे अन्य अल्पसंख्यकों के समान नही माना गया है।

---

8. Unless extended from time to time.
9. देखिये संविधान–सभा बहसें, खण्ड 8, पृष्ठ 674 ।
10. देखिये संविधान–सभा बहसें, खण्ड 8, पृष्ठ 680 ।
11. देखिये संविधान–सभा बहसें, खण्ड 8, पृष्ठ 682 ।

(B) दलित के शैक्षणिक अधिकार -

जब 26 जनवरी 1950 को संविधान लागू किया गया तो इसके अनु० 29 (2) में व्यवस्था की गयी कि "राज्य द्वारा पोषित या राज्य कोष में सहायता प्राप्त करने वाली किसी शिक्षण संस्था में किसी नागरिक को प्रवेश से केवल नस्ल जाति भाषा या उनमें से किसी एक आधार पर वर्जित नहीं किया जायेगा।" यह प्रत्येक नागरिक का मौलिक अधिकार है। जाहिर है कि जब संविधान लागू किया गया तब शिक्षण संस्थाओं में किसी प्रकार के आरक्षण की अनुमति नही थी।

अनुच्छेद 15 (4) का विधानी इतिहास -

मद्रास सरकार ने 1927 में एक साम्प्रदायिक शासनादेश जारी किया था जिसके अनुसार शिक्षण संस्थाओं में सम्प्रदाय के अनुसार आरक्षण का प्रावधान था। उक्त शासनादेश के अनुसार मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों में सीटों का आरक्षण एवं वितरण इस प्रकार था : गैर ब्राहम्ण – 6, पिछड़े हिन्दू – 2, ब्राहम्ण – 2, हरिजन – 2, आंग्ल भारतीय और भारतीय ईसाई – 1, मुसलमान–1। चम्पकम ने मद्रास उच्च न्यायालय में अनु० 226 के अन्तर्गत एक याचिका 7 जून 1950 को दाखिल कर के अधिकारियों को उक्त साम्प्रदायिक शासनादेश लागू करने से रोकने का समादेश जारी करने का निवेदन किया क्योकि उक्त शासनादेश द्वारा अनु० 15 (1) 29 (2) में निहित मौलिक अधिकारों का उल्लघंन हो रहा था। [12]

1951 में प्रथम संविधान संशोधन द्वारा अनु० 15 (4) पारित किया गया। अनु० 15 (4) निम्नवत है :–

"इस अनु० या अनु० 29 के खण्ड (2) में कुछ भी राज्य को नागरिकों के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के

---

12. देखिये मद्रास राज्य प्रति श्रीमती चम्पकम दुरैराजन, ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 226।

उत्थान के लिये किसी विशेष प्रावधान को बनाने से नही रोकेगा।"

अनु० 15 (4) के लिये संविधान संशोधन का जो विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया उस विधेयक को प्रस्तुत करते समय तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने 29 मई 1951 को कहा :–

"हमें उस परिस्थिति से निपटना है जिसमें विभिन्न कारणों से जिसके लिये वर्तमान पीढ़ी दोषी नही कही जा सकती, भूत की जिम्मेदारी है, समूह, वर्ग, व्यक्ति विशेष, समुदाय है जो पिछड़े है। वे अनेक रूपों में – आर्थिक, सामाजिक शैक्षिक पिछड़े है – कभी वे इनमें से किसी एक रूप में पिछड़े नही है और फिर भी दूसरे में पिछड़े है। इसलिये तथ्य यह है कि यदि हम उन्हे इन मामलों में प्रोत्साहित करना चाहते है तो हमें उनके लिये कुछ विशेष करना होगा। .... इसलिये हमे वर्तमान में पाये गये तथ्य और उस उद्देश्य और आदर्श जो हमारा लक्ष्य है के बीच सन्तुलन बनाये रखना है।"

अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) में अन्तर-

अब यहाँ अनु० 15 (4) जिसे 1951 में संविधान–संशोधन द्वारा जोड़ा गया और अनु० 15 (4) जो मूल संविधान में ही प्रतिष्ठित था, के बीच महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टव्य है, जो निम्नवत् है :–

(i) "अनुच्छेद 16 (4) में शब्द "नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग" का प्रयोग किया गया है, जबकि अनु० 15 (4) में शब्द "नागरिको के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों" का प्रयोग किया गया है। यह महत्वपूर्ण है कि अनु० 15 (4) में शब्द "पिछड़े वर्गो" (बहुवचन) का प्रयोग किया गया है। जबकि अनु० 16 (4) में शब्द "पिछड़ा वर्ग" (एकवचन) का प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि अनु० 15 (4) का कार्यक्षेत्र अनु० 16 (4) के कार्यक्षेत्र से अधिक विस्तृत है।

(ii) अनु० 16 (4) द्वारा "आरक्षण के लिये किसी प्रावधान के बनाने" की व्यवस्था की गयी है,

जबकि अनु० 15 (4) द्वारा "उत्थान के लिये किसी विशेष प्राविधान बनाने" की व्यवस्था की गयी है। अब प्रश्न यह है कि क्या अनु० 15 (4) के "विशेष प्राविधान" का अर्थ अनु० 16 (4) के आरक्षण के लिये प्रावधान" ही है ? यदि हाँ तो अनु० 15 (4) में अनु० 16 (4) की तरह "आरक्षण" शब्द का प्रयोग क्यो नही किया गया ? क्या सर्वोच्य न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया है ?

सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ा वर्ग कौन ?

यह उल्लेखनीय है कि चम्पकम में सर्वोच्च न्यायालय ने यह बताया कि चूँकि अनु० 29 में अनु० 16 (4) के समान कोई प्रावधान नही है, इसलिये मद्रास सरकार का शिक्षण संस्थाओं में साम्प्रदायिक आरक्षण का आदेश अवैध है। अनु० 16 (4) में "नागरिकों का पिछड़ा वर्ग" वाक्याँश का प्रयोग किया गया है जबकि अनु० 15 (4) का वाक्यांश है – "नागरिकों के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो या अनुसूचित जातियो"। यह भी उल्लेखनीय है कि अनु० 16 (4) के नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान अनु० 335 की प्रशासनिक दक्षता को बनाये रखने की अनुरूपता से किया जाना है। अर्थात अनु० 16 (4) अनु० 335 द्वारा नियन्त्रित है और अनुच्छेद 335 में "पिछड़ा वर्ग" नही अपितु "अनुसूचित जातियां एवं अनुसूचित जनजातियां" का प्रयोग किया गया है। अतः जब अनु० 15 (4) के उक्त वाक्यांश का प्रयोग किया गया तो वह काफी गम्भीर अर्थ का द्योतक है। वह अर्थ क्या है ? अनु० 15 (4) राज्य को नागरिकों के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो या अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उत्थान के लिये विशेष प्रावधान बनाने का अधिकार देता है। स्पष्ट है अनु० 15 (4) में प्रयुक्त शब्द "या" (or) का अर्थ है – "अर्थात"। [13] इसका तात्पर्य यह है कि संसद ने अनु० 15 (4) में जब "नागरिकों के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो" वाक्यांश का प्रयोग किया तो इस वाक्यांश को उसने स्पष्ट कर दिया कि ऐसा वर्ग "अनुसूचित जातियाँ एवं अनुसूचित जनजातियाँ" ही है, अन्यथा या शब्द का प्रयोग क्यो किया जाता यदि संसद का मन्तव्य यह होता कि अनु० 15 (4) के "पिछड़े वर्ग" अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित

13: That is या That is to say या Namely

जनजातियों से भिन्न है। यदि यह कहा जाए कि "या" शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया जिससे राज्य अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के साथ अन्य पिछड़े वर्गो के भी उत्थान का विशेष प्रावधान बना सके, तो राज्य का अधिकार बाधित हो जायेगा क्योकि तब वह या तो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो के उत्थान का प्रावधान बना सकेगा या अनुसूचित जातियों या जनजातियों के उत्थान का, दोनो का नही अन्यथा "या" शब्द निरर्थक हो जायेगा और संसद की संविधायी शक्ति को निरर्थकत्व का दोष लग जायेगा। यदि यह कहा जाये कि "या" शब्द का अर्थ "और" (and) है तो ऐसा करना संसद की बुद्धिमता में कमी सिद्ध करना होगा। यदि अनु० 15 (4) के नागरिकों के केन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो का अर्थ "अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ" नही लिया जायेगा तो यह विवाद का प्रश्न हो जायेगा कि उक्त पिछड़ा वर्ग कौन है और यह नही कहा जा सकता कि संसद जब कोई प्रावधान विशेषतः संविधान में बनायेगी तो उस पर अनावश्यक विवाद को आमन्त्रित करेगी। इसलिये अनु० 15 (4) में संसद ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया कि पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ है। यदि यह कहा जाये कि अनु० 15 (4) का पिछड़ा वर्ग केवल अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ है तो "नागरिकों के किन्ही सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो" वाक्यांश का प्रयोग क्यो किया गया, तो इसका उत्तर यह है कि संसद का मन्तव्य उक्त पिछड़े वर्गो का उत्थान था। क्योकि यदि देश में नागरिकों का कोई पिछड़ा वर्ग नही है तो संविधान के अध्याय 4 में निहित राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त ही निरर्थक हो जायेगे। इसलिये संसद तो पिछड़े वर्गो के उक्त वाक्यांश को अनुच्छेद 15 (4) में रखने को विवश थी अन्यथा यह अनुच्छेद पारित ही नही हो सकता था। लेकिन विवाद की सम्भावनाओं को देखते हुये संसद ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया कि उक्त पिछड़ा वर्ग और कोई नही है सिवाय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के। यदि यह कहा जाय कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अतिरिक्त अन्य पिछड़ा वर्ग भी हो सकता है तो ऐसे वर्ग के पिछड़ेपन का आधार आर्थिक है, जो सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन को जन्म देता है और ऐसा पिछड़ा वर्ग ग्रामीण वर्ग है।

.... मैं समझता हूँ कि इन आरक्षणों के विषय में अनुसूचित जातियों को लम्बी अवधि देना इस सदन के लिये उदार और बिल्कुल उचित होता है। लेकिन जैसा मैने कहा, यह सब

सदन द्वारा स्वीकार किया गया। .... यदि 10 वर्षों के अन्त में अनुसूचित जातियाँ पाती है कि उनकी स्थिति में सुधार नही हुआ है या वे इस अवधि की और बढ़ोत्तरी चाहती है, तो यह उनकी क्षमता या बुद्धि से परे नही होगा कि वे उसी संरक्षण जिसका यहाँ वचन दिया गया है, को प्राप्त करने के नये तरीकों का अन्वेषण करे।" (14)

(C) कानूनी कार्यक्रमों में दलित उपबन्ध -

देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मानचित्र पर कल तक जो निम्नतम स्तर पर थे, आज वे राजनीति में अपनी जगह तय कर रहे है, आर्थिक क्षेत्रों में अपने हितो को छीनकर ले रहे है। और अभी तक अपने पर हुक्म चलाने वालो से पूछ रहे है कि तुझ मुझ पर हुक्म चलाने वाले कौन हो ? जी हाँ ये वही हरिजन है जिनके सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक विकास के लिये संविधान में आरक्षण तथा अन्य विशेष व्यवस्थायें की गयी और नीति निर्देशक तत्वों में खास हिदायत देकर कहा गया था कि भारत में एक समता मूलक समाज की स्थापना करनी है सरकार ने 1955 में ही इसे कानूनन एक अपराध घोषित कर दिया था। पहली बार 1955 में 'अस्पृश्यता विरोधी अधिनियम" लागू किया गया।

1975 यानि 20 सालों में इसके तहत देश भर में मात्र 6778 मामले ही दर्ज हुये और इनमें से भी 1779 मामलों को ही कार्यवाही की गयी और उनमे मात्र 26 फीसदी को ही सजा दी गयी। 1975 में महसूस हुआ कि कानून लाचार है, इसलिये खामियों को दूर करने के लिये संशोधन किये गये। सजा कुछ कड़ी बनायी गयी। अधिनियम का नाम बदल कर 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम' कर दिया गया।(15)

आजादी से पहले भी दलित हित के लिए तौर पर कुछ कदम उठाये जाते रहे। पर कानूनी तौर पर हरिजनो के लिये सबसे पुख्ता व्यवस्था जो हुय वह था आरक्षण। संविधान में उन्हे

---

14. देखिये संविधान सभा बहसें, खण्ड 8, पृष्ठ 696 - 97
15. नीलम गुप्ता (लेख) 'कानूनों और कार्यक्रमों के बावजूद", उदघृत हरिजन से दलित, पृ०.46

जनप्रतिनिधि संस्थाओं और सरकारी नौकरियों में जो आरक्षण दिया उसी से प्रशासन तन्त्र और राजतन्त्र में उनकी घुसपैठ शुरू हुयी नियम कानून को उन्होंने जाना। उन्हे नौकरियां मिलनी शुरू हुयी जिससे उनका अज्ञान और गरीबी दोनो कम हुये और सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने अपने मानवीय अस्तित्व का अनुभव किया।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर अत्याचार रोकने के लिये 1989 में अनुसूचित जाति – जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम बनाया गया 11 Sep. 1989 को संसद द्वारा बनाये गयें इस अधिनियम को राष्ट्रपति ने मंजूरी दी। जम्मू–कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत–वर्ष में इसे कानून का दर्जा प्राप्त है। इस केन्द्रीय कानून में संशोधन करने उनकी समीक्षा करने और निलम्बित करने का अधिकार केन्द्र सरकार में निहित है। कोई भी राज्य इसमें हस्तक्षेप नही कर सकता 11 Sep. को राष्ट्रपति ने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान की और 12 सितम्बर को यह भारत के असाधरण गजट में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल 5 अध्यायें और 23 धारायें है। कई धाराओं की उप धारायें भी है। अध्याय 2 में अत्याचार के अपराध बताये गये है।[16]

हरिजन एक्ट के कुछ सख्त प्रावधान निम्न है।

अपराधो के लिये दण्ड -

(1) कोई व्यक्ति अनुसूचित जातियो या अनुसूचित जनजाति का सदस्य न होते हुये यदि –

(एक) अखाद्य या घृणा जनित पदार्थ पीने या खाने के लिये मजबूर करे।

(दो) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य के परिसर या पड़ोस में मलमूत्र कूड़ा–कचरा या पशु शव ड़ाले।

(तीन) बलपूर्वक कपड़े उतारे, उसके चेहरे या शरीर को पोतकर घुमायें या कोई ऐसा कार्य करे जो मर्यादा विहीन हो।

---

16. अमर उजाला कानपुर, 23, अगस्त 1997 पृष्ठ – 9

(चार) आवंटित भूमि पर कब्जा करे

(पाँच) अनुसूचित जाति या जनजाति के सदस्य को उसकी भूमि परिसर या जल से बेदखल करे।

(छह) बेगार कराये या बंधुआ मजदूरी के लिये विवश करे।

(सात) वोट न ड़ालने दे, या विशिष्ट अभ्यर्थी के हक में वोट डालने के लिये मजबूर करे।

(आठ) झूठा, मिथ्यापूर्ण या तंग करने वाला वाद योजित करे या अन्य विधिक कार्यवाही करे।

(नौ) किसी अधिकारी को गलत जानकारी देकर अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को क्षति पहुंचाये।

(दस) सार्वजनिक स्थानों पर उसे अपमानित या अभितस्त्र करे।

(ग्यारह) अनूसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति की महिला को अपमानित करे या लज्जा भंग करने के आशय से हमला करे।

(बारह) उसका यौन शोषण करे।

(तेरह) किसी जल स्रोत से पानी भरने से रोके या जल को दूषित करे।

(चौदह) सार्वजनिक मार्ग को बाधित करे, रूढ़िगत अधिकारों से वंचित करे या उसे बाधा पहुंचाये।

(पन्द्रह) अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को अपना मकान, गाँव या निवास स्थान छेड़ने के लिये मजबूर करे।

सजा - उपर्युक्त इन सभी आरोपो के सिद्ध होने पर दोषी व्यक्ति को कम से कम 6 माह तथा अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक का कारावास जुर्माना हो सकता है।

मृत्युदण्ड (2) - अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का सदस्य न होते हुये यदि किसी व्यक्ति के –

(एक) झूठे साक्ष्यों या गवाही से अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी निर्दोष व्यक्ति को मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास या जुर्माने की सजा होती है और यह पता चल जाताहै कि झूठे साक्ष्य दिये गये है, तो सम्बन्धित व्यक्तिको भी मृत्युदण्ड दिया जायेगा।

(दो) झूठे साक्ष्यों से सात वर्ष या उससे अधिक की अवधि के कारावास की सजा होने पर झूठे साक्ष्य देने वालों को भी इतनी ही अवधि की सजा हो सकती है।

(तीन) विस्फोटक पदार्थ द्वारा सम्पत्ति को नष्ट करने पर कम से कम 6 मास और अधिक से अधिक सात वर्ष तक की सजा का प्रावधान है।

(चार) पूजा स्थल या मानव आवास को अग्नि या विस्फोटक पदार्थ द्वारा नष्ट करने पर आजीवन कारावास।

लोक सेवको के लिये दण्ड -

(1) लोक सेवक होते हुये अपराध करने पर कम से कम 1 वर्ष की सजा।

(2) ऐसा लोक सेवक जो अनुसूचित जातिया जनजाति का है यदि अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करता है तो उसे 6 मास से एक वर्ष तक की सजा का प्रावधान है। [17]

इस प्रकार यह अधिनियम अनुसूचित जाति एवं जनजाति के सदस्यों में सुरक्षा की भावना उन्हे उत्पीडन के विरूद्ध संरक्षण देने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया है इस अधिनियम के पूर्व छुआछूत विरोधी (अपराध) अधिनियम 1955 प्रभावी था। जिसके स्थान पर इस अधिनियम को लाया गया है

सन 1955 में पारित छुआछूत विरोधी (अपराध) अधिनियम 1955 में केवल 17 धारायें थी। उक्त अधिनियम में हरिजनों का धार्मिक स्थलों में प्रवेश रोकने (धारा 3) सामाजिक असमानताओं

17. के० के० कुलश्रेष्ठ – (लेख) 'हरिजन उत्पीड़न अधिनियम एक विश्लेषण' – प्रतियोगिता दर्पण (पत्रिका) नवम्बर 1997 पृष्ठ– 697

के विरूद्ध संरक्षण देने जैसे सार्वजनिक स्थल नदी, तालाब, धर्मशाला, सराँय, मुसाफिरखाना, दुकान, होटल, जनमनोरंजन के स्थलों आदि के प्रयोग को रोकने (धारा 4) अस्पताल में प्रवेश व भर्ती करने से इन्कार करने (धारा 6), छुआछूत सम्बन्धी शब्दों के प्रयोग करने (धारा 7) के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।[18]

सामान्य अपराध कानून की व्यवस्था यह है कि अभियुक्त के बजाय अभियोजन पक्ष को यह साबित करना पडता है कि जो अभियोग उससे दर्ज कराया है, वह सही है इसके लिए अभियोजन पक्ष को ही सबूत जुटाने पड़ते है और गवाह पेश करने पड़ते है, किन्तु इस अधिनियम के आधीन अभियोक्ता के बजाय अभियुक्त को सिद्ध करना पड़ाता है कि उसके विरूद्ध जो आरोप है, वे मिथ्या है।

निसन्देह इस कानून की कई व्यवस्थाएं बेहद कठोर है इसमें इसके दुरूपयोग की गुंजाइश भी है खतरा बहुत साफ है कि यदि कोई दलित व्यक्तिगत विद्वेषवश किसी सवर्ण या किसी पिछड़े वर्ग के सदस्य को नीचा दिखाने के लिए इस आशय की झूठी शिकायत भी दर्ज करा देता है अमुक व्यक्ति ने उसे अपमानित करने के इरादे से कोई प्रंसग चलाकर जातिसूचक शब्द का प्रयोग किया है तो शिकायत में नामित व्यक्ति अकारण मुसीबत में फंस सकता है कानून इस प्रकार की मिथ्या रिपोर्ट से उत्पन्न विषम स्थिति से आरोपी को कोई संरक्षण प्रदान नही करता आज के राजनीतिक परिपेक्ष्य में इस अधिनियम के और दुरूपयोग का कारण है वह दबे ढके शब्दों में अनेक राजनेता तथा कुछ खुल्लम खुल्ला इसे स्वीकार कर चुके है।

वस्तुतः यह अधिनियम विश्व में किसी जातियों के वर्ग को संरक्षण देने के लिए सबसे कठोरतम कानून है इसमें कई विसंगतियां है जैसे प्रमुखतया किसी दलित वर्ग के व्यक्ति द्वारा सवर्ण या पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों के विरूद्ध की गई असत्य शिकायत के सिद्ध हो जाने पर उस दलित वर्ग के व्यक्तियों को रोकने या दण्डित करने हेतु कोई व्यवस्था का प्रावधान न होना ताकि इसका

18. पूर्वोक्ति

दुरूपयोग किये जानें से बचाव हो सके।

हरिजन एक्ट बनने के बाद उसका दुरूपयोग भी होना शुरू हो गया। मायावती के मुख्यमन्त्रीत्व काल में इसका मुखर विरोध शुरू हो गया और इस एक्ट का सर्वाधिक दुरूपयोग भी इसी समय हुआ। विरोधियों का कहना है कि कानून का बेजा इस्तेमाल हो रहा है। 1995 में अनुसूचित जाति – जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम को चुनौती देते हुये दौ सौ से ज्यादा याचिकायें इलाहाबाद हाईकोर्ट में योजित की गयी। याचिकाओं में कहा गया कि यह अधिनियम खतरनाक है। अधिनियम की धारा 3, 4, 7, 8 एवं 14 के तहत पुलिस किसी भी सवर्ण या अदलित को एफ० आई० आर० के आधार पर गिरफ्तार कर सकती है। ये सभी धारायें गैर जमानती और संज्ञेय अपराध की श्रेणी में है।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते है कि 'अनुसूचित जाति – जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम' समय – समय पर विवाद का विषय बना रहता है। अधिनियम के दुरूपयोग पर तमाम सवाल उठे है। कि इस कानून के तहत सवर्णो और गैर दलितों का उत्पीड़न किया जा रहा है उनके खिलाफ झूठे मुकदमें दर्ज किये जा रहे है आदि।

निःसन्देह ये अधिनियम गलत नही है बल्कि यह समाज में बराबरी की समझ पैदा करने में सहायक है बस जरूरत है इसके दुरूपयोग को रोकने की। इसके लिये आवश्यक है कि पुलिस और विवेचनाधिकारी निष्पक्ष होकर बिना किसी दबाव के जाँच करे। इस कानून में काफी संशोधन की गुंजाइश है। कानून की मूल भावना सही है लेकिन उसका दुरूपयोग रोका जाना चाहिये। जिन सामान्य मामलों में आई० पी० सी० की धाराओं से काम चल सकता है वहा एक एक्ट लगाकर सधारण अपराध को संगीन बनाना क्या जरूरी है ? कानून का मकसद सबको न्याय सबको अधिकार देने का होता है।

अब सवाल यह उठता है कि इन सारे कानूनी कार्यक्रमों के बावजूद क्या आज दलितो

को बराबरी को स्तर हासिल हुआ है 'हाँ' भी और 'नही' भी। हाँ इस लिये क्योकि जो कल तक राजनीति में कही नही थे आज तो खुद अपनी राजनीति कर रहे है (बसपा) तथा नौकरशाही में भी तमाम ऊँचे पदों पर आसीन है। और नही इस रूप में कि इनका 60 फीसदी हिस्सा आज भी सामंती अर्थव्यवस्था की हिंसा का शिकार है, आज भी औरतों को सरेआम नंगा कर गाँवों में घुमाया जा सकता है, आज भी समाज में जिनके नाम पर गाली दी जाती है और जिसके लिये अभी भी कही–कही पर गाँव के कुएँ–बावड़ी, मंदिर सभी वर्जित हो तो कैसे कह दे कि बाकी समाज ने उसे अपने बराबर मान लिया है।

हम भले ही 21 वीं सदी के तकनीकी युग में प्रवेश कर चुक हो पर सदियों पुरानी मानसिकता का अन्त आज भी नही हुआ है। जिसके कुछ **उदाहरण** इस प्रकार है।

(1) 25 मार्च 1993 को मैसूर (कर्नाटक) जिले के नंजनगढ़ ताल्लुके के बंदनलाल में तीन हरिजनों की हत्या कर दी गयी, क्योकि वे सिद्धेश्वर मंदिर में जाने की माँग कर रहे थे। यह वही मंदिर था जिसके पुनरूद्धार के लिये गाँव में अल्पसंख्यक पर उच्चवर्ग के लिंगायत समाज ने हरिजनों से आर्थिक व श्रमिक मदद ली थी। और हरिजनों ने मंदिर प्रवेश का आश्वासन मिलने पर 30 हजार रू० तथा श्रमदान दिया था।[19]

(2) 25 मई 1993 को एक दलित संस्था के 33 सदस्यों ने श्री रंगम मन्दिर में घुसने की कोशिश की पर पुजारियों ने उन्हे आगे नहीं बड़ने दिया।[20]

(3) 23 अक्टूबर को माती गाँव के विलम्बर पुरवा मजरे में बैदिक युगीन सोच पुनः प्रतिविम्बत हुई। वहाँ एक सार्वजनिक झील से दलितों द्वारा मछली मारने आये छै दलितो को लाठी बल्लम और तंमचों से बुरी तरह जख्मी कर उन पर तेजाब

---

19. नीलम गुप्ता (लेख) 'कानूनों और कार्यक्रमों के बावजूद' हरिजन से दलित सम्पादक राजकिशोर, पृष्ठ– 45

20. पूर्वोक्ति

उड़ेल दिया।[21]

(4) शाहजहांपुर के लालबाड़ा गाँव में राजपूतों ने एक दलित महिला को मन्दिर की पवित्रता नष्ट करने के जुर्म में, गोली से उड़ा दिया।[22]

इस तरह के और भी बहुत से उदाहरण आज भी देखने को मिलते है जिससे साबित होता है कि कानून कुछ भी बन जाये पर असमानता की गहरी खाई अभी भी पूरी तरह से पटी नही है।

---

21. एल०एच० दुसाध (लेख)'दलित उत्पीड़न और सवर्ण मानसिकता' हिन्दुस्तान, 7 नवम्बर

22. पूर्वोक्ति

पंचम अध्याय

दलित नेतृत्व के विभिन्न पक्ष

(A) धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व

(B) सामाजिक नेतृत्व

(C) आर्थिक नेतृत्व

(D) राजनीतिक नेतृत्व

(E) दलित नेतृत्व का भविष्य

दलित नेतृत्व के विभिन्न पक्ष

अंग्रेज अपनी जिन रणनीतियों के कारण हमारे देश को सैकड़ों वर्षो तक लूटते रहे उनमें से महत्वपूर्ण था भारतीयों को धर्म जाति और क्षेत्र के आधार पर बाँटो और शासन करो। वर्तमान सदी के प्रथम चरण में वे पुनः देश को धर्म एवं जाति में बाँटने मं सफल हो गये। किन्तु इस विभाजन के पीछे खुद भारतीय समाजिक संरचना और आर्थिक विषमतायें प्रमुख रूप से जिम्मेदार रही। भारतीय संरचना की विशेषताओं का गुणगान हमारे धर्मगुरू व धार्मिक ठेकेदार करते समय यह भूल जाते है कि इस संस्कृति में क्या सभी को बराबर हक दिया गया है ? हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई एवं अन्य सभी धर्मो में यह सामाजिक एवं धार्मिक भेदभाव मौजूद है।

डा० अम्बेडकर यह बखूबी समझते थे कि दलित वर्ग को मुक्त कराना आसान बात नही है इसके लिये पहले खुद दलित वर्ग से ही संघर्ष करना होगा। वे सदियों से सामाजिक तिरस्कार और प्रताड़ना के शिकार रहे, उनको जगाना एक कठिन कार्य था। उनकी भावनाओं को कुचल दिया गया था वे कुछ कर सकने में असमर्थ थे क्योंकि वे मानसिक रूप से दुर्बल हो चुके थे। उन्हे ढ़ाढ़स बँधाने की जरूरत थी।

दलित वर्ग की धार्मिक व सामाजिक आजादी की लड़ाई अम्बेडकर के जीवन का मुख्य लक्ष्य था। और वो इस लक्ष्य में सफल भी हुये। आज दलित काफी मजबूत स्थिति में हैं, देश के प्रत्येक पद पर वो आसीन है राजनीति में दलित नेतृत्व को भी जनता अपना चुकी है। परन्तु फिर भी दलित राजनीति उसी समय चर्चा का विषय बनती है जब दलितों के प्रतिनिधि सत्ता में आते है या उन्हे सत्ता से बाहर किया जाता है।

हकीकत में यह वह वर्ग है जिसके प्रति साहनुभूति तो बहुत दिखाई जाती है पर वास्तव में होती नही है। निश्चित तौर पर इसका मुख्य कारण हमारे जातिवादी संस्कार है, लेकिन इसका

एक बहुत बड़ा कारण गरीबी है। दलितों की समस्या सिर्फ जाति समस्या ही नटी, वर्ग समस्या भी है। 21 वीं सदी में पहुंचने पर भी हमारे यहा अस्पृश्यता का अभिशाप बना हुआ है। यह हमारी मानसिकता और हमारे विकास दोनो के आगे एक सवालिया निशान है। विडम्बना यह है कि फिर भी आज किसी भी राजनीतिक दल के पास कोई क्रान्तिकारी तो क्या सुधारवादी कार्यक्रम तक नही है। यही वजह है कि दलित नेतृत्व की आवश्यकता समय–समय पर महसूस होती रही है। न सिर्फ दलित नेतृत्व की आवश्यकता है बल्कि इस पर व्यापक विमर्श की भी जरूरत है कि इसकी दिशा क्या होनी चाहिये ? अपने पाँचवे अध्याय में हमने दलित नेतृत्व के विभिन्न पक्ष को दिया है। जिसमें दलितों का धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व, सामाजिक नेतृत्व, राजनीतिक व आर्थिक नेतृत्व के बारे में विस्तृत चर्चा करेगे और अन्त में दलित नेतृत्व का भविष्य के बारे में बतायेगे।

(A) धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व -

धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व आपस में एक दूसरे से जुड़े हुये है। यह अलग बात है कि धर्म और संस्कृति को लेकर अलग–अलग व्याख्यायें दी जाती है। दलित के सन्दर्भ में धर्म एक अभौतिक चीज न होकर एक भौतिक चीज है। बुद्ध की परम्परा में धर्म को जीवन के साधन के रूप में देखा गया है गौतम बुद्ध का एक कथन है कि "मैने तुझे नदी पार करने के लिये नाव दी थी, पार हो जाने पर उसे सिर पर उठा कर ढोने के लिये नही" (1) अर्थात बुद्ध का मानना था कि धर्म धारण करने की वस्तु है न कि ओढ़ने की। यदि धर्म रूपी नाव को सिर पर ढ़ोया गया तो फिर वह बोझ बन जायेगा।

जहाँ धर्म एक भौतिक वस्तु है वही संस्कृति कोई अलौकिक वस्तु न होकर एक लौकिक वस्तु है। संस्कृति कार्य करने की विशेष पद्वति को कहते है इसीलिये संस्कृति समय और सन्दर्भ के साथ बदलती रहती है। आदम युग के बाद राज्य की स्थापना के साथ संस्कृति में भी बहुत बदलाव आया है। सामान्तवादी युग में संस्कृति सामंत मूल्यों और मान्यताओं पर आधारित थी। पूँजीवादी युग

1. बौद्ध चेतन के अग्रदूत : महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन – डा० तुलसीराम अश्वघोष मार्च – अप्रैल 1998. पेज 31.

में संस्कृति औद्योगिक संस्कृति बन जाती है। भारतीय सन्दर्भ, विशेष रूप से दलित के सन्दर्भ में संस्कृति का विशेष रूप से योगदान है क्योकि इनके नित्य कर्मो के साथ जाति या उसकी पहचान को प्रतिष्ठा के साथ ज़ोड़ दिया जाता है।

डा० अम्बेडकर का कथन है कि "समस्या एक वरदान है। वह मानव व प्रकृति, कला के कौशल के ज्ञान का संचित भण्डार है। वह एक नैतिक संहिता है जो अपने साथियों के प्रति मानव के आचरण को विनियमित करती है। वह एक सामाजिक संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों—विनियमों की व्यवस्था करती है। वह एक नागरिक संस्था है, जो शासक तथा शासित के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का प्रावधान करती है।" [2]

इस प्रकार हम कह सकते है कि राजनीति में जिस वर्ग या समूह का जितना वर्चस्व होता है, ठीक उसी अनुपात में उसका साहित्य एवं संस्कृति भी पनपती है। यह तथ्य सम्पूर्ण विश्व के इतिहास से प्रगट हो चुका है। भारत के सन्दर्भ में वर्ग की अवधारणा का प्रतिनिधित्व यहाँ की वर्ण व्यवस्था करती चली आ रही है। वर्ण व्यवस्था सिर्फ एक सामाजिक व्यवस्था नही थी, बल्कि धर्म पर आधारित एक क्रूर राजनीतिक प्रणाली थी। जिसके मूल में भगवान का भय बड़ी कृत्रिमता से किन्तु निहायत संगठित रूप में खड़ा किया गया था। अतः भारतीय समाज की संस्कृति उसी वर्ण प्रणाली के इर्दगिर्द शुरू से ही घूमती चली आ रही है।

संस्कृति प्रतीक समाजों को भावनात्मक रूप में जोड़ते है और जिन समाजों के पास प्रतीको की परम्परा कमजोर होती है वे जल्दी ही चुनौतियों के समक्ष बिखर जाते है।

जब हम दलितों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व की बात करते हैं तो प्राचीन भारत में सर्वप्रथम भगवान बुद्ध का नाम ही दिमाग में आता है जो मानववाद के सच्चे प्रहरी बनकर उभरे। वही एक ऐसे मार्गदाता थे जिन्होने सामाजिक मुक्ति और आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया।

---

2. बाबा साहेब अम्बेडकर – सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 10, पेज 330.

बुद्ध ने दीन–हीन, शूद्र–अछूत, नीच–पतित और अपेक्षित–पीड़ित लोगो की सामाजिक मुक्ति के लिये न तो वर्णाश्रम धर्म को ही माना और न ही ईश्वर भक्ति को स्वीकार किया। एवं प्राचीन धार्मिक विचारों पर सबसे पहले प्रहार किया। उनका मानना था कि सामाजिक मुक्ति का मार्ग तो स्वतः आदमी के हाथों में है। सदाचार प्रज्ञा, शील तथा समाधि आदमी के अपने प्रयास है जिनसे समाज में न्यायोचित व्यवस्था बनायी जा सकती है। बुद्ध ने उन सभी सामाजिक बन्धनो एवं नियमों का निषेध कर दिया जिन्हे वर्णाश्रम धर्म ने आदमी पर थोपा था। उन्होने सभी को समान मानव प्रणाली माना और कोई सामाजिक वर्गीकरण अनिवार्य नही बताया। इस प्रकार बुद्ध ने सामाजिक मुक्ति के ब्राहम्णी मार्ग को पूर्णतः निरर्थक एवं अमंगलकारी समझकर, नया मार्ग प्रशस्त किया जो आदि से अन्त तक मानववादी मूल्यों एवं आदर्शों पर आधारित है। वह सभी मानव प्राणियों के हितार्थ एक सन्मार्ग है।

गौतम बुद्ध ने ब्रह्मा के मुँह से पैदा होने वाले मिथ्या अहंकार का साफ खंडन कर दिया उनका कहना था कि ब्राहम्ण शब्द का अर्थ यदि ब्रह्म संस्थ, ब्रह्भूत या ब्रह्मविहारी है, तो फिर ब्राहम्ण उसे ही कहा जा सकता है जिसमें ब्रह्मा के समान गुण हो। क्या ब्रह्मा में राग द्वेष है ? क्या ब्रह्मा में अहंकार है, छूत – पाक है ? क्या ब्रह्मा प्राणधाती हिंसक है ? क्या ब्रह्मा लोभी पाख डी या मिथ्या धारण करने वाला है। ब्रह्मा में यदि ऐसा कोई विकार नही है, तब वह व्यक्ति जो इन सभी विकारों से ग्रस्त है, कैसे कह सकता है कि वह ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न, ब्रह्मसंस्थ ब्रह्मभूत, ब्रह्मविहारी, ब्रह्मविद् ब्रह्मनिमित्त या ब्रह्मन्दायाद है ?

गौतम बुद्ध ने जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हुये कहा है कि संसार में जीवों को जितने प्रकार की भिन्न–भिन्न जातियाँ है, उन सब के विभिन्न प्रकार के जाति चिन्ह है, जिससे वे अलग–अलग पहचानी जाती है। नाना जातियों के वृक्ष, घास, लता आदि के भिन्न–भिन्न चिन्ह है, कीट पतंग पिपीलिका आदि के भी अपने–अपने जाति चिन्ह है किन्तु इसी तरह मनुष्य जाति में भिन्न–भिन्न प्रकार का कोई जाति चिन्ह नही देखा जाता। मनुष्यों के सिर, आँख, कान, नाक, ओंठ, मुँह, गला, कंधा, पीठ, छाती, पेट, जाँघे, मल–मूत्रेन्द्रिय, हाथ, पैर, त्वचा, शब्द,

अनुभूति, वेदना, वासना आदि में कोई ऐसे जाति विभाजक प्राकृतिक चिन्ह नही है जिनसे यह प्रकट होता है कि यह ब्राहम्ण है और यह शूद्र है। मनुष्य में जो विभेद है, वह केवल उनके गुणों और कर्मो का ही है। जो मनुष्य शिल्प कर्म करता है वह शिल्पकार, जो व्यापार करता है वणिक, जो कृषि करता है वह कृषक, जो चोरी करता है वह चोर, जो शस्त्रों से युद्ध करता है वह धनुर्धर या योद्धा, जो यज्ञादि कराता है वह याजक, जो विवाह कराता है वह पुरोहित, जो शासन करता है वह राजा कहलाता है ब्राहम्ण नही कहा जा सकता।"

भगवान बुद्ध के इस विचार से देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, लोग जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था का विरोध कर के कर्म आधारित जाति व्यवस्था को मानने लगे। संस्कृत में एक श्लोक है, जिसे राहुल, सांस्कृत्यायन प्रायः कहा करते है कि इसमें पाँच बातों को जड़ता की निशानी बताया गया है –

वेद प्रामणयं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादाव लोपः ।
सन्तापारम्भा पापहानाम हेतुः
ध्वस्त – प्रज्ञानां पंचलिंगानि बाडयः [3] ।।

अर्थात जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, उन जड़ मूर्खो के 5 लक्षण होते है। पहला यह कि हर बात में वेद का प्रमाण मानना, दूसरा कार्य को देखकर कर्ता या कारण का अनुमान करना, तीसरा नहाने को धर्म समझना, चौथे जातिवाद के अहंकार में डूबे रहना और पाँचवें पापी के नाश के लिये देह को कष्ट देना।

गौतम बुद्ध द्वारा दिया गया धार्मिक नेतृत्व के फलस्वरूप सात सौ वर्षो तक भारत में

---

3. जाति तोड़ो : बहुजन कल्याण प्रकाशन, सआदत गंज, लखनऊ पृष्ठ 49.

जातिवाद दबकर मानवतावाद का बोलबाला रहा। और यही सात सौ वर्ष भारतवर्ष का स्वर्ण युग माना जाता है। यही वह समय था, जब भारत में अशोक और चन्द्रगुप्त जैसे सम्राट हुये और इसी समय भारत में साहित्य और दर्शन एवं शिल्पकला, चित्रकला, स्थापत्य कला इत्यादि कलाओं की उन्नति हुयी किन्तु देश के अभ्युदय को जातिवाद रूपी अजगर निगल गया। अंतिम मौर्य सम्राट महाराज वृहद्रथ को मारकर उनके सेनापति (जो कि ब्राहम्ण थे) पुण्यमित्र ने राज सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया और अपना शुंग-वंशीय ब्राहम्ण राज्य चलाया। इस ब्राहम्ण राज्य में बौद्धो पर अमानुषी अत्याचार होने लगा।

दो ऐसे विचारक हुये है जिनके धार्मिक नेतृत्व की चर्चा किये बिना बात पूरी नही होगी, उनमें से एक तो थें अश्वघोष दूसरे चार्वाक।

संस्कृत साहित्य में महर्षि अंगारा के पुत्र एवं देव गुरू बृहस्पति के प्रधान शिष्य चार्वाक थे जो कि धुरन्धर दार्शनिक विद्वान थे तथा इन्हे जातिवाद – विरोधी संघर्ष के प्रथमाचार्य के रूप में भी जाना जाता है। चार्वाक ने प्राचीन धार्मिक विचारों एवं ब्राहम्णवाद के उस मूल पर कुठारा घात किया जिस पर जातिवाद टिका हुआ तथा पनप रहा था। ब्राहम्णवाद का अभेद्य दुर्ग वेद और यज्ञ आदि वैदिक कर्मकांड है। महापंडित चार्वाक ने पहले इसी जड़ को खोखला किया तथा अपना चार्वाक दर्शन स्वयं लिखकर इसका विलप्तकारी विरोध किया। वैसे तो इस दर्शन को नष्ट कर दिया गया था पर इसके कुछ अंश बिखरे हुये कही मिल जाते है जो इस प्रकार है। –

"ब्राहम्णों ने जनता को जिस स्वर्ग और परलोक का प्रलोभन दिया है, वह सब मिथ्या है। इस अनन्त जगत का रचयिता कोई ईश्वर या कोई पुरूष नही है। यह स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है। और स्वभाव से ही इसका विनाश और रूपान्तर होता है। प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अनुमान और शब्द या वेद आदि कोई प्रमाण नही है। अश्वमेघादि यज्ञ में यजमान की पत्नी के लिये अश्व-संभोग की विधि अपना ईश्वर के सहस्र मुख, सहस्र आँखे, सहस्र पैर जैसे वर्ण नितांत भंडती है। स्वर्ग का प्रलोभन अथवा पुत्र की कामना है तो यज्ञ करो, धन की कामना है तो यज्ञ करो इत्यादि

प्रलोभन घूर्तता है। प्रवंचक ब्राहम्णों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये परलोक और स्वर्गनरक आदि की कल्पना कर के जन समाज को भयभीत और अंधा बना रखा है। यज्ञ और श्राद्ध ब्राहम्णों का व्यवसाय और उपजीविका मात्र है। यज्ञ में बलि देने से ही यदि जीव स्वर्ग जाता है तो याज्ञिक लोग अपने माता पिता की बलि दे कर उन्हे स्वर्ग क्यो नही भेज देते ? स्वर्ग प्राप्ति कामना से उनका श्राद्धादि क्यो करते है ? धरती पर ब्रह्मभोज करने से यदि स्वर्गलोक में पितरों की तृप्ति हो जाती है तो फिर आँगन में ब्राहम्ण को भोजन कराने से तीसरी मंजिल पर बैठे हुये भूखे पितामह की तृप्ति क्यो नही हो जाती ? वस्तुतः ब्राहम्णों का स्वर्ग और परलोक निरा ढोंग है। यह संसार ही सार है। सांसारिक सुख की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। मानवीय सदाचार का पालन और ज्ञान की अभिवृद्धि ही कल्याण कर है। जब तक जियों सुखपूर्वक जियो।"[4]

उस समय चार्वाक दर्शन पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति वैदिक कर्मकाण्ड का सम्मुख विरोधी हो जाता था यही कारण था कि वह दर्शन नष्ट कर दिया गया।

इसके बाद धार्मिक नेतृत्व में अश्वघोष का जिक्र आता है। महापंडित आचार्य अश्वघोष दो हजार वर्ष पूर्व हुये। उस समय बौद्ध–धर्म का पतन और ब्राहम्णवाद का तीव्र गति से उत्थान हो रहा था अश्वघोष समझ चुके थे कि समाज पर अपनी श्रेष्ठता साबित करने के लिये ब्राहम्ण 4 वर्ण और विभिन्न जातियां बना रहे है अतः उन्होने संस्कृत में एक "ब्रजसूची–उपनिषद" लिखा।

उनका मानना था कि यदि ब्राहम्ण ही श्रेष्ठ है तो किस चीज को ब्राहम्ण कहते है। क्या आत्मा ब्राहम्ण है ? या शरीर ब्राहम्ण है ? उनका तर्क है कि वेदों में आत्मा को ब्राहम्ण नही कहा गया है। आत्मा न ब्राहम्ण है न शूद्र।

अश्वघोष का कहना है कि जन्म लेकर व्यक्ति ब्राहम्ण बन जाता है तो यह गलत है

4. जाति तोड़ो : बहुजन कल्याण प्रकाशन, सआदत गंज, लखनऊ पृष्ठ 43.

क्योकि बहुत से ऐसे ऋषि है जो न तो ब्राहम्ण के घर में जन्मे और न ही ब्राहम्णी के उदर से जन्मे। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि अचल मुनि का जन्म हथिनी के पेट से, केश–पिंगल का उल्लू के पेट से, अगस्त मुनि का अगस्त के फूल से, द्रोणाचार्य का घड़े से, तैत्तिरीय का तीतर के पेट से, व्यास का धीवरीं के पेट से, विश्वामित्र का चांडालिनी के पेट से तथा वशिष्ट का उर्वशी वेश्या के पेट से हुआ है। पर फिर भी इन सभी को श्रेष्ठ ब्राहम्ण ऋषि माना गया है।

उनका मानना था कि यदि ज्ञानी होने से व्यक्ति ब्राहम्ण हो सकता है तो अनेक शूद्र भी ज्ञानी हुये है फिर उन्हें ब्राहम्ण क्यो नही मान लेते। आतंग ऋषि चांडाल के घर उत्पन्न होकर महाज्ञानी हुये, मस्करी पुत्र गौशाल ज्ञान--समुद्र थे पर हम इन्हे ब्राहम्ण नही मान सकते।

यदि वेदों में पारंगत होने से ब्राहम्ण होते तो हम रावण को क्यो राक्षस कहते है क्योकि वह भी चारो वेदों में पारंगत था।

अतः जन्मवाद और शरीरवाद की बात मिथ्या है। ब्राहम्ण केवल गुणों और कर्मो से ही हो सकता है।

दलितों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेतृत्व में सबसे अहम भूमिका जिनकी रही है वह है डा० अम्बेडकर। अम्बेडकर एक महान दार्शनिक और धर्म दर्शन के मर्मज्ञ थे। उन्होने विश्व धर्मो जैसे हिन्दूइज्म, इस्लाम क्रिस्ट्यनिटी, जूडाइज्म, जैनिज्म, बुद्धिज्म और सिक्खिज्म के मूल सिद्धान्तों की भारत में विद्यमान सामाजिक स्थिति की दृष्टि से समीक्षा की। डा० अम्बेडकर ने धर्म को वैयक्तिक आत्माओं की आध्यात्मिक मोक्ष को एक साधन के रूप में नही देखा अपितु उसे एक 'सामाजिक आदर्श' समझा जो मानव–मानव के बीच सम्यक सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम बने। डा० अम्बेडकर का धर्म–दर्शन न तो धर्मशास्त्र है और न ही कोई धर्म।

डा० अम्बेडकर की दृष्टि में, मूल समस्या मनुष्य तथा ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित

करने की नही थी, अपितु मानव–मानव के बीच अच्छे व शुभ सम्बन्ध विकसित करने की थी। इसलिये उन्होने ईश्वर, नित्य–आत्मा, नरक–स्वर्ग, आवागमन, दिव्य–सृष्टि आदि को अस्वीकार करने के पश्चात, दर्शन को मनुष्य के सामाजिक सन्दर्भ से ही पहचाना है। उनका कहना था कि यह जगत देवी–देवताओं से नहीं, अपितु उन जीवित प्राणियों से निर्मित है जो उसे सामाजिक दृष्टि से उन्नत और नैतिक रूप में शुभ व उत्तम बना सकते है। मनुष्य के सामाजिक हित ध्यान में रखते हुये, उसके उज्जवल भविष्य की कामना करते हुये डा० अम्बेडकर प्राचीन ऋषि मुनियों के काल्पनिक दर्शन को सामाजिक क्षेत्र में लाये। भारतीय समाज की रूग्णता, उनकी दृष्टि में एक विकट समस्या थी, जिसे वह अपने हिसाब से या कह लो कि अपनी पसन्द के मानदण्ड से समाप्त करना चाहते थे। वर्ण मानदण्ड के स्थान पर उन्होंने एक मानवसदी मानदण्ड अपनाया जिसके समक्ष जातिवाद भेदभाव, धार्मिक संकीर्णता जन्म आधारित प्रतिष्ठा, धन की बाहुल्यता, स्थान–विशेष की उच्चता आदि का कोई निर्णायक महत्व नही होता।

अम्बेडकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि :

"नकारात्मक रूप से मैं उस हिन्दू समाज का निषेध करता हूँ जिसे भगवतगीता ने स्थापित किया है, जो सांख्य--दर्शन के त्रिगुण सिद्धान्त पर आधारित है। यह मेरे निर्णयानुसार, कपिल के दर्शन का एक क्रूर विकृत रूप है जिसने जाति–व्यवस्था और स्तरीय असमानता को हिन्दू सामाजिक जीवन का कानून बना दिया है" और "सकारात्मक दृष्टि से, मेरा समाज–दर्शन तीन शब्दों में निहित कहा जा सकता है – स्वतन्त्रता, समता एवं भ्रातृभाव। लेकिन किसी को ऐसा नही कहना चाहिये कि मैने अपने दर्शन को फ्रांस की क्रान्ति से ग्रहण किया है। मैने ऐसा नही किया। मेरे दर्शन की जड़े धर्म में है, न कि राजनीति विज्ञान में। मैने अपने महान गुरू बुद्ध की शिक्षाओं से इनका अनुकरण किया है।" (5)

महावीर तथा बुद्ध द्वारा जो धार्मिक क्रान्तियां हुई उन्होने भारत तथा अन्य देशों में व्यापक

5. धनन्जय कीर : डॉ० अम्बेडकर – लाइफ एण्ड मिशन 1962 (में उद्धत) पृष्ठ 455.

रूप से लोगों की मनः स्थिति को बदला और उन्होने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर में आस्था रखना उनके धर्म का अनिवार्य अंग नही है। उनके धर्म में पूजा पाठ तथा अनुष्ठानों का कोई स्थान नही है। अम्बेडकर ने भगवान बुद्ध के धम्म के रूप में ऐसे धर्म को एक सच्चाई स्वीकार किया, क्योकि किसी ने ईश्वर को देखा नही है। ईश्वर अज्ञात है, मात्रएक तात्विक कल्पना है। अम्बेडकर की दृष्टि में यदि कोई धर्म ईश्वर पर आधारित है और लौकिक आदमी की अवहेलना करता है तो वह मनुष्य द्वारा धारण करने योग्य नही है। (6)

अम्बेडकर के धार्मिक नेतृत्व सम्बन्धी विचार को हम निम्न तरीको से स्पष्ट कर सकते है।

1. धर्म सामान्यतः सामाजिक अभिशासन की दैवकृत व्यवस्था को निर्धारित करता है जैसा कि वैदिक धर्म अथवा बाद में कहे जाने वाले हिन्दू धर्म में मिलता है। उसने हमें वर्णाधारित दैविक समाज व्यवस्था प्रदान की जिसमें चार मुख्य जातियाँ हे – ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। कहा जाता है कि जगत के संरक्षक प्रजापति ने मानवता की भलाई के लिये वर्ण व्यवस्था की सृष्टि की। यह दैविक वर्ण व्यवस्था समाज के हित में एक आदर्श रूप बनाई गयी ताकि लोग उसका अनुसरण कर सके। यद्यपि इसका कोई अस्तित्व नही था, किन्तु उसे हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थों में दैनिक रूप से स्थापित होने के दावे के कारण यथार्थ माना जाता है।
2. डा० अम्बेडकर ने चतुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत दैविक सामाजिक अभिशासन को स्वीकार नही किया, क्योकि उसमें स्वतन्त्र व्यवसाय चुनने का कोई प्रावधान नही है। इस व्यवस्था से मनुष्य को शक्तिहीन बना दिया है विशेष कर शूद्रों–दलितों को। वह मनुष्य को नपुंसक बनाने की एक व्यवस्था है। अम्बेडकर ने इस दैविक व्यवस्था में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातत्व का अभाव होने के कारण उसे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। (7)
3. दैविक सत्ता के स्रोत के रूप में धर्म ग्रन्थों की अकाट्यता का विचार भी अम्बेडकर ने स्वीकार

---

6. बी० आर० अम्बेडकर : द बुद्ध एण्ड हिज धम्म, 1987 पृष्ठ 251.
7. बी० आर० अम्बेडकर : एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, 1944.

नही किया। इस आधार पर कि वह धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों के स्वतन्त्र अन्वेषण तथा परीक्षा की विधि को लोगो द्वारा अपनाये जाने से रोकता है। उन्होने पाया कि शास्त्रों में ऐसे नियम है जो हिन्दुओं को अन्तर–जातीय भोज एवं विवाह से रोकते है। लोगों के मन में ईश्वरीय भय बना रहता है कि उन्होने दैविक नियमों को उल्लंघन किया तो वे पाप के भागीदार होगे। शास्त्रों की अकाट्यता ने उन्हे सामाजिक मामलों में आलोचनात्मक बुद्धि का प्रयोग करने से रोक रखा है इसीलिये प्रत्येक नर–नारी को शास्त्रों की दासता से मुक्त होना चाहिये। अम्बेडकर की दृष्टि में कुछ भी अकाट्य नही है। प्रत्येक वस्तु या विचार की आलोचनात्मक बुद्धि से समीक्षा होनी चाहिये। यहां तक कि वेद भी सत्ता एवं दैविकता की दृष्टि से, अन्तिम नही है। यह तो वास्तव में एक पहेली है कि कब और कैसे वेदों तथा अन्य हिन्दू शास्त्रों को अकाट्य घोषित किया गया।

4. हिन्दू जैसे ईश्वर वादी धर्मो में माना गया है कि व्यक्ति के जीवन का एक मात्र लक्ष्य आत्मा का मोक्ष प्राप्त करना है, परन्तु अम्बेडकर इस विचार में विश्वास नही करते थे उन्होने 'अमर आत्मा' के अस्तित्व को, जो हिन्दू धर्म का मूल सिद्धान्त है, स्वीकार नही किया।

5. अम्बेडकर इस विचार से भी सहमत नही थे कि नैतिकता ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का प्रतिफल है अथवा नैतिकता धर्म का अनिवार्य अंग है। उनके अनुसार ईश्वर तथा नैतिकता के बीच सम्बन्ध बिल्कुल अनिवार्य नही है जबकि नैतिकता एवं धर्म के बीच है। वस्तुतः नैतिकता का धर्म में कोई स्थान नही है, आज धर्म का अर्थ सामान्यतः ईश्वर में विश्वास, आत्मा में विश्वास, ईश्वर की पूजा, पापमयी आत्मा का उद्वार, अर्चना अनुष्ठान अथवा यज्ञादि से ईश्वर को प्रसन्न करना स्वर्ग की कामना करना रह गया है। ईश्वरवादी धर्मो में नैतिकता वास्तव में प्रभावशाली नही है। [8]

6. उनका विचार था कि धर्म एक सामाजिक शक्ति है और मनुष्य तथा समाज के लिये आवश्यक है।

साथ ही अम्बेडकर ने यह भी स्वीकार किया कि धर्म की एक सामाजिक शक्ति के रूप

---

8. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृष्ठ 12.

में उपेक्षा नही की जा सकती। साथ ही धर्म दैविक अभिशासन की व्यवस्था भी प्रदान करता है जो यद्यपि अस्तित्व हीन होती है, पर उसे यथार्थ माना जाता है जैसा कि हिन्दू समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में पाया जाता है। अम्बेडकर द्वारा निर्धारित न्याय एवं सामाजिक उपयोगिता की कसौटी क्या है ? यह कसौटी स्वतन्त्रता समानता एवं भ्रातृत्व के महानत्रयी आदर्शो में निहित है। क्या हिन्दू धर्म उन्हे मानता या व्यवहार में लाता है ? नही कभी नही जैसा कि अम्बेडकर ने अनुभव किया। इसीलिये उन्होने हिन्दू धर्म का परित्याग किया और बुद्ध धम्म तथा संघ की शरण में चले गये। बुद्ध का धम्म स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के ही आदर्शो में निहित है। डा० अम्बेडकर ने हिन्दू समाज व्यवस्था के मूल तत्वों की परीक्षा की और यह पाया कि ये तत्व सामाजिक न्याय तथा उपयोगिता के प्रतिकूल है। संक्षेप में .... ''हिन्दू धर्म समता का शत्रु, स्वतन्त्रता के प्रतिकूल और भ्रातृत्व का विरोधी है'', जैसा कि अम्बेडकर ने अनुभव किया। (9)

(B) सामाजिक नेतृत्व

गौतम बुद्ध का नेतृत्व -

सामाजिक नेतृत्व देने वालो में सर्वप्रथम नाम तो गौतम बुद्ध का ही आता है क्योंकि पहले समाज सुधारक बुद्ध ही थे जिन्होने सर्वप्रथम जाति प्रथा की कड़े शब्दों में निन्दा की। हालांकि तब जाति प्रथा वर्तमान रूप में विद्यमान नही थी, तब व्यवहार में लचीलापन था आज की तरह कठोरता नही थी किन्तु असमानता का सिद्धान्त जो कि जाति प्रथा का आधार है, उस समय सुस्थापित हो गया था और इसी सिद्धान्त के विरूद्ध बुद्ध ने एक निश्चयात्मक और कठोर संघर्ष छेड़ा। जाति प्रथा विरोधी बुद्ध की धारणायें वाकई एक समतावादी समाज स्थापित करती है। बुद्ध ने व्यक्ति को अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाया। बौद्ध धारणा ने इस बात पर बल दिया कि आदमी प्रबुद्ध होकर अपने साथियों को सन्मार्ग की शिक्षा दे ताकि वे अपने प्रयासो से अपने दुखो की स्थिति को कम कर सके। इस धारणा से आदमी की उत्पत्ति के रहस्य में जाने की उपयोगिता नही समझी और न ही यह जानने का प्रयास किया कि आदमी का अति प्राकृतिक, ईश्वरादि से कोई सम्बन्ध है।

---

9. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृष्ठ 24.

इन प्रश्नों पर विचार–विमर्श से आदमी को कोई लाभ नही होता। उसने मनुष्य को एक विशेष सामाजिक स्थिति में देखा जो कुशल या अकुशल कर्मो के अनुसार अच्छी या बुरी हो सकती है।

प्राचीन भारत में भगवान बुद्ध समाज सुधार के सच्चे प्रहरी बन कर उभरे। वो एक ऐसे मार्गदाता थे जिन्होंने सामाजिक मुक्ति और आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होने खोज की प्रक्रिया की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया यह एक सामाजिक आन्दोलन ही था। बुद्ध की विचाराधारा के केन्द्र में मानव जीवन तथा उसकी बेहतरी को ही स्थान दिया गया धर्म के पाखण्ड को उन्होंने बिल्कुल नकार दिया। मानव के जीवनकाल में उपलब्धि पर जोर देकर आत्मा–परमात्मा के झमेले को उन्होने अलग कर दिया। गौतम बुद्ध का दलितों से कहना था कि "तुम अपना दीपक स्वयं बनो। अपने पर विश्वास करो दूसरे के अधीन न बनो, सत्य पर चलो, सत्य का ही आश्रय लो किसी दूसरे की शरण में न जाओ।" (10)

गौतम बुद्ध मनुष्य को वर्गो में बाँटने के सख्त विरोधी थे। वह सभी मनुष्यों को एक ही धरातल पर तौलते थे। बौद्ध धर्म की कर्मकाण्ड़ो के जाल से मुक्त है यह अन्य धर्मो की तरह एक धर्म नही बल्कि एक सामाजिक व्यवस्था है। और यही व्यवस्था दलितों में चेतना पैदा कर सकी कि सभी मनुष्य समान है।

गौतम बुद्ध सामाजिक नेतृत्व के उदगाता थे जिन्होने नैतिक मानववाद की चिन्तन धारा को जन्म दिया और इसी चिन्तन को नये आयाम दिये डा० अम्बेडकर ने।

बुद्ध ने दलित जागरण की शुरुआत उस समय की जब उन्होने श्रावस्ती (उ० प्र०) में 13 बरसाते बितायी। अपनी एक यात्रा के दौरान उन्होने देखा कि एक झाड़ू लगाने वाला दलित जिसका नाम सूलिक्षा था लहूलुहान है। सवर्णो ने उसे बुरी तरह पीटा था। बुद्ध ने उससे पूछा तुम क्यो डर रहे हो तो वो बताया कि मैं शूद्र हूँ मुझे कोई छूता नही है। बुद्ध ने वो पहला दलित देखा

10. बोधिसत्व : बाबा साहब डा० अम्बेडकर, जीवन और दर्शन डा० अंगने लाल

था और उसे तुरन्त उन्होने श्रावस्ती में ही अपने संघ में शामिल कर लिया। देखा जाये तो यह दलित जागरण की एक ऐतिहासिक घटना है, यही से बुद्ध का संघर्ष दलितों के लिये शुरू हुआ। उन्होने अपने संघ के प्रत्येक सदस्य चाहे अमीर हो गरीब हो, ब्राहम्ण हो या दलित हो सभी को एक ही पोशाक पहनने को कहा। यही से उन्होने समानता की भावना शुरू की। और उनकी यह भावना वैचारिक नही थी बल्कि पूरे जीवन में उन्होने इसे प्रेक्टीकल में निभाया।

अश्वघोष का सामजिक नेतृत्व -

समाज को सामाजिक नेतृत्व देने के बुद्ध के इसी क्रम में आगे नाम आता है 'अश्वघोष' का जो कि छठी शताब्दी में संस्कृत के कवि हुये और जाति के ब्राहम्ण थे। उन्होने मनुस्मृति में व्याप्त वर्ण व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया, सबसे रोचक बात तो यह है कि दलित जागरण की प्राचीन भारत में जो शुरूआत हुयी वो सभी उन व्यक्तियों ने की जो दलित नही थे। प्राचीन भारत में बहुत से कवि एवं साहित्य कार हुये है जिन्होने अपनी रचनाओं के द्वारा समाज सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

धर्म कीर्ति का नेतृत्व -

इसी श्रंखला में अश्वघोष के बाद नाम आता है 'धर्म कीर्ति' का जिनके द्वारा लिखा हुआ 'प्रमाण वर्तिकम्', बुद्धिज्म पर आधारित था और ब्राहम्णवादी व्यवस्था के विरोध में लिखा गया था, जिसको बीच के समय में गायब कर दिया गया और आगे चल कर 'राहुल सांस्कृत्यापन' ने तिब्बत के मठों में उसकी खोज की। आगे चलकर 11 वीं एवं 12 वीं सदी के आस–पास एक ब्राहम्ण कवि हुये 'सरहौता' जिन्होने अपने काव्य द्वारा ब्राहम्ण वाद पर वार किया। फिर 13 वीं शताब्दी में 'बरूला' नाम की एक ब्राहम्ण महिला हुयी जिसने इतनी जबरदस्त जाति प्रथा के बावजूद एक दलित व्यक्ति से प्रेम सम्बन्ध रखा बाद में पूरा जीवन उसी के साथ व्यतीत किया। पाँचवी सदी में नन्दनार, चोखामेला आदि दलित कवि हुये समाज सुधारक के रूप में सामने आये। सन्त तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त रविदास ऐसे आदि दलित कवि थे जो भक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हुये। पर समाज

सुधार की बात साथ में करते रहे।

सन्त रविदास -

सन्त रविदास जी की यह चौपाई उनके दलित चेतना सम्बन्धी विचार को दर्शाती है।

"रैदास एकन बूंद सो सबही भयों वित्थार

मूढ़ है जो करत बरण अन्वरण वित्थार"(11)

अर्थात जल की एक बूंद से सभी उत्पन्न हुये हैं, और वे मूर्ख हैं जो वर्ण और अवर्ण दूसरे शब्दों में, जो चातुर्थ–वर्ण व्यवस्था में विश्वास करते है।

एक दूसरे दोहे में वह कहते हैं कि

"जात–पांत के पैर महि डर कि रहई सब लोग

मनुष्यता को खाल हई जांत–पांत का रोग"(12)

यानि रविदास वर्ण/जाति संस्था को एक रोग के रुप में देखते है, और मनुष्य में मानवीय पक्ष के क्षय का प्रमुख कारण बताते हैं।

कबीरदास जी -

इसी समय कबीरदास जी का प्रादुर्भाव हुआ जिन्हे हम समाज सुधारक के रूप में ही देखते है। कबीरदास दलितों के गौरव के रूप में ही जाने जाते रहे है। कबीरदास जी ने कुछ भी प्रतिज्ञा कर के नही लिखा वो पाखण्ड के आलोचक तथा समाज सुधारक थे। धर्म के खोखले पन तथा समाज की बुराइयों पर वो अपनी रचनाओं द्वारा तीखा प्रहार करते थे। उनका ही एक दोहा है।

"ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँचे न होइ

सोवन कलस सुरै भरया साधु निंदा सोई" (13)

---

11. चन्द्रभान प्रसाद 'समकालीन भारत में दलित चेतना' (लेख) मनोरमा ईयर बुक 2001.
12. पुनः पेज नं० 18.
13. कबीरदास जी : साखी, काव्यांजलि – पृष्ठ 27.

कबीर दास जी फिर कहते है कि –

"वै जन्म की शूद्रिन परसे। तुम पांडे क्यो खाया
एक अवा के सवरे भांड़े न कोई शूद्र, न कोई पांड़े।।"(14)

"तुम कत ब्राहम्ण हम कत शूद्र, हम कत लोहू तुम कत दूध
जन्मत शूद्र, मूबे पुनि शुद्रा, कृतिम जनेऊ यालि जग द्वन्दा।।"(15)

इस तरह से कबीर अहिंसक क्रान्ति भावना के द्वारा धार्मिक असमानता के विरूद्ध क्रान्ति पैदा करना चाहते थे। कबीर दास जी के अतिरिक्त बंगाल में चैतन्य महा प्रभु, कर्नाटक में बसवेश्वर, महाराष्ट्र में नामदेव, एकनाथ व तुकाराम, तमिलनाडु में आलावर सन्त, गुजरात में नरसी मेहता आदि ऐसे कवि हुये जिन्होने दलितों को सामाजिक नेतृत्व भी प्रदान किया।

ज्योतिबा फुले -

ज्योतिबा फुले का नाम भी दलितों को सामाजिक नेतृत्व देने में अग्रणी रहा है। फुले कहा करते थे कि – मुझे यह सोचकर आश्चर्य होता है कि ब्राहम्ण आक्रमणकारियों ने यहाँ के मूल निवासियों में ऐसी धूर्ततापूर्ण कथाओं को गढ़–गढ़ कर प्रचारित किया जिससे वे मूल निवासियों को अपने बन्धन में जकड़कर सुविधापूर्वक उनके ऊपर युग–युगान्तर तक शासन करते रहे और आज भी उनका राज कायम है। भारत में ब्राहम्णी राज का इतिहास जानने वाले इससे सहमत होंगे कि शूद्रों और अतिशूद्रों को मानसिक रूप से गुलाम बनाने में इन्होने बड़ी दक्षता का परिचय दिया। अनेक पीड़ियों पहले ब्राहम्णों ने शूद्रों को दासता और बंधन की बेड़ियों में बाँध रखा था। असंख्य भट्ट (ब्राहम्ण) मनु आदि लेखको ने समय–समय पर अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु अपने बेकार मानसिकता से उपजाकर काल्पनिक कथाओं का अम्बार लगा दिया और उनको ग्रन्थों में समाविष्ट

14. पैरियर ललई सिंह – शोषितों पर धार्मिक डकैती – पृष्ठ 29.
15. पूर्वोक्ति

कर दिया। साथ ही इन गाथाओं को दैवीय शक्ति बताकर अबोध जनता को गुमराह किया। सर्वाधिक अनैतिक, अमानवीय अवैधानिक कार्यो को वे उस परमपिता परमेश्वर के नाम पर करते थे जिसे सृष्टि का रचयिता, रक्षक और पालनहार कहते थे तथा जिसे पवित्रतम घोषित करते थे। ये निन्दनीय ग्रन्थ जो घुसपैठियों के मस्तिष्क की उपज है ईश्वरीय सत्य संदेश के रूप में प्रस्तुत किये गये और इनके ऊपर संदेह करना सर्वाधिक अक्षम्य अपराध ठहराया गया।

फुले का कहना है कि आज ब्राहम्णी शिकंजे में शूद्र इतना अधिक फंस गया है कि अमेरिकी गुलामी की भाति उसका कोई शुभचिन्तक यदि उसकी मुक्ति के लिये संघर्ष करता है, तो वे उस संघर्ष का ही विरोध करने में लग जाते है।

ब्राहम्णी ग्रन्थों में शूद्रों को अज्ञानी तथा ब्राहम्णों की महत्ता का अतिरंजित वर्णन का फुले ने विरोध किया वो इस बात को कभी नही मानते थे कि ब्राहम्ण ईश्वर के समतुल्य है। उनका कहना था कि इस महान अपराध के लिये ब्राहम्णों को ईश्वर का जवाबदेह होना होगा। इनके उपदेशों का शूद्रों के मन मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे अपने जागरूक व बुद्धिजीवी समाज सुधारकों से, जो इन्हे इन मानसिक दासता से मुक्ति दिलाने हेतु तत्पर है तथा शोषक वर्ग के समर्थन में लड़ने को कमर कसे हुये है।

पेरियार रामास्वामी नायकर -

तमिल दलितों के, मसीहा के रूप में पेरियार रामास्वामी नायकर का नाम आता है। पेरियार ने अपने जीवन में सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से युद्ध किया। उन्होने कहा कि मैं तो आदमी हूँ। हाँ यह कि मैं भगवान को नही मानता। धर्म शास्त्र जाति और भगवान के बंधन में मैं आज भी आदमी को घुटने टेकते हुये देखता हूँ। साइंस के जमाने में अब इन वस्तुओं की सार्थकता मेरे समझ में नही आती। पेरियार का विचार था कि ईश्वर और धर्म दोनो में सुधार होना चाहिये, क्योंकि सामाजिक सुधार में यही दोनो बाधक है। उन्होने जाति पाँति के विरोध में तमिलनाडु में कई आन्दोलन चलाये।

19 वीं सदी का अंत आते जाति–व्यवस्था के विरोध में आवाजे तेज होती चली गयी। राना डे, दयानन्द और विवेकानन्द ने भी तत्कालीन जाति प्रथा का विरोध किया। सामाजिक सुधार के कार्य को प्रोत्साहित करने में राना डे ने बहुत उत्साह दिखाया। हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुये उन्होने कहा कि हिन्दू धर्म प्रारम्भ से ही खोटा सिक्का रहा है। उनका मानना था कि जहां तक सामाजिक वर्ण व्यवस्था का सम्बन्ध है तो क्या उससे अधिक भ्रष्ट कुछ ओर हो सकता है ? जाति प्रथा 'चातुर्वर्ण्य' का जो कि हिन्दू का आदर्श है एक भ्रष्ट रूप है। कोई व्यक्ति जो जन्मजात जड़ बुद्धि या मूर्ख नही है, चातुर्वर्ण्य को समाज का आदर्श रूप कैसे स्वीकार कर सकता है ? सामाजिक रूप से यह एक मूर्खता या अपराध है। केवल एक वर्ग को ही शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होना चाहिये, केवल एक वर्ग को ही व्यापार करने का अधिकारी होना चाहिये तथा केवल एक ही वर्ग को सेवा करने के लिये होना चाहिये। राना डे का कहना था कि यह सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के लिये तो हानिकारक है ही। साथ ही समाज को भी भेध्य तथा नाजुक बना देती है। समाज संरचना को केवल एक अच्छे मौसम के अनुकूल होना ही पर्याप्त नही है, बल्कि उसके पास तूफान को झेलने की शक्ति भी होनी चाहिये। और हमारी हिन्दू वर्ग व्यवस्था किसी आक्रमण की झंझा को झेलने में सफल नही हो सकती।

सामाजिक चेतना के इसी क्रम में एक नाम आता है छत्रपति शाहूजी महाराज का, जो जातीय व्यवस्था रहित देश की आजादी के पक्षधर थे। होम रुल के सम्बन्ध में उन्होने स्पष्ट रुप से विचार रखें थे "जब तक हमारे बीच यह जातीय भेदभाव तथा जातिगत द्वेष रहेगा तब तक हम आपस में लड़ते रहेंगे। यदि जातियां इसी रुप में रही, जैसी हैं तो होमरुल अपने सही अर्थ में नहीं आ सकेगा न ही इसका कोई फल मिल सकेगा, बल्कि एक वर्ग विशेष के हाथ में सत्ता बनी रहेगी"(16)

उनका कहना था कि मेरी यह प्रबल आकांक्षा है कि जाति व्यवस्था सदा के लिये समाप्त

---

16. डा० रामकृष्ण राजपूत (लेख) सामाजिक चेतना के जनक : छत्रपति शाहूजी महाराज – उत्तर प्रदेश सन्देश, जुलाई 1995 – पृष्ठ 6.

कर दी जाये। मीमांसा पद्वति निश्चित रुप से पौराणिक योगापन्थी को पुर्नजीवित करेगी। मैं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विरुद्ध हूँ।

भारतीय समाज में अस्पृश्यता अत्यधिक प्राचीन है। महावीर, बुद्ध, नानक, कबीर आदि मध्यकालीन सन्तों एवं 19 वीं शती के सामाजिक सुधारकों ने एक जुट होकर इस अमानवीय प्रथा के विरूद्ध आवाज उठाई। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक नेतृत्व दिया महात्मा गान्धी ने। महात्मा गान्धी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा कलंक मानते थे। उनके लिये अस्पृश्यता निवारण का अर्थ मनुष्य मनुष्य के बीच कृत्रिम दीवारों को ढहाना था। कोई धर्म प्रेम और तर्क से बड़ा नही होता। उन्होने इस बुराई के विरूद्ध अहिंसक संघर्ष किया।

गान्धी जी -

गान्धी जी ने जब राजकोट भयंकर महामारी की चपेट में आया तब अछूतों की झोपड़ियों में जाकर उनकी सेवा की और सफाई का ध्यान रखा। उन्होने अहमदाबाद में एक आश्रम की स्थापना की और उसके संविधान में अस्पृश्यता निवारण की शपथ रखी। उसी आश्रम में उन्होने अछूत दूदाभाई और उसके परिवार को आश्रम में रखा जिसके फलस्वरूप रूढ़िवादी तत्वों ने न केवल आश्रम की सहायता बन्द कर दी बल्कि सामाजिक बहिष्कार की धमकी दी। आर्थिक सहायता के अभाव में आश्रम की कठिनाइयां बढ़ गयी। आश्रमवासियों के लिये कुंओं का प्रयोग वर्जित कर दिया गया। इसी समय गान्धी जी ने श्री निवास शास्त्री को लिखा, कि मैने अपनी पुत्री से कहा कि हम अच्छे मित्रों की भाँति एक दूसरे से अलग हो सकते है। परन्तु दादूभाई को नही छोड़ सकते। मेरे लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योकि यह मुझे दलित उत्थान के मिशन से जोड़ता है। दलित उत्थान में ही स्वराज्य निहित है। गान्धी जी ने कहा कि हम अछूतों के मोहल्ले में जा बसेंगे और मजदूरी कर के निर्वाह कर लेंगे।[17]

काँग्रेस का नेतृत्व संभालने के बाद 1920 में नागपुर कांग्रेस के मंच से अस्पृश्यता को

17. एस० के० मित्तल (लेख) महात्मा गान्धी एवं हरिजन, अमर उजाला 2 अक्टूबर 1995

समाप्त करने की अपील की। असहयोग आन्दोलन के दौरान अपने देशव्यापी दौरे में छुआछूत पर आक्रमण किया। दक्षिण भारत के मंदिरों के कपाट अछूतो के लिये खोलने के लिये बाइकोम सत्याग्रह को निर्देशित किया। परिणाम स्वरूप दलितो के लिये मंदिरो के द्वार खोल दिये गये। बेलगांव कांग्रेस ने छूआछूत के विरूद्ध एक विशेष प्रस्ताव पारित किया। 1924 से 1929 के मध्य अस्पृश्यता निव रण गान्धी के कार्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण अंग था। दलितो को अल्प समुदाय मान इन्हे पृथक प्रतिनिधित्व देने की बात को गान्धी जी ने भारतीय जनता की एकता को तोड़ने का एक कुटिल प्रयास माना। वो इसे दलितो के लिये एक खतरनाक कदम मानते थे क्योकि यदि दलितो को पृथक समुदाय मान लिया जाये तो अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अछूत सदैव अछूत रहेगे। बाद में इस समस्या का हल "पूना पैक्ट" के रूप में सामने आया।

गान्धी जी ने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना कर के 20 000 कि०मी० की यात्रा कार, गाड़ी, बैलगाड़ी और पैदल की तथा हरिजन उत्थान का बीड़ा उठाया। अपनी 9 माह की यात्रा में गान्धी जी ने हरिजन सेवकों से गाँव में जाकर दलितों के सर्वांगीण उत्थान के लिये कार्य करने को कहा। 8 मई एवं 16 अगस्त 1933 को दलितों की समस्या को गम्भीरता से लेने के लिये 21 दिनों के दो लम्बे उपवास किये। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से गान्धी ने कहा, उन्हे या तो अस्पृश्यता को समाप्त करना होगा या अपने मध्य से मुझे हटाना होगा। अपनी यात्राओं के दौरान गान्धी जी को रूढ़िवादियों एवं सामाजिक प्रतिक्रियावादियों के विरोध का सामना करना पड़ा। उन्होने गान्धी की सभाओं में गड़बड़ी फैलाई, काले झंडे दिखाये, उत्तेजनात्मक पर्चे बांटे और उनका पुतला जलाया।

गान्धी जी का दलित उत्थान मिशन मानववाद और तर्क पर आधारित था। उनके अनुसार हिन्दू शास्त्रों में अस्पृश्यता का कोई स्थान नही है। उनकी मान्यता थी कि यदि अछूत पन जीवित रहा तो हिन्दू धर्म नष्ट हो जायेगा। वो कहते थे कि यदि अछूतपन हिन्दू धर्म का जरूरी भाग है तो मैं अछूत नही हूँ। हालांकि वो वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वो वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता की समाप्ति को एक नही अलग–अलग मानते थे।

उनका कहना था कि 'वर्णाश्रम, धर्म और अस्पृश्यता में कोई सम्बन्ध नही'। उन्होने अस्पृश्यों के लिये सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों का संघर्ष छेड़ने के बजाय सवर्णो में पापबोध जगाने और उसके प्रायश्चित पर जोर दिया। 1931 में नासिक के कालाराम मंदिर में अस्पृश्यों के प्रवेश के लिये सत्याग्रह के बारे में भी गान्धी जी का यह मत था कि यह सत्याग्रह अछूतों को नही, स्पृश्यों को करना चाहिये। (18)

गान्धी चूँकिः जनै–वैष्णव संस्कारों में पले–बढ़े थे, इसीलिये उनके जीवन पर धर्म की गहरी छाप थी। 'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जो पीर परायी जागे रे, की भावना से ओत–प्रोत गान्धी के लिये अस्पृश्यता परायी पीर हो कर भी परायी नही थी। सिर्फ इसलिये नही कि वे अत्यन्त संवेदनशील थे और उन्होने भारतीय समाज के 'अंतिम आदमी' से तादात्म स्थापित कर लिया था। बल्कि इसलिये भी कि दक्षिण अफ्रीका में मारित्सबर्ग स्टेशन पर हुई घटना से उनको भी प्रकारांतर से अस्पृश्यता का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया था। इसी घटना के बाद ही गान्धी जी में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। हाँ ये बात जरूर है कि अम्बेडकर जाति–पाँति तोड़ने को सर्वोच्य प्राथमिकता देते थे, और गान्धी जी की प्राथमिकता उस वक्त अंग्रेजों को भारत से निकालने की थी। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व करते हुये रणनीतिक दृष्टि से गान्धी ने जो भी किया हो किन्तु वे सतत् अस्पृश्यता विरोधी रहे। ऐतिहासिक सच तो यह है कि वे धीरे–धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ छुआ–छूत ही नही, जाति प्रथा के भी विरोधी होते गये। जीवन के अंतिम दौर में तो उन्होने यह तक कहा था कि वे सवर्ण और अस्पृश्य में होने वाले विवाह को भी आर्शीवाद देगे। गान्धी दलित मुक्ति को एक सामाजिक–नैतिक सुधार के आन्दोलन के रूप में देखते है। उन्होने बार–बार कहा कि कोई काम न तो छोटा है और न बड़ा। वे बार–बार श्रम की प्रतिष्ठा पर जोर देते थे। उन्होने स्वयं मलमूत्र साफ करने का कार्य किया। उनके अनुयायियों ने भी मलिच्छ काम कर समाज के सामने उदाहरण पेश किया।

18. य० दि० फडके, आंबेडकरी चलबल, श्री विद्या प्रकाशन, पुणे, पृष्ठ 391.

डा० अम्बेडकर -

अम्बेडकर यदि दलितों को जगाने का प्रयत्न कर रहे थे, तभी गान्धी अस्पृश्यता के विरूद्ध सवर्णो की पथरायी हुयी अंतरात्मा को झकझोरने की, उनको अपनी गलती महसूस कराने की, उनमे अपने पूर्वजों और खुद अपनी अमानुषिकता के लिये पाप बोध जाग्रत करने का कार्य कर रहे थे। संत साहित्य को अपना हथियार बनाकर वे छुआछूत के समर्थकों से लड़े। सवर्णो में पाश्चाताप भाव और न्याय बुद्धि जगाने का गान्धी जी का यह प्रयत्न देश में दलितों की स्थिति को देखते हुये भी सही था। आर्थिक दृष्टि से वे नितान्त दीन-हीन थे। सदियों से अन्याय के विरूद्ध लड़ने की कोई आदत उनमें नही थी। इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में दलितों का कोई आन्दोलन, तभी सफल हो सकता था जब सवर्णो का खुले दिलो दिमाग वाला और आगे देखने वाला हिस्सा इसमें सक्रिय सहयोग दे। गान्धी जी ने इसके लिये जमीन तैयार की थी।

सामाजिक नेतृत्व में अग्रणी भूमिका निभाने वाले अम्बेडकर ने महात्मा फुले के सिद्धान्तों को आत्म सात कर लिया था। वे एक ऐसे समाज के स्वप्न दृष्टा से जिसमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व का साम्राज्य हो। इंग्लेंड और अमेरिका में ज्ञार्नाजन कर के व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण के साथ उन्होने वह मार्ग खोज निकाला जिस पर चलने से वह अपने समाज को सवर्ण हिन्दुओं के चंगुल से छुटकारा दिला सकते थे। उन्हे ब्राहम्णवाद से लोहा लेना था और उसके लिये उन्हे सवर्ण हिन्दुओं के विरूद्ध सामाजिक लड़ाई लड़नी थी।

अम्बेडकर जानते थे कि भारत एक विशाल देश है और अपनी-अपनी परम्पराओं एवं रूढ़ियों में लोग इस तरह जकड़े हुये है कि व्यापक आन्दोलन ही उन्हे इससे मुक्त कर सकता था। परलोकवादी भारतीय दर्शन एवं धर्म ऐसा करने में सक्षम सिद्ध नही हुये। यही कारण है कि अम्बेडकर के सामाजिक नेतृत्व का आधार वेद और वेदान्त नही था। ये नई जीवन दृष्टि की ओर प्रेरित नही कर पा रहे है। इनसे प्रभावित हिन्दू विद्वान आदमी तथा समाज को वही सम्बद्ध कर देते है जहां असमानता, अन्याय और अत्याचार की जड़ें व्याप्त हैं। अम्बेडकर जैसे विद्वान व्यक्ति ने वेदो के भ्रान्तिपूर्ण जीवन दर्शन को पहचाना और निर्भीक होकर भारतीय स्थिति में उसे अवैज्ञानिक और

अमानुषिक व्यवस्था की संज्ञा दी। उन्होने देश के नागरिकों के मानस की नये चिंतन की मशाल से अलौकिक करने में दायित्व को भली–भाँति निभाया। हालांकि उनकी इस समाजवादी चिन्तन धारा को कट्टर पंथी और वेदान्ती विद्वान भारतीय परम्परा एवं संस्कृति के विरूद्ध समझते थे, जो पूर्णतः दोष युक्त है। मानववाद की परम्परा एवं संस्कृति हमारे यहाँ प्राचीन युग से चली आ रही है। भगवान बुद्ध इस धारा के उद्गाता थे। उन्होने समाजवाद एवं नैतिक मानववाद की चिन्तन धारा को जन्म दिया। अम्बेडकर ने इसी मानववादी चिन्तन को नये आयाम दिये और उन्हे बहुत सफलता भी मिली। वस्तुतः उन्होने अपने दर्शन को ईश्वर, ब्रह्म, दिव्यता, वर्ण, जाति, वेद, वेदान्त, गीता आदि से अलग रख कर सीधे आदमी और उसकी सामाजिक स्थिति से जोड़ा है। जो नई सभ्यता और संस्कृति की ओर स्पष्ट संकेत है।

अम्बेडकर विचार और व्यवहार में सन्तुलन बना कर चलने वालों में से थे। उनकी गतिशीलता के सिद्धान्तों का आधार यही था कि संसार में 'कुछ भी जड़ नही है, कुछ भी शाश्वत नही है और कुछ भी सनातन नही है, हर चीज परिवर्तनशील है। परिवर्तन मानव और समाज का धर्म है। [19] उनका कथन था कि मानव की पीड़ाओं में सामाजिक परिस्थितियों का बहुत हाथ होता है। उनका आदर्श ऐसे समाज की रचना करना था जो समता, स्वतन्त्रता और भ्रातभाव पर निर्भर हो। एक आदर्श समाज में अनेक वर्ग विद्यमान रहे और वे एक दूसरे के हितों को समझे और सहयोग करे। समाज की समस्याये उलझानी नही सुलझानी चाहिये। इसके लिये वे सामाजिक चेतना पर जोर देते थे जिसको वे सभी अधिकारों की चाहे वे मौलिक हो या सामाजिक, संरक्षक मानते थे। [20] उनका कहना था कि सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक स्थायित्व विभिन्न वर्गो के बीच लचीलेपन और बराबरी के अधिकार पर आधारित होता है। वे स्थायित्व के महत्व को मानते थे किन्तु परिवर्तन की बलि चढ़ा कर नही जबकि परिवर्तन आवश्यक हो, समन्वय जरूर हो मगर इसके लिये सामाजिक न्याय का गला नही घोट दिया जाना चाहिये। [21] सामाजिक स्थायित्व से उनका आशय भारतीय

---

19. आम्बेडकर अनिहिलेशन ऑफ कॉस्ट
20. अम्बेडकर, राना डे, गान्धी और जिन्ना
21. अम्बेडकर, राना डे, गान्धी और जिन्ना

समाज में पनपी जाति–प्रथा के निषेध से है।

डा० अम्बेडकर ने जो सामाजिक संघर्ष छेड़े, उनका उद्देश्य हिन्दू समाज में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अछूतों के साथ किये जाने वाले अन्यायपूर्ण दुर्व्यवहार का मुँह तोड़ना था। अम्बेडकर चाहते थे कि समाज के सभी वर्गो का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में समान स्थान हो तथा उन्हे ज़ीवन में ऊपर उठने के समान अवसर दिये जाये और उनकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया जाये। प्रत्येक सामाजिक संघर्ष के पीछे यही मौलिक भावनायें थी जो कि अछूतों ने अम्बेडकर के नेतृत्व में जातीय साम्प्रदायिक अत्याचारों के विरोध में छेड़े अम्बेडकर ने दलितों के मानवीय सम्मान के लिये निम्न सामाजिक संघर्ष छेड़े।

राहुल सांस्कृत्यायन -

बौद्ध चेतना के अग्रदूत महापण्डित राहुल सास्कृत्यायन ने दलितों को क्रान्तिकारी सामाजिक नेतृत्व दिया उनका कहना था कि जाति–पाँति व्यवस्था हमारे ऋषि–मुनियों के उन बड़े अविष्कारों में से है जिन पर हमे बड़ा अभिमान है। राष्ट्रीय भावनाओं की जागृति के साथ–साथ यद्यपि कुछ गिने चुने नेता लोग जाति–पाँति के खिलाफ बोलने लगे है पर अब भी उच्च कोटि के नेताओं का अधिकांश भाग अपने ऋषियों की इस अद्भुत विशेषता की कद्र करने को तैयार है। राहुल जी कहते है कि मुझे आश्चर्य होता है कि कैसे राष्ट्रीयता और जाति–पाँति दोनो साथ दाहिने–बांये कन्धे पर वहन किये जा सकते है। शुद्ध राष्ट्रीयता तब तक नही आ सकती जब तक आप जाति--पाँति तोड़ने को तैयार नही है। जब आप किसी भी पद पर पहुंचेगे तो ईमानदारी रहने पर आपकी राय को प्रभावित करने में सफलता सबसे अधिक आपके जाति भाइयों की होगी।

19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से हमारे कुछ नेताओं ने दलितों पर होने वाले अत्याचारों पर विचार करना प्रारम्भ किया और सच पूछिये तो महात्मा गान्धी के उत्थान के पूर्व हमारे इन भाइयों के अभ्युदय के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार ही नही किया गया था। परन्तु राहुल सास्कृत्यायन के विचार से अभी भी इस विषय पर जितना ध्यान दिया जा रहा है वह काफी नही है। यदि भारतवर्ष

में सारे मंदिर अछूतों के लिये खोल दिये जाये तो भी यह समस्या हल नही हो सकती क्योकि भारत की सीमा के भीतर दलितों में जो दरिद्रता है, वह अचिन्त्य है अछूत जो खेत मजदूर है वह गुलामों से अच्छी परिस्थिति में नही है। इसलिये हमे उनके लिये मन्दिर द्वार खोलने के प्रचार में बेकार समय नष्ट नही करना चाहिये। यह काम केवल व्यर्थ ही नही बल्कि खुद दलितों के लिये भी खतरनाक भी है। यह पुरोहितों की चालाकी और धर्मान्धता ही है जो कि उनकी वर्तमान अथोगति का कारण है। इन सरल मनुष्यों को ऐसी सरल सस्ती औषधि न दीजिए। पुजारी, धर्म और मंदिर को जहन्नुम में जाने दीजिये। अगर आपके सामने अपने देश और अपने लिये सच्चा आदर्श है तो उनकी आर्थिक विषमताओं का अध्ययन कीजिये। राहुल जी कहते है कि हमारे प्रान्त में 65 लाख से अधिक दलित हैं उनमें 5 लाख से अधिक किसान के रूप में भी नही रह सकते है। अब प्रश्न यह है कि बाकी 60 लाख की दशा कैसे सुधारी जाये ? हमारे बहुत से जिलो में अधिकांश जमीन खेत हो चुकी है। उदाहरण के लिये, सारन जिले का क्षेत्रफल 2683 वर्गमील है जिसमें 2058 वर्ग मील अर्थात 13117120 एकड़ में पहले से ही खेती होती है। 202 वर्ग मील अर्थात 129230 एकड़ खेती के लायक नही है केवल 165 वर्ग मील अर्थात 105600 एकड़ जमीन ऐसी है जो खेती करने के लायक है। किन्तु फिर मवेशियों के लिये चारागाह का प्रबन्ध करना होगा। अगर समूची जमीन उनकी 2486468 जनसंख्या में बाँट दी जाये तो आधा एकड़ प्रति मनुष्य पड़ती है तो इतने से तो केवल जीवन यात्रा भी नही चल सकती अब इस जनसंख्या में 271000 अछूत है। इससे स्पष्ट है कि जब जमीन की बचत नही पायी जा सकती तो इन दो लाख से भी अधिक दलित मजदूरों में बांटी जा सके। (22)

राहुल जी के अनुसार सरकार को दलितो की स्थिति सुधारने हेतु निम्न सुविधायें जुटानी चाहिये।

(A) कृषि हेतु भूमि का प्रबन्ध -

सरकार को ऐसी जमीन का अंदाज करे जो खेती के लायक है उसे ले कर दलितों में

---

22. राहुल सांस्कृतायन : दिमाग गुलामी – 1994 पेज 39

बाँट देनी चाहिये। यदि हम शीघ्रता से दलितों की दशा सुधारना चाहते है तो यह आवश्यक है कि हम उनके साथ उक्त प्रकार का नया बन्दोबस्त करें यदि सरकार इस मामले को गम्भीरता से अपने हाथ में ले ले तो खेती के लिये अछूत बहुत परिश्रमी मजदूर है और यदि सहयोग समितियों की सहायता से उनके परिश्रम का सच्चा और ठीक उपयोग किया जाये तो ऐसे प्रबन्ध के लिये जितन धन की आवश्यकता होगी, उसकी पूर्ति में देर लगेगी क्योकि परिश्रम ही तो धन है।

(B) गृह शिल्प -

शहरों और कस्बों में उनके लिये बस्तियाँ बसानी चाहिये। उन लोगो को गृह शिल्पों के उपयोगी तरीके सिखाये जाने चाहिये। शहरों और कस्बों में आने पर वे गाँवों की संकीर्णता से मुक्त हो जाते है। और यहाँ जीवन के नये तौर से आरम्भ कर सकते है। अगर वे आर्थिक दृष्टि से उन्नत बन जाये, शिक्षा प्राप्त करे और स्वास्थ्य एवं सफाई का ख्याल रखे तो छूत–छात का अस्तित्व बहुत दिनों तक नही रह संकता है। इन आदर्श बस्तियों में यदि कोई उच्च वर्ण का कुटुम्ब रहना चाहे तो उसको इस शर्त पर रहने देना चाहिये कि वह दलितों के साथ बराबरी का व्यवहार रखे और उनके परिश्रम का अनुचित उपयोग न करे।[23]

सरकारी कल-कारखाने -

हम लोगों को आबादी का नया तरीका सोचना चाहिये और यदि कुछ विलासिता की चीजों के निर्माण को, उदाहरणार्थ सिगेरट को सरकार के हॉथ में लिया जाये तो सरकार की आय बढ़ सकती है। यूरोप के बहुत से देश सिगरेट पर विशेष कर लगाये हुये है, लेकिन हम लोगो के लिये जापान का आदर्श सामने रखना चाहिये। जहाँ कि सिगरेट बनाने का समूचा व्यापार सरकार के हाथ में है। हमारा प्रान्त भी वो काम कर सकता है। हमारे प्रान्त में तम्बाकू काफी उत्पन्न होती है। सरकार को यह व्यापार अपने हाथ में ले लेना चाहिये। वह पिछड़ी जातियों को ऐसे कारखानों में काम देकर सहायता पहुँचा सकती है। सारांश यह है कि भविष्य की औद्योगिक योजना में सरकार

23. पूर्वोक्ति

दलितों को अधिक से अधिक आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करे।

महाड बावड़ी सत्याग्रह -

5 अगस्त 1926 को गैर ब्राहम्ण दल के नेता एस० के० बोले जो कि सम्मानीय सुधारक और बम्बई के लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य थे उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जो इस प्रकार था – यह परिषद सिफारिश करती है कि सरकारी खर्चे से बने या सरकार द्वारा संरक्षित अथवा सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रशासित या कानूनन अधिकार प्राप्त किसी भी सार्वजनिक पनघटों कुओं या धर्मशालाओं का उपयोग अछूतों को करने का अधिकार दिया जाये। 11 सितम्बर 1923 को प्रस्ताव लागू हुआ परन्तु इसके बावजूद बहुत से स्थानीय बोर्डो और नगरपालिकाओं ने दलित जातियों को नागरिक अधिकार नही दिये। 5 अगस्त 1926 को बोले ने फिर एक प्रस्ताव पेश किया इसमें कहा गया कि उन स्वायत्त संस्थाओं को अनुदान देना बन्द कर दिया जाये जो तीन साल पहले पास किये गये परिषद के प्रस्ताव को लागू नही कर रहीं है 'बोले' प्रस्ताव को लागू करने के लिये महार नगर पालिका के मीठे पानी के लिये विख्यात बावड़ी पर सभी जातियों को जाने की अनुमति दे दी। इस बात पर सवर्ण बौखला गये।

19 और 20 मार्च 1927 को महार में एक अछूत सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें 10 हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अपने अध्यक्षीय भाषण में अम्बेडकर ने कहा कि कुलीनता और हीनता की भावना समाप्त की जाये। दलितों को चाहिये कि वे स्वावलम्बन, स्वाभिमान और आत्मविवेक के बल पर ऊँचे उठे। वे अपना वतन छोड़ दे और सरकारी नौकरियों में भर्ती हो, खेती के लिये जंगलों की खाली जमीन पर मेहनत करे। सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया, और सरकार तथा सवर्ण हिन्दुओं से अपील की गई कि बोले प्रस्ताव को क्रियान्वित किया जाये। दो सवर्ण हिन्दुओं ने इसका अनुमोदन भी किया। सम्मेलन के बाद सभी 10,000 प्रतिनिधियों ने चबदार तालाब की ओर कूच किया ताकि पानी पीनें और भरने का अपना अधिकार प्राप्त किया जा सके।[24]

---

24. डब्लू० एन० कुबेर० (लेख) 'आधुनिक भारत के निर्माता–डा० अम्बेडकर' – सामाजिक संघर्ष पृष्ठ – 21

25 दिसम्बर 1927 को महार में ही एक सत्याग्रह सम्मेलन बुलाया गया। जिसमें अपने भाषण में अम्बेड़कर ने कहा कि वर्णव्यवस्था सभी असमानताओं की जड़ है। उनका कहना था कि समानता का अर्थ है कि सभी को समान अवसर मिले और प्रतिभा को ही प्रोत्साहन दिया जाये। (25) उन्होने इस बात पर बल दिया कि हिन्दू समाज का गठन दो सिद्धान्तो पर किया जाये समानता और जाति विहीनता।

मंदिर प्रवेश आन्दोलन -

मई 1930 में नासिक के काला राम मंदिर में प्रवेश के लिये आन्दोलन शुरू किया गया। अम्बेडकर सोचते थे कि इस तरह का सत्याग्रह अन्य मंदिरों में प्रवेश के लिये सहायक होगा और हिन्दुओं के दिलों में परिवर्तन करेगा। इस शान्तिपूर्ण सत्याग्रह का आयोजन अम्बेडकर के नेतृत्व में किया गया। भाऊराव गायकवाड़ सत्याग्रह समिति के सचिव थे। लगभग 15 हजार पुरूष और 500 महिला स्वंय सेवियों ने सत्याग्रह में शामिल होने की तैयारी कर ली।(26) एक मील लम्बा जुलूस चार–चार के समूह में काला राम मंदिर की ओर बढ़ा। चूकिः मंदिर के पट बन्द थे इसलिये जुलूस गोदावरी के घाटों की तरफ मुड़ गया।सवर्ण हिन्दुओं ने उस पर पत्थर और जूते बरसाये एक महीने के संघर्ष के बाद संवर्ण हिन्दुओं और दलितों के बीच सुलह हो गयी। यह निश्चय किया गया कि रामनमवीं के दिन अछूत और सवर्ण जातियों के शक्तिशाली पुरूष रामचन्द्र जी के रथ को खींच कर लायेंगे। पर सवर्ण अपने वायदे से मुकर गये और अकेले ही रथ खींचकर ले आये। मंदिर के पट पूरे साल के लिये बन्द कर दिये गये। यह आन्दोलन अक्टूबर 1935 तक चलता रहा। स्वयं सेवकों की गिरफ्तारी का समाचार लंदन के 'द टाइम्स' समाचार पत्र में छपा और गोलमेज सम्मेलन में डा० अम्बेडकर के लिये यह बड़ा प्रभावकारी सिद्ध हुआ।

डा० अम्बेडकर ने जो आन्दोलन चलाये उनमें महाड़ बावड़ी, सत्याग्रह, मनुस्मृति दहन और कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह में शामिल थे। इन सामाजिक संघर्षो के पीछे उद्देश्यों की भी

---

25. महाद पत्रिका
26. डब्लू० एन० कुबेर० (लेख) 'आधुनिक भारत के निर्माता–डा० अम्बेडकर' – सामाजिक संघर्ष पृष्ठ – 23

उन्होने उद्घोषणा की। उन्होने कहा कि यह सही नही है कि हम हर बात सत्याग्रह के रास्ते मनवा ले। यह तो उच्च कहलाने वाले हिन्दू वादियों से एक प्रार्थना है। [27] यह सत्याग्रह हिन्दुओं के ह्रदय परिवर्तन का प्रयास है। उनका विश्वास था कि अछूतों की समस्या केवल पूजा अर्चना से ही नही सुलझ सकती। उन्होने हिन्दुओं के ह्रदय परिवर्तन पर भी बल दिया।

डा० अम्बेडकर ने देखा कि हिन्दू समाज में शूद्र–अछूत तथा पद्दलित कहे जाने वाले लोगो पर अनेक निर्योग्तायें लाद रखी थी। उन्हे मानव अधिकार प्राप्त नही थे। वे न पढ़ सकते थे और न ही शास्त्रो को सुन सकते थे। उन्हे शस्त्र तथा सम्पत्ति का कोई अधिकार नही था। वे गंदी तथा नरकीय दयनीय एवं दरिद्र स्थितियों में जीने–रहने के लिये बाध्य कर दिये गये थे। उन्हे पहनने को अच्छे साफ–सुथरे वस्त्र न मिले, न अच्छा स्वस्थ भोजन सुलभ हो और न कोई नागरिक सुविधा प्राप्त हो, ऐसे कठोर एवं अकाट्य सामाजिक बंधन थोप रखे थे उन पर विशेषकर मनुस्मृति की विधि–विधान की दृष्टि से। इस प्रकार सामाजिक दासता भारतीय स्थिति की नियति थी। अम्बेडकर भी इन्ही लोगों में जन्में थे, इन सभी यातनाओं को झेला था और सामाजिक दासता के शिकार हुये थे। इसलिये उन्होने सर्वप्रथम इन दलित–अछूत तथा पद्दलितों को सामाजिक आजादी की बीड़ा उठाया और कहा कि इन्हे राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सम्पन्ता की बजाय सामाजिक सम्मान एवं समता की कही अधिक आवश्यकता है। वह सामाजिक अधिकारों के सजग प्रहरी बने। उन्होने ईश्वर के समक्ष समता की बात को स्वीकार नही किया और न ही उन शास्त्रगत सामाजिक नियमों को माना जिनसे मानव व्यक्तित्व की गरिमा नष्ट होती हो और मानवता का अहित होता हो। यही कारण है कि उनके सामाजिक मानववाद के चिन्तन में आदमी की सामाजिक आजादी, समता एवं बन्धुत्व मूल–भूत तत्व है।

वह समता समाज और समान अधिकारों के सशक्त समर्थक थे। अम्बेडकर ने हर एक आदमी की सम्मानजनक रूप में जीने की अभिलाषा को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया और कहा

27. खरात मुक्ति संग्राम

कि मजहब, वर्ण, जाति, समुदाय, स्थान, जन्म, रंग आदि को लेकर किसी के साथ भेदभाव न किया जाये और न ही किसी पर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं को लादा जाय।[28] वह सामाजिक स्वतन्त्रता और समता के मूल्यों को बेइज्जती की रोटी–रोजी से कहीं अधिक महत्व देते थे। यही कारण है कि डा० अम्बेडकर ने भारतीय संविधान में नीति–निर्देशक तत्वों और मौलिक अधिकारों को सम्मिलित करवाया जो मानव व्यक्तित्व की गरिमा के द्योतक है। उन्होंने बुद्ध के धम्म को भी इसलिए स्वीकार किया कि उसमें सभी लोगों की सामाजिक आजादी और समता पूर्णतः सुरक्षित है और आदमी को समान प्रतिष्ठा मिलती है जिसका जन्माधार से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(C) आर्थिक नेतृत्व

दलितों का आर्थिक संघर्ष -

अम्बेडकर को अनुसूचित जातियों की आर्थिक स्थिति का पूरी तरह पता था । वे जानते थे कि इन जातियों के लगभग सभी सदस्य आर्थिक दृष्टि से सर्वहारा है । केवल सामाजिक प्रतिष्ठा से ही नहीं, धन–दौलत से भी वे पूर्णतया वंचित है । इनका शुमार श्रमिक वर्ग में ही होगा । अतः वे भली भाँति समझते थे कि उन्हें सामाजिक अन्याय के खिलाफ ही नहीं बल्कि आर्थिक शोषण के खिलाफ भी लड़ना होगा । इस अर्थ में वे समाजवादी अर्थ–व्यवस्था के काफी निकट थे । यद्यपि वे पक्के लोकतन्त्रवादी थे, उन्होंने लोकतन्त्र की समानता मुक्त व्यापार या संविदा की स्वतन्त्रता से नहीं दिखाई । वे राजनैतिक लोकतन्त्र को सामाजिक लोकतन्त्र में बदलना चाहते थे । मजदूर संघ की एक बैठक को संबोधित करते हुये उन्होंने सितम्बर 1943 में कहा था ।

"संसदीय लोकतन्त्र के आदर्श को नष्ट किया हैं संविदा की स्वतन्त्रता की कल्पना ने । संसद ने आर्थिक असमानताओं की ओर ध्यान नहीं दिया और संविदा के पक्षों के बीच गैर बराबरी की सूरत में संविदा की शर्तों के परिणामों पर विचार नहीं किया । परिणाम यह हुआ कि संसदीय लोकतन्त्र ने स्वतन्त्रता के समर्थक के नाते गरीबो, दलितों और अधिकार–वंचित लोगों के खिलाफ होने वाले अन्याय को निरन्तर आगे बढ़ाया ।"[29]

---

28. पूर्वोक्ति
29. बाबा साहेब अम्बेडकर – एक चिन्तन, मधु लिमये पृष्ठ – 107

आर्थिक समस्यायें -

एक व्यापक परिपेक्ष में, देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान में उनकी विशेष रूचि थी। वह चाहते थे कि भारत के पीडित–दलित वर्गो के दुखो का अन्त हो। वस्तुतः उनकी दृष्टि में, ऐसी किसी भी आर्थिक नीति को अपनाना अनुचित है जो भारतीय समाज में रह रहे निर्धन एवं कमजोर वर्गो की मूल भूत आवश्यकताओं से उद्‌भूत न हो और उनकी सम्पूर्ति से मेल न खाती हो। वह एक ठोस यर्थाथवादी आर्थिक नीति के समर्थक थे।

अम्बेडकर के आर्थिक विचारों के महत्व एवं प्रासंगिकता को कोई भी आसानी से समझ सकता है। उनका आर्थिक चिन्तन भारतीय सामाजिक स्थिति की ही एक अभिव्यक्ति थी। उनके आर्थिक विचार मुख्यतः भारत की कृषि व्यवस्था औधोगिक नीति, बीमा, नशाबंदी आदि के सुधार से सम्बधित थे। वह चाहते थे कि आर्थिक विकास इस ढंग से हो कि भारत की संसदीय सरकार की व्यवस्था के अर्न्तगत ज़नतन्त्र एवं राज्य–समाजवाद सुसंगत बना रहे।(30) यह सबकुछ संविधान के कानून की छत्रछाया में ही सम्पन्न हो ये विचार परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते है, किन्तु डा० अम्बेडकर ने इन विचारों में एक प्रकार की साम्यता एवं निकटता को परिलक्षित किया और नीतियो का ईमानदारी से परिपालन हो, तो भारत का आर्थिक ढाँचा निर्धन तथा कमजोर वर्गो के पक्ष में बदल सकता है।

आर्थिक नीतियां-

डा० अम्बेडकर सभी प्रकार के उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे। जो मुख्य उद्योग है अथवा जिन्हे मुख्य उद्योग घोषित कर दिया जाये उन्हे राज्य द्वारा संचालित किया जाना चाहिये। उनका यह भी सुझाव था कि वे उद्योग जो मुख्य उधोग नहीं है मात्र मूलभूत उधोग है, उनको भी राज्य द्वारा अथवा उन नियमों द्वारा चलाया जाना चाहिये जिन्हे राज्य स्थापित करें।(31)

वस्तुतः मुख्य या मूल–भूत उद्योगो का उस ढंग से राष्ट्रीयकरण, जिसे डा० अम्बेडकर

---

30. डा० डी० आर० जाटव--'आर्थिक दर्शन' डा० अम्बेडकर का मानववादी चिन्तन, समता साहित्य, जयपुर
31. स्टेटस एण्ड माईनारिटी, पृष्ठ 15

ने सुझाया, भारतीय समाज के निर्धन एवं कमजोर वर्गों के हितों की सुरक्षा करेगा।

राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को डा० साहब ने शोषित वर्गो के हितों से ही जोड़ा था, हालांकि वर्तमान सराकर ने निजीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दे रहा है जो यहाँ के पद्दलितों का अहित करेगी।

अम्बेडकर का मानना है कि भारतीय गाँवो की अर्थव्यवस्था निर्धन लोगों की सहायता नहीं करती और पूंजीपति, जमीदार तथा साहूकार उनके पिछड़ेपन का लाभ उठाते हैं अर्थात श्रमिकों का भरपूर शोषण करते हैं। निजी क्षेत्र भी यदि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीयकरण का प्रयास करते है, तो वह आर्थिक असमानतायें पैदा करेगा। श्रमिको के शोषण में बृद्वि होगी और वे अन्य बुराइयाँ भी उत्पन्न होगी जो किसी पूंजीवादी व्यवस्था में निहित है दूसरे ढंग से यदि इसे कहे तो अम्बेडकर का विचार था कि उद्योगों का आंशिक राष्ट्रीयकरण किया जाये ताकि निजी क्षेत्र की स्वार्थी तथा अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण हो और बड़े–बड़े औद्योगिक घरानों के एकाधिकार को तोड़ा जा सके।[32] ऐसे चिन्तन के पार्श्व में, डा० अम्बेडकर के मन में श्रमिकों की दयनीय स्थिति का चित्र विद्यमान था और वास्तव में, भारत में औद्योगीकरण तथा कृषीय ढाँचे के पुनर्निमाण द्वारा, वह केवल श्रमिकों के जीवन स्तर को उँचा नही उठाना चाहते थे अपितु राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में भी समृद्वि करना चाहते थे। ताकि यहाँ के दलित वर्गो तथा अल्प संख्यको की निर्धनता एवं विपन्नता को समाप्त किया जा सके।

अम्बेडकर के आर्थिक विचारों के देखते हुये यह स्पष्ट होता है कि डा० अम्बेडकर ने भारतीय समाज के आर्थिक पक्षों का अध्ययन असम्बद्ध रूप में नही किया। उन्होने लोगो के आर्थिक कल्याण को संसदीय प्रजातन्त्र सहित राज्य समाजवाद के ढाँचे में परिलक्षित किया। समाजवाद तथा प्रजातन्त्र के मूल्य डा० अम्बेडकर को बहुत प्रिय थे। इसलिये वह बहुत सचेत थे कि दलित एवं

---

32. पूर्वोक्ति पृष्ठ – 40

पिछड़े वर्गो को ऐसी आर्थिक सम्पन्नता की ओर ले जाया जाये जहाँ धन का समान न्यायोचित वितरण हो और प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रता के आदर्श उनके जीवन के अंग हो।[33] हालांकि अम्बेडकर का समाजवादियों के साथ कुछ बातो पर मतभेद था। अम्बेडकर मानते थे कि भूमि के बंटवारे से हरिजनो की समस्या हल नही होगी वे राष्ट्रीयकरण चाहते थे जबकि समाजवादियो का मत था, खेती की उत्पादकता बढ़ाकर, मजदूरी बढ़ाकर और छोटी मशीनों के उपयोग से औद्योगिक उत्पादन बढाकर दलितों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाया जा सकता है।

(D) राजनीतिक नेतृत्व

स्वतंन्त्रता पूर्व ब्रिटिश शाषको के द्वारा शासन प्रशासन के सभी स्तरों पर ब्रिटिश कायदा कानूनों पर अमल कराया जाता था। जबकि समाज में मनुस्मृति का हिन्दू कानून चलता था। स्वतंन्त्रता के उपरान्त भारतीय संविधन अस्तित्व में आया।

संविधान पूर्व दलितो के लिये कर्तव्यों के अलावा अधिकार जैसी वस्तु न तो कानून में थी और न सामाजिक दासता के कुचक्र में फसे स्वयं दलित की कल्पना में। संविधान निर्माण में दलितो को समान अधिकार दिलाने में विशेष भूमिका डा०अम्बेडकर की ही रही । उनके नेतृत्व में अभूतपूर्व प्रखरता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से राष्ट्रीय शिखर तक उभर कर आये। संविधन निर्मात्री सभा में डा० अम्बेडकर की प्रमुखता ने सामाजिक यथास्थिति जन्य सारा आक्रोश ही शान्त कर दिया, कारण डा०अम्बेडकर के प्रति दलितो की विश्वस्तता व भविष्य की सुनिश्चितता प्रमुख थी यद्यपि उन्होने दलित की आकाक्षाँओ के अनुकूल संवैधानिक व्यवस्था करने का प्रयास किया, लेकिन वह अस कार्य में पूर्णतयः सफल नही हुये। बजह यह थी कि जो संविधान वह खास तौर से देना चाहते थे वह तो स्वीकृत ही नही हुआ था। परिस्थितिवश अपनी प्राथमिकताओं से हट कर भी उन्हे काफी कुछ करना पड़ा फिर भी उनके नेतृत्व ने संविधान को मनुस्मृति का नया संस्करण बनने से बचाया।[34]

---

33. पूर्वोक्ति पृष्ठ – 45
34. श्योराज सिंह 'बेचेन' – गान्धी–अम्बेडकर – हरिजन जनता, (लेख) स्वतंत्रता के बाद दलितों की संवैधानिक स्थिति और राजनीति में उनकी भूमिका पृष्ठ – 55

संविधानो से पूर्व दलितों को राजनीतिक नेतृत्व देने में गाँधी जी अग्रणी थे उन्होने अम्बेडकर के साथ पृथक निर्वाचक मण्डल के मुद्दे पर अपने मतभेद नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ रखे थे। 13 नवम्बर 1931 को लंदन में हुई गोलमेज परिषद के दूसरे सत्र में बोलते हुये गाँधी जी ने कहा था "इस समिति और संसार को यह जान लेना चाहिये कि आज हिन्दू समाज मे सुधार को एक ऐसा दल मौजूद है जो अस्पृश्यता को मिटाने के लिए प्रतिबद्ध है । हम नहीं चाहते कि हमारे रजिस्ट्रों में और हमारी जनगणना में अछूत नाम की एक पृथक जाति लिखी जाये । सिख, मुसलमान और यूरोपीय हमेशा के लिए सिख, मुसलमान और यूरोपीय रह सकते हैं किन्तु क्या अछूत भी सदैव के लिए अछूत रहेंगे ?[35]

गाँधीजी का कहना थाकि डा० अम्बेडकर के प्रति अछूतों को ऊँचा उठा कर देखने की उनकी इच्छा तथा योग्यता के प्रति अपना पूरा सम्मान प्रकट करते हुये भी मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहूँगा कि उन्हें जो भारी अन्याय भोगना पड़ा है और शायद जो कटु अनुभव हुये हैं उनके कारण उनका विवेक कलुषित हो गया है । यह बात मुझे खेद के साथ कहनी पड़ रही है किन्तु यदि में न कहूँ तो मैं अछूतों के प्रति जो मेरे प्राणों के समान हैं, सच्चा न रहूँगा । सारे संसार के राज्य के बदले भी मैं उनके अधिकारों को नहीं बेचूँगा। जो लोग दलितों के राजनीतिक अधिकारों की बात करते हैं वे भारत को नहीं पहचानते हैं इसलिए मैं अपनी पूरी शक्ति के साथ पृथक निर्वाचक मण्डल का विरोध अकेला रहकर प्राणों की बाजी लगाकर भी करूँगा। इस तरह से उन्होंने ब्रिटिश सरकार की इस चाल को नाकामयाब किया जो मेग डानल्ड अवार्ड को द्वारा दलितों के पृथक निर्वाचन मण्ड़ल की वकालत करता था । और फिर थरवदा जेल में गाँधीजी और डा० अम्बेडकर के बीच 'पूना समझौता' हुआ। 'पूना पैक्ट' 1932 के बाद अम्बेडकर ने स्वयं गाँधीजी को अपनी खुद की भावनाओं से जुड़ा हुआ पाया । गाँधीजी के दलितों के दिये गये राजनैतिक नेतृत्त्व का एक हिस्सा यह भी है कि गाँधी जी ने ही अपने प्रयासों से अम्बेडकर को सारे कांग्रेसियों के विरोध के बावजूद नेहरू कैबिनेट में स्थान दिलवाया । आज उसी का परिणाम है कि अम्बेडकर को स्वतन्त्र भारत के संविधान में अपनी बात रखने का मौका मिल पाया ।

35. आर्य भूषण भारद्वाज (लेख) 'गान्धी जी और दलित राजनीति' अमर उजाला 8 फरवरी 1996

बात यह है कि इसे बलपूर्वक नीच बनाकर समस्त मानवीय व्यवहारों और अधिकारों से वंचित कर दिया गया है । इनके अछूतपन के कारण केवल सामाजिक जीवन से ही इनका बहिष्कार नहीं है वरन् यह सार्वजनिक जीवन से भी बहुत दूर हैं और जिन मनुष्योचित मौलिक नागरिक अधिकारों पर मनुष्य तत्व निर्भर करता है, उनसे ये सर्वथा वंचित कर दिये गये हैं ।"(37)

डा० अम्बेडकर ने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' के प्रति अपना संदेह ठोस तर्कों के साथ प्रकट किया और कहा कि वे संरक्षणों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य 'डोमीनियन स्टेटस के' पक्षधर हैं । प्रभुसत्ता प्राप्त भारत में शक्ति का केन्द्र बिन्दु कहाँ होगा ? शक्ति किन हाथों में नीहित होगी ? यह मूल प्रश्न उठाते हुये अम्बेडकर ने कहा कि –

"दलित वर्ग की सामाजिक समस्याऐं तब तक हल न होंगी जब तक उनके हाथों में राजनैतिक शक्ति नहीं आ जाती । हम सिर्फ इस आशा से उस भावी खतरे का सामना करने के लिए तैयार हैं कि जब हमारे देश वासियों के हाथ में राजनैतिक बागडोर आयेगी तब हमें भी उचित अनुपात में राजनीति में हिस्सा मिलेगा । इसके लिए दलितों को बहुत लम्बे समय तक इंतजार करना पड़ा है । जब–जब ब्रिटिश सरकार ने अपनी प्रतिनिधि सरकार के अधिकारों को बढ़ाने के लिए कदम उठाया सदा ही दलितों को वंचित रखा है । उसकी राजनैतिक सत्ता की मांग पर कभी विचार नहीं किया गया । मैं अपनी पूर्ण शक्ति से इस बात का विरोध करूँगा यदि यह कहा जाये कि अभी और समय तक प्रतिक्षा करके देखें । हमारी समस्या का हल वर्तमान राजनीतिक सत्ता हस्तांतरित करने के समझौते का एक प्रमुख अंग होना चाहिये । हमारी समस्या को भावी शासकों की सहानुभूति और उनकी शुभेच्छा पर नहीं छोड़ा चाहिये ।"(38)

37. बोधिसत्व–बाबा साहब डा० अम्बेडकर–जीवन और दर्शन, ड० अंगने लाल, पृष्ठ–49-50
38. पूर्वोक्ति पृष्ठ–52

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन

7 सितम्बर 1931 को दूसरा गोलमेज सम्मेलन शुरू हुआ । इसमें अम्बेडकर ने गाँधीजी का विरोध करते हुये कहा कि "कांग्रेस केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात करती है जबकि मैं दो हजार वर्षो से मानवीय अधिकारों से वंचित गुलामी का जीवन जीने वाले दलितों की स्वतन्त्रता और उनके मानवाधिकार की बात करता हूँ ।"(39)

कम्यूनल अवार्ड

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के बिना निर्णय के समाप्त होने के पश्चात् प्रधानमंत्री 'रैम्जै मैकडोनल्ड' ने 'कम्युनल एवार्ड' की घोषणा कर दी । इसके अनुसार अछूतों को पृथक निर्वाचन तथा दो वोट का अधिकार दे दिया गया । यहीं से गाँधी – अम्बेडकर के बीच मतभेद शुरू हुआ ।

अब यह जानना आवश्यक है कि कम्यूनल अवार्ड (साम्प्रदायिक निर्णय) क्या था । इस अवार्ड की नवीं धारा में यह व्यवस्था थी कि दलित वर्ग के लोग दो वोट देने के अधिकारी हैं, वह सामान्य (जनरल) निर्वाचन क्षेत्र में अपना वोट दे सकेंगे, इसके अतिरिक्त वे सुरक्षित सीट के अपने दलित वर्ग के प्रत्याशी को भी अपना एक वोट देंगे ।

कम्यूनल एवार्ड की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें अछूत सदस्य का निर्वाचन केवल अछूत मतदाताओं द्वारा ही होना था।वे अपना सबसे योग्य व्यक्ति चुन सकते थे। इस प्रकार जो भी व्यक्ति चुना जाता वह दलितों के प्रति पूर्ण उत्तरदायी होता और समर्पित भाव से दलितों के हित –कल्याण के लिये कार्य करता। दूसरा वोट वो सामान्य प्रत्याशी को देकर उसे चुनता। इससे सामान्य प्रत्याशी भी दलितो के हित को ध्यान में रखता और उसके लिये कार्य भी करता। इस प्रकिया से दलितो का वास्तविक विकास और प्रगति हो सकती थी।

39. बोधिसत्व–बाबा साहब डा० अम्बेडकर–जीवन और दर्शन, ड० अंगने लाल, पृष्ठ–53

परन्तु गाँधी जी ने इसके विरुद्ध 20 सितम्बर 1932 यरवदा जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया फलस्वरूप पूना समझौता हुआ। यह 24 सितम्बर 1932 को हुआ।

पूना पैक्ट की उपलब्धियाँ:– यद्यपि पूना पैक्ट का कुछ नेताओं ने विरोध किया लेकिन अनुभवशील और गम्भीर विचारकों ने इसे सामाजिक और सही कदम बताया इस समझौते से चार उपलब्धियाँ सामने आयी।

1. जहाँ कम्यूनल एवार्ड में केवल 71 सीटें अछूतों को प्राप्त हुई थी वही पूना पैक्ट में 148 सीटें मिली।

2. महात्मा गाँधी के प्राणो की रक्षा का श्रेय अछूतो को मिला।

3. छुआ–छूत मिटाने तथा अछूतों की शैक्षिक–सामाजिक और आर्थिक उन्नति की जिम्मेदारी हिन्दुओ ने अपने ऊपर लेली।

4. चौथी उपलब्धि यह थी कि भारत के इतिहास में यह पहली घटना थी जब अछूतों ने हिन्दुओं से अलग स्वतंन्त्र समुदाय के रूप में समतल धरातल पर खड़े हो कर कोई राजनैतिक अधिकार –सन्धि की हो।

अम्बेडकर की यह सबसे महत्वपूर्ण विजय थी। पैक्ट में किसी एक पक्ष की सभी बातें नहीं मानी जाती है। दोनों पक्षों को ही कुछ न कुछ झुकना पड़ता है। फिर भी इस पैक्ट के लिए अम्बेडकर ने जो शर्तनामा तैयार किया उसमें से अधिकतर को उन्होने तर्को द्वारा विरोधियों से भी मनवा लिया। वास्तव में अधिकार रूपी अभेदय दुर्ग में अम्बेडकर का यह प्रथम प्रयास था।[40]

---

40. बोधिसत्व–बाबा साहब डा० अम्बेडकर–जीवन और दर्शन, डा० अंगने लाल, पृष्ठ–65

30 अगस्त 1947 को संविधन को संविधान का प्रारुप तैयार करने के लिये संविधान प्रारुप समिति गठित की गयी इस समिति में सात सदस्य थे और डा० अम्बेडकर इस समिति के चैयरमेन चुने गये।

अम्बेडकर ने राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य मानकर इस प्रारुप को तैयार किया । इस मूल प्रारुप में 315 धारायें और 8 अनुसूचियां थी। इसी संविधान के द्वारा दलितों को सही मायने में राजनीतिक शक्ति तथा अन्य विभिन्न अधिकार मिले।

संविधान के अनु० 330 में लोकसभा और अनु० 332 में एक राज्य विधान सभा के लिये दलितों की जनसंख्या के अनुसार स्थान आरक्षित किये गये हैं। संसद की कुल सदस्य संख्या 543 में 125 स्थान अनुसूचित जाति के सदस्य तथा विधान सभा की कुल सदस्य संख्या 3990 में 282 सदस्य अनुसूचित जाति तथा 54 पद अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिये आरक्षित थे।[41]

इस प्रकार संवैधानिक रुप से राष्ट्रीय आदर्श, सिद्धान्त और मूल्यों के आधार पर दलितों का नागरिक अधिकारों की संवैधानिक व्यवस्था कदाचित स्वंतत्रता के बाद की उपलब्धियों में सबसे बड़ी उपलब्धि है, जिसका प्रतिबिम्बन भारतीय संविधान में होता है। किन्तु संवैधानिक व्यवस्था प्रगतिशील और सामन्ती सामाजिक मूल्यों के विषमतामूलक अवशेष इस काल के मूल अर्न्तविरोध हैं। यही कारण हे कि दलितो को संविधान में इतना कुछ होने पर भी उनकी दशा में आपेक्षित सुधार नहीं हुआ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के करीब डेढ दो दशक उस लम्बे युद्ध की विश्रान्तता और आन्दोलन के दौरान दलित मुक्ति की कतिमय घोषणाओं वायदे और संकल्पों को चरितार्थ होने की प्रतीक्षा के रहे हैं। 1960 के दशक में, रिपब्लिकन पार्टी ने भूमिहीन दलितों की लड़ाई में अग्रण्य भूमिका निभाई

41. डी० डी० बसु – 'संविधान एक परिचय' Vol. 6 1995

। महाराष्ट्र के बाद उत्तर प्रदेश मे यह भूमि आन्दोलन तेज हुआ । इसी उभार में ''बुद्धप्रिय मौर्य'' जैसे प्रखर राजनैतिक वक्ता पैदा हुये जो कालान्तर में विवशताः अम्बेडकर विरोधी राजनीति के हिस्सा बन गये। किन्तु एक समय के जनजागरण का श्रेय इन्हे जाता है किन्तु 17.75 फीसदी आबादी के साथ राजनैतिक छलावे का कुचक्र निरन्तर चलता रहा । देश के अधिसंख्य दलित नेतृत्व ने भूमि आन्दोलन को राष्ट्रीय प्रश्न के रुप में नहीं देखा।

बाबूजगजीवन राम के एक छत्र ताकत को कांग्रेस ने जाकर बी०पी०मौर्या ने कमजोर किया और अस्सी के दशक में दलितों, पिछड़े वर्ग के जातीय आक्रोश को सम्पूर्ण संकीर्ण सस्ती राजनीति के साथ एक उत्तेजक माहौल उत्पन्न किया गया। मण्डल का समर्थन करके रामविलास पासवान ने दलित नेतृत्व की मुख्या धारा को पकड़ लिया और कांशीराम की राजनीति हाशिये पर खिसक गयी। तो नवम्बर 1993 में मुलायम सिंह के साथ कांशीराम उत्तर प्रदेश सरकार में आ गये और वी०पी०सिंह से जा मिले तो रामविलास पासवान का वोट बैंक खिसकने की आशंका हुयी यद्यपि दलित मुक्ति के बुनियादी सवालो को जनता दल ने भी नहीं उठाया – उसमें दलितों की शिक्षा आदि के प्रश्न हुये तक नहीं। किसी भी दलितों की पक्षधर पार्टी के एजेन्डा में उच्च शिक्षा में दलितों के लोकतांत्रिक भागीदारी का प्रश्न आखिर नहीं ?(42)

जगजीवनराम के अनुसार दलितों का विकास तभी सम्भव है जब वे सत्ता में हों । 1991 के बाद मीरा कुमारी ने दलित जातियों के कल्याण के लिए 'दलित चेतना संघ' नाम का एक संगठन बनाया जिसके माध्यम से वे दलितों में अपने पहचान बनाये रखने का प्रयास करती रहीं ।

किन्तु सामंन्ती रुझान में जी रहे भारतीय समज में दलित उत्पीड़न के पिपरा, परसवीद्या बेलच्छी की श्रंखला में पनवारी, मेहराना, चुंदूर, 'कुम्हेरा', आदि घटना स्थलों पर पासवान का वैयक्तिक रुप से हाजिर होना व संसद के अन्दर बाहर दलित प्रश्नों पर मुखर होते रहने की

---

42. श्योराज सिंह 'बेचेन' –गान्धी–अम्बेडकर – हरिजन जनता पृष्ठ - 57

ओजस्वता में नवें दशकँ के अन्त और दशम दशक के शुरु में विपदा में रहकर भी उन्हें सत्ता पक्षीय दलित नेताओं की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय बनाया है और बुद्धप्रिय मौर्य, सीताराम केसरी, रामधन, संघप्रिय गौतम यहां तक कि प्रकाश राव अम्बेडकर की राजनीति पीछे चली गयी है जिस तरह "दलित पेन्थर" जैसे संगठनों के नेता सुविधा भोगी व समझौता परस्त हो गये तो सत्ता मुँह लगे नेतृत्व में दलितों को अधिक आशायें क्यों करना चाहिये ? सत्ता की राजनीति व्यक्ति का एक प्रकार का विशिष्ट चरित्र बनाती है जिसमें प्रत्याशी चाहे अपने खेमे का हो या विरोधी पक्ष का कुर्सी की स्पर्धा में कोई भी महानायक, खलनायक बनने में देर नहीं करता।

समस्त समाज का आधार स्तम्भ होने के उपरान्त भी जिन्हे दलित कहकर सम्बोधित किया जाता रहा है और जो अपनी अति असहष्णुता के कारण सदियो से शोषण का सामाना करते आ रहे है। उन्हे समाज मे और विशेष रूप से हिन्दुत्व प्रधान समाज में पुनः सम्मानजनक स्थान देने के निमित्त भाजपा ने जून 1995 में मायावती को मुख्यमंत्री बनाकर जो प्रयोग किया वो इतनी जल्दी टूट गया, इस बात की कल्पना भी नही की गयी। दोनो भाजापा +बसपा के बीच हुआ समझौता टूट गया।

मायावती का मुख्यमत्री बनना और बहुजन समाज पार्टी का सत्ता में आना समाज में वास्तविक समरसता, सामंजस्य और परस्पर स्नेह के नये युग के संचार का प्रतीक था पर तालमेल टूटने से सभी कुछ विखर गया। वह बिखरा इस लिये क्योकि तामसिक वृत्तियों पर विजय नही पायी जा सकी और समाज में सैहार्द और समरसता उत्पन्न करने के स्थान पर चेष्टा यह की गयी कि कैसे सत्ता सदैव– सदैव के लिये एक –दो व्यक्तियों के हाथ में बनी रहे। ओर फिर इसी संकीर्ण उद्देश्य ने एक ऐसी विकृति को जन्म दिया जिससे उत्पन्न दीवारों से जिनसे समाज विभाजित होता रहा है। सहस्रो वर्षो पहले यह दीवारे उस वर्ग के द्वारा वनायी गई जिन्हे आज सवर्ण कहा जाता है। और आज जब इन दीवारों को तोड़ने की बात की जा रही है तो स्वयं दलित ही उन्हे तोड़ना नही चाहते और चेष्टा यह हो रही है कि ये दीवारें और मजबूत हो जाये जो दलित है वो ऐसे ही बने रहे ताकि दलित नेताओं की राजनीति चलती रहे।

मुख्यमंत्री बनने पर मायावती ने ऐसा कुछ भी नहीं किया जिस पर दलित वर्ग गर्व कर सके मायावती ने जो कुछ किया वह केवल स्वयं के निमित्त किया। जो राजनीतिज्ञ समाज को छोड़कर केवल अपने स्वार्थ की चिन्ता करता है वह वन्दनीय नही हो सकता उन्हे समाज एवं राष्ट्र का कलंक कहा जाता है और बसपा सरकार इसी श्रेणी की सरकार साबित हुई है।

जयराम का कहना है कि हमने कांशीराम को दूसरा अम्बेडर समझा था किन्तु अफसोस कि वह जगजीवनराम भी न बन सके। कांशीराम कोई नया नेता नहीं पनपने देते । संसद में भी वह दलितों की समस्याओं को मुखर स्वर में नहीं उठाते । जहाँ भी दलितों पर अत्याचार हुये, किसी भी घटना स्थल पर नहीं गये । जो भी दलित नेता सत्ता में रहा या किसी पद पर रहा अपने ही स्वार्थ की पूर्ति करता रहा । आज दलित समाज में अम्बेडकर जैसा नेता नहीं रहा जो अपनी राजनीति के चन्द वर्षो में इतना काम कर गये कि उनके समकालीन जगजीवनराम जीवन पर्यन्त कांग्रेस एंव सरकार में रहकर भी नहीं कर पाये ।[43]

1977 के बाद कई दलित नेता राजनीति में उभरे । रामधन ने अलग पार्टी जनमोर्चा बनाई । चांदराम हरियाणा से आये, इन्दिरा सरकार में परिवहन मंत्री रहे, मोहनलाल पिपल एक बार सांसद बने, योगेन्द्र मकवाना गुजरात से आये, इन्दिरा सरकार में गृह राज्य मंत्री रहे । बूटा सिंह पंजाब से आये, रामविलास पासवान ने 1977 में राजनीति में कदम रखा वह हाजीपुर से रिकार्ड कायम करके संसद पहुँचे । ब०स०पा० की दो नम्बर की नेता मायावती 1984 में उ०प्र० के कैराना संसदीय सीट से चुनाव लड़ीं बाद में वह बिजनौर, हरिद्वार से भी विजयी रहीं । इतने दलित नेता सत्ता में कभी न कभी रहे पर दलितों के वास्तविक हित के बारे में शायद ही किसी ने कुछ भी किया हो । आज सम्पूर्ण दलित राजनीति एंव दलित नेतृत्व सिद्धान्तहीन होता जा रहा है । यही कारण है कि आजादी के 53 वर्ष बाद भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं है । उनकी झोपड़ियों को आग लगाई जाती है । उनका संहार कर आग में झोंका जाता है । अर्थाभाव के कारण मुकदमा नहीं लड़ सकते । आज भी अन्याय और अत्याचार के शिकार होते आ रहे हैं ।

---

43. लखी चन्द्र (लेख) ''दलित राजनीति का विकृत स्वरुप'' दैनिक जागरण 3 अक्टूबर 1993

येन–केन–प्रकारेण सत्ता में बने रहने की महत्वकांक्षा के चलते शासक वर्ग में जो स्वार्थपरता विकसित हुई है उससे दलित नेता भी बचे नहीं है । अन्यथा दलित हित प्रमुख होता तो व्यक्तिगत अहम् को त्याग आज कांशीराम, पासवान, मायावती, वी०पी० मौर्या, संघप्रिय गौतम सब एक मंच पर होते ।

(E) दलित नेतृत्व का भविष्य

21वीं शताब्दी का दलित एजेण्डा -

आज जब हम दलित नेतृत्व के भविष्य की बात करते हैं तो पाते हैं कि इस विषय पर व्यापक विमर्श की जरूरत है कि उसकी दिशा क्या होनी चाहिये । 21वीं शताब्दी में भी हमारे यहाँ अस्पृश्यता का अभिशाप बना हुआ है । यह हमारी मानसिकता और हमारे विकास दोनों के आगे एक बहुत बड़ा सवालिया निशान है और विडम्बना यह है कि किसी भी राजनैतिक दलों के पास कोई क्रांतिकारी तो क्या सुधारवादी कार्यक्रम भी नहीं है । अम्बेडकर के नेतृत्व में दलितों में आत्मचेतना आई । वह अपने अधिकार के लिए लड़ना सीखे । पर यह भी सच है कि पूना समझौता के द्वारा उन्होंने देश के सवर्ण वर्ग के साथ सहयोग का रूख भी किया । बाद में भी उनकी यही रणनीति रही कि एक तरफ वह दलितों को संगठित करते रहे और दूसरी तरफ शासक वर्ग के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाते रहे । और वाकई इसी रणनीति के तहत वह दलितों को सही नेतृत्व प्रदान करने में सफल रहे । परन्तु अम्बेडकर के विपरीत आज के दलित नेतृत्व ने दलित एजेण्डे के प्रति कम और सत्ता के प्रति लगाव ज्यादा नजर आ रहा है ।[44]

दलितों में वैचारिक मतभेद -

अम्बेडकर का कहना था कि दलितों का संघर्ष सिर्फ सामाजिक या राजनैतिक नहीं बल्कि यह वैचारिक संघर्ष भी है क्योंकि अन्याय सबसे पहले एक विचार के रूप में पैदा होता है तथा

44. राजकिशोर (लेख) 'दलित नेतृत्व का भविष्य' हरिजन से दलित

अन्यायपूर्ण जातिप्रथा एक विचार के रूप में ही हिन्दू समाज में जड़ जमाये हुये है । लेकिन अम्बेडकर के बाद के दलित नेतृत्व में शिक्षा और ज्ञान की साधना के प्रति रूझान बहुत कम दिखाई देता है । उनमें आक्रोश बढ़ा है अपने अधिकारों की चेतना तीव्र हुई है लेकिन विचार के स्तर पर ज्यादातर पिष्टपेषण ही नजर आता है । अम्बेडकर की विरासत को आगे ले जाने की आवश्यकता है पर यह काम बहुत हद तक उपेक्षित हुआ है । जहाँ तक दलित एकता का सवाल है तो इस मामले में अम्बेडकर की विरासत की उपेक्षा सर्वाधिक हो रही है । हालाँकि अम्बेडकर के समय में भी दलित नेतृत्व बंटा हुआ था क्योंकि जितने दलित अम्बेडकर के पीछे थे उतने ही गाँधी जी के साथ थे । यही कारण है कि विधायिका में दलितों के आरक्षण का सबसे ज्यादा लाभ कांग्रेस को ही मिला ।

भारत में दलित राजनीति –

जब बाकी दलों के साथ रिश्ते कायम करने की बात आती है तो दलित राजनीति में अचूक अवसरवाद का परिचय दिया है । जिससे उसकी शक्ति भी कम हुई है । आज के दलित नेतृत्व में दलित एजेण्डे के प्रति लगाव कम और सत्ता के प्रति लगाव ज्यादा नजर आता है । हमें यह याद रखना चाहिये कि अम्बेडकर का नेतृत्व उस समय इतना शक्तिशाली था कि गाँधीजी एवं नेहरू तक उनकी उपेक्षा नहीं कर सके पर आज के दलित नेतृत्व में न तो कोई बौद्धिक हैसियत है और न सामाजिक । जाति के साथ–साथ वर्ग भी दलित समाज को डस रहा है ।

भारत में दलित राजनीति की दो मुख्य धारायें हैं एक धारा महाराष्ट्र की है जिसे अम्बेडकर की विरासत कहा जा सकता है पर दुर्भाग्यवश यह धारा अनेक उपधाराओं में विभाजित हो चुकी है । दूसरी धारा कांशीराम और उनकी बहुजन समाज पार्टी की है जो कि अम्बेडकर से प्रेरित तो है पर इसने अपना एक स्वतन्त्र आधार बना लिया है । ब०स०पा० से मायावती दो बार मुख्यमंत्री बनीं लेकिन पहले मुलायम सिंह और बाद में भा०ज०पा० दोनों के साथ ब०स०पा ने राजनीतिक सहकार के जो प्रयोग किये, वे दूरगामी राजनीतिक लक्ष्यों को ध्यान में रखकर कम, तात्कालिक सत्ता की लालसा से ज्यादा प्रेरित थे । बेशक सत्ता की राजनीति में तात्कालिक लक्ष्यों

को अनदेखा नहीं किया जा सकता लेकिन यदि नजर हमेशा इन्हीं पर गड़ी रहे तो हश्र वहीं होगा जो आज बहुजन समाज पार्टी का हुआ है ।

साठ के दशक राजनीति -

उत्तर भारत में दलित राजनीति का अग्रगति 1960 के दशक में लोहिया के नेतृत्व वाली समाजवादी आंदोलन के माध्यम से हुई । 1967 के चुनाव में बिहार और उ०प्र० की गैरकांग्रेसी जीत के पीछे सूद्रजनों की राजनैतिक चेतना और महत्वकांक्षा थी । चरण सिंह, कर्पूरी ठाकुर आदि का मुख्यमंत्री बनना केवल विरोधी जनमत का द्योतक नहीं था । उसमें एक नई सामाजिक शक्ति के अभ्युदय का तत्व ज्यादा महत्वपूर्ण था । 1979 में भारत का पहला दलित व्यक्ति प्रधानमंत्री बना ।

हिन्दी भाषी राज्यों में कांग्रेस विरोधी राजनैतिक मोर्चा बनने के साथ–साथ पिछड़ों का उत्थान और दलित राजनीति का अभ्युदय हुआ है । कर्पूरी ठाकुर और चरण सिंह के उत्तराधिकारी लालू प्रसाद और मुलायम सिंह दोनों आर्थिक अन्याय के मुद्दे को गौण कर दलित एकता क कौशल अपना कर नई राजनैतिक धारा चला रहे हैं । आर्शिक अन्याय के मुद्दे को नजरअंदाज करने से सामाजिक न्याय की राजनीति विशुद्ध जातिवाद का रूप ले रही है ।

वर्तमान में दलित नेतृत्व -

नवम्बर 1993 के उ०प्र० विधानसभा चुनाव से दलित एकता का एक नया माडल स्थापित हो गया है । इसे पिछड़ा दलित एकता या शूद्र–अतिशूद्र एकता कहा जा रहा है । तमिलनाडू में अन्ना दुराई की राजनैतिक सफलता का सामाजिक आधार भी यही था बाद में एम० जी० रामचन्द्रन की राजनीति का यही आधार बना रहा । मुख्यमंत्री बनने के बाद बिहार के लालूप्रसाद ने पिछड़े दलितों और आदिवासियों को राजनैतिक एकता बनाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया लेकिन मुलायम सिंह और कांशीराम के स०पा०+ब०स०पा० गठबंधन की नाटकीय सफलता के कारण यह एक माडल के रूप में स्थापित हुआ । भा०ज०पा० को गद्दी पर आने से रोककर धर्मनिरपेक्षतावादियों और प्रगतिशील समूहों को इस गठबंधन में संघ परिवार के आतंक से

मुक्त किया । तब से इस माडल ने सत्ता प्राप्त करने के लिए एक सहज उपाये के तौर पर दलित नेताओं का ध्यान आकर्षित किया है । इस माडल को अपनाकर शीर्षस्थ पदों पर पहुँचने का सपना दलित नेता देखने में लगे हुये हैं ।

भारतीय समाज में जनतांत्रिक संविधान के कारण राजनीति में जाति का प्रभाव जितनी मात्रा में आयेगा ही उससे अधिक मात्रा में राजनीति को जाति द्वारा प्रभावित करने का कौशल जातिवाद है ।

इसलिए जातिवाद एक सामाजिक वास्तविकता नहीं है । यह एक राजनैतिक हथकण्डा है यह भी एक वास्तविकता है कि जातिवाद का राजनीति पर इतना नियंत्रण हो चुका है कि फिलहाल उसका एक सीमित इस्तेमाल किये बगैर जातिवाद से भी नहीं लड़ा जा सकता । यह परिस्थिती की द्वंद्वात्मकता है ।

दलित नेतृत्व की दिशाहीनता -

अब दलित राजनीति को इस तरह की दिशा हीनता से बचाने का एक ही रास्ता है कि दलित राजनीति का एक तीसरा खेमा बनायें । लेकिन इसके लिए जाति की राजनीति को बदलना होगा । दलित राजनीति का सिलसिला जारी रखते हुये जातिवाद को गौण करना होगा। आर्थिक राजनैतिक तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व के तथा अन्तराष्ट्रीय सवालों पर अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण घोषित करने के साथ–साथ इन सवालों पर कार्यक्रमों की निरन्तरता बनाये रखनी होगी ताकि यह एक विचारधारा का ख़ेमा हो सके ।

हकीकत तो यह है कि दलित राजनीति या दलित नेतृत्व सिर्फ एक राजनीतिक धारा बनकर बहुत कुछ हासिल नहीं कर सकती । दलितों की आबादी इतनी नहीं है कि वे अपने दम पर सत्ता में आ सकें। राजनीतिक क्षेत्र में उसे अपने अच्छे सहचर ढूंढने होंगे तथा उनके साथ न्यायपूर्ण और लोकतांत्रिक रिश्ते बनाने होंगे यह समर्पण की सलाह नहीं बल्कि द्वंद्वात्मकता की

अनिवार्यता को पहचानने का आवाह्न है जिसके द्वारा दलित अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुये भी प्रेमपूर्ण माहौल बनाये रख सकें ।

दलित नेतृत्व का वास्तव में अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, दलित नेतृत्व खोखले नारों के भ्रमजाल को फैला कर और सर्वणों के प्रति घृणा फैलाकर ही चल रहा है । दलित नेतृत्व के अन्तर्गत कांशीराम या उनके जैसे कई नेता दलितों की स्थिति सुधारने में प्रयासरत नहीं हैं बल्कि अपनी राजनीति को ऊँचा उठाने की कोशिश में लगे हैं । दलितों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली पार्टियां भी बाकी पार्टियों से सांठ–गाँठ करती रहीं हैं । राजनीतिक पार्टियों के अपने आर्थिक, राजनीतिक स्वार्थ हो सकते हैं और इनके स्वार्थ हैं भी।

यह दलित हितों के नाम की छद्म राजनीति कर रहे हैं किन्तु दलित बुद्धजीवियों का श्रम इन्हीं छद्म राजनीति के समर्थन में खर्च हो रहा है, यह भी एक विडंबना ही है ।

यह भी सच है कि दलित राजनीतिक पार्टियाँ भले ही नहीं पर बुद्धिजीवी वर्ग जो दलित हितों के साथ गहराई से जुड़ा है वह दलित हितों को अनदेखी नहीं कर सकता और वह दलितों की प्रगति के लिए झूठी राजनीति को छोड़ ठोस मुद्दे उठाने की कोशिश में है ।

दलित नेतृत्व तो वाकई दिशाहीन है और अम्बेडकर के मिशन को आगे बढ़ाने की न उनमें कोई इच्छा है और न उम्मीद ।

षष्ठम अध्याय

दलित समुदाय की शक्ति एवं व्यवस्था में उसकी भागीदारी

(A) दलित की राजनीतिक एवं निर्वाचकीय शक्ति

(B) दलितों की आर्थिक शक्ति

दलित समुदाय की शक्ति एवं व्यवस्था में उसकी भागीदारी

बहुजन समाज पार्टी के अस्तित्व में आने के बाद से ही दलित समुदाय की व्यवस्था में भागीदारी बढ़ी है। उससे पहले तो इन्हे संवैधानिक व वैधानिक दृष्टि से कुचला हुआ ही माना जाता रहा। हालांकि राजनीति में इनका आरक्षण था पर उसका फायदा काँग्रेस और भाजपा के लोगों को ही मिलता था। कांग्रेस के वोट बैंक के तीन घटक ये ब्राह्मण, मुस्लिम एवं दलित। इस कारण से कांग्रेस ने अपनी नीतियों में दलित योजनाओं को बहुत बजट दिया। पर इसी बीच पहले उत्तर प्रदेश फिर पूरे भारत में दूसरे राजनीतिक दलो ने कांग्रेस की राजनीतिक शक्ति को अतिक्रमित किया शेष दल भी सत्ता में आना शुरू हुये । प्रत्येक दलों ने दलित वोट बैंक का इस्तेमाल करना शुरू किया।जाहिर है कि दलित मतों का प्रभाव सत्ता पर से कमजोर हो गया इसकी वजह से जो जमींदारी उन्मूलन अधिनियम जैसी कार्यवाहियाँ थीं उनके अमल में भी कमी आयी। दलितो का महत्व भी उस दौर में गौण रहा। मुलायम सिह दो बार उ०प्र० के मुख्यमंत्री हुये और दोनों बार उनके मन्त्रिमण्डल में दलित प्रति निधित्व न्यून रहा। 1993 की सपा+बसपा गठबन्धन सरकार के समय तो मुलायम सिंह ने अपनी पार्टी कोटे से एक भी दलित सदस्य नही रखा।

उत्तर प्रदेश की राजनीति में बसपा दलित मताधिकार के शक्ति के प्रदर्शन का प्रतीक बन गयी थी जिसकी वजह से राजनीतिक दलों ने अपनी कार्यसूची में दलितों की माँगो को अधिक महत्व देने के बजाय उन्हें नजर अन्दाज कर सबक सिखाना शुरू कर दिया। 1993 में दलितों के एकजुट समर्थन से मुख्यमंत्री बनने बाले मुलायम सिंह ने इसी भावना के तहत 'अनुसूचित जाति उत्पीड़न अधिनियम' को समाप्त करने[1] तथा दलितो के मसीहा अम्बेडकर को सार्वजनिक मंचो से अपमानित करने की हिमाकत करते रहे।

---

1. अमर उजाला, कानपुर, 23 अगस्त 1997, पृष्ठ नं० – 9

तमिलनाडु के उस चुनाव में जिसमें जयललिता की सत्ता में पुनः वापसी दलित विरोधी सामाजिक शक्तियों के ध्रुवीकरण का परिणाम था। जयललिता के साथ दलितों पर सबसे अधिक अत्याचार करने बाली तमिलनाडु की वनियार, थेवर आदि पिछड़ी जातियाँ जुड़ गयी थी जिसके कारण अति पिछड़ी जातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले करूणानिधि को पराजित होना पड़ा।

आरक्षण मिलने से दलित समुदाय की शक्ति निश्चित रूप से बढ़ी है और व्यवस्था में उनकी भागीदारी भी शुरू हो गयी है। व्यक्तिगत लाभ तो उन्हे मिला ही, दूसरा एक बहुत बड़ा फायदा यह हुआ कि दलितों ने अपनी एक स्वतंन्त्र पार्टी को खड़ा किया तथा अपने एजेन्डे में दलितों को प्रमुख रूप से शामिल किया । लेकिन आगे चल कर दलितों के लिये लड़ने के नाम पर सारी लड़ाई को अपने अच्छे पद पाने तक सीमित कर लिया। एक उदाहरण उत्तर प्रदेश का है जिसमें राज्यपाल सूरजभान के समय में दलित अधिकारियों ने दलित हितों के आयोजन के नाम पर जो भी कार्य किये, उसमें सामान्य दलितों की बात को कही भी ठीक से नही रखा, बल्कि राज्यपाल का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में लगे रहे कि अमुक–अमुक पदों पर दलितों की संख्या कम है । और वे पद दलितों को उपलब्ध करा दिये जायें। आज दलितों में जो आई०ए०एस, आई०पी०एस और पी०सी०एस अधिकारी है वो अपने समाज से पूरी तरह कट चुके है तथा उनका कोई योगदान दलितों की निचली तह की स्थिति बदलने में नही हो पा रहा है।

आर्थिक उदारी करण व निजीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई है इसने भारत में जातिगत स्वरूप ले लिया है।इसके माध्यम से वजीफे के लिये सरकारी स्कूलों में जाने वाले दलितों की शिक्षा व्यवस्था पर कुठारा घात किया जा रहा है, क्योंकि सरकारी स्कूलों में पढ़ाई की व्यवस्था दोहरी शिक्षा व्यवस्था की जड़ें मजबूत होने के कारण शून्य होती जा रही है। आर्थिक उदारीकरण के चलते सरकारी नौकरियों की संख्या लगातार कम हो रही है, जिससे आरक्षण का दलितों का फायदा कागजी बन कर रह जाने का खतरा है। दलितों के कल्याण के लिये तमाम योजनायें चलाने का प्रचार तो किया गया, लेकिन उत्तर प्रदेश में छात्र वृत्ति घोटाले और दलितों के लिये विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं में हुई घपलेबाजी की जब सूक्ष्म छानबीन हुई तो यह तथ्य प्रकाश में आया कि इसमें दिया जा रहा बजट दलितों के लिये संस्था बनाकर सवर्ण हड़प रहे है। दलितों की शक्ति क्षीण करने में दलित राजनेताओं

का ही हाथ है, क्योंकि दलित राजनीति का उद्देश्य आज कुछ बड़े दलित नेताओं के व्यक्तिगत हितों तक सीमित रह गया है। दलितों का सबसे बड़ा नुकसान यह हो रहा है कि इन नेताओं ने उनको एक अत्यन्त संकीर्ण वैचारिक खाई में ढकेल दिया है, अपने जातिगत मुद्दो को छोड़कर दलित आम नागरिक मुद्दों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। इस तरह से यह समाज की मुख्य धारा में जुड़ नही पा रहे हैं। गरीब व आम आदमी के लिये मौलिक सुविधाओं की अनुपलब्धता का सर्वाधिक भार दलितों पर पड़ता है क्योंकि इन्हीं में सबसे अधिक गरीबी है। लेकिन दलित अम्बेडकर जयन्ती मनाने तथा दलितों की हत्याओं पर होने वाले प्रदर्शन में इकट्ठा होने तक खुद को सीमित रखते हैं। संसाधनो के उचित और न्यायपूर्ण वितरण पर न उनकी दृष्टि रहती है और न ही वे इस बारे में जानकारी रखना चाहते है । दलितों की शक्ति राजनीति की सम्पूर्णता में दलित हितों का ख्याल रखते हुये ही बढ़ायी जा सकती है। और इसके लिये वर्तमान दलितवादी राजनीतिक दल जागरूक नजर नही आते। दूसरी ओर वामपन्थी दल हैं जो यह काम कर सकते हैं पर भी सिद्धान्तों में भले ही कान्तिकारी हो, परन्तु आचरण में जातिवादी सरोकारों से उनकी दूरी सिद्ध नहीं हो पाती जिसके चलते दलितों की आस्था भी इन दलों से समाप्त होती चली गयी ।

(A) दलित की राजनीतिक एवं निर्वाचकीय शक्ति-

स्वतंन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश शासकों के द्वारा शासन व प्रशासन के सभी स्तरों पर ब्रिटिश कायदे कानूनों पर अमल कराया जाता था। जबकि समाज में मनुस्मृति का हिन्दू कानून चलता था। स्वन्त्रता के उपरान्त भारतीय संविधान अस्तित्व में आया। संविधान स्वतंत्रता के अनुरूप तो बना किन्तु समाज–संस्कृति संविधान के अनुरूप विकसित नहीं हुई । परिणाम स्वरूप सामाजिक मूल्य सामन्तवादी रहे और संवैधानिक व्यवस्थायें औपनिवेशिक पूँजीवादी लोकतांत्रिक स्वरूप में सामने आयीं। औपनिवेशिक व्यवस्था में एक नव स्वतंत्र देश के लिये समाज में स्थापित 'स्मृतियों' आदि के धार्मिक कायदों व मान्यताओं, वर्ण व्यवस्था, बोधक व्यवस्थाओं अथवा एक 'संविधान सभा' द्वारा तैयार संविधान इन दोनो में तुलनात्मक दृष्टि से जनप्रतिनिधियों की भागीदारी से निर्मित लोकतांत्रिक संविधान ही प्रगतिशील कदम था। क्योंकि इसमें वर्ण व्यवस्था के रूप में लादी गई निर्योग्यताओं से छुटकारा दिलाने वाली सम्भावित राहतें हैं। किन्तु संविधान के अनुरूप समाज संस्कृति का आज तक विकास नहीं हुआ। धार्मिक

वैवाहिक मामलों व सामाजिक ऊँच नीच दर्शाने बाली घटनाओं ,भूमि और सम्पत्ति के सामंती स्वामित्व मतदानों में प्रत्याशियों का जातीय आधार पर चुनाव जीतना, हारना यह प्रमाणित करता है कि समाज में सामन्ती व्यवस्था के अवशेष मौजूद हैं, और सामाजिक लोकतंत्र की भावना सशक्त नहीं है।

संविधान से पूर्व दलितों की राजनीति में कोई भागीदारी नही थी। दलितों के लिये कर्तव्यो के अलावा अधिकार जैसी कोई वस्तु न तो कानून में थी और न सामाजिक दासता के कुचक्र में फँसे स्वयं दलित की कल्पना में । अम्बेडकर के साहसिक प्रयासों के कारण ही दलितों को संविधान निर्माण में अधिकार प्राप्त हुये। उन्होने दलितों की आकांक्षाओ के अनुकूल संवैधानिक व्यवस्था करने का प्रयास किया।

स्वतंत्रता के पश्चात् 1950 में संविधान के लागू होने के बाद शुरू हुई दलितों की राजनीतिक भागीदारी। संविधान के अनुच्छेद 330 के अर्न्तगत लोकसभा और अनुच्छेद 332 में एक राज्य विधान सभा के लिये दलितों की जनसंख्या के अनुसार स्थान आरक्षित किये गये। संसद की कुल सदस्य संख्या 543में 119 स्थान अनुसूचित जाति के सदस्य तथा विधान सभा की कुल सदस्य संख्या 3991 में 393 सदस्य अनुसूचित जातियों तथा 54 पद अनुसूचित जनजाति के सदस्यों ही के लिये आरक्षित हैं।[2]

अनुच्छेद 338 के अर्न्तगत प्रभुत्व सम्पन्न भारत के राष्ट्रपति को अनुसूचित जाति जनजाति के रक्षार्थ सुरक्षा गार्डो की व्यवस्था करने का अधिकार भी दिया गया।[3]..........

समग्रता में पंथ–निरपेक्षता, संसदीय लोकतंत्र, राजनैतिक समानता, बन्धुत्व और सामाजिक न्याय की संवैधानिक सम्भावनाओं को रेखांकित किया गया है। अनु० 339 में राष्ट्रपति को आयोग गठित कर अनुसूचित जाति जनजातियों के कल्याण हेतु सेवा नियुक्तियाँ कराने की व्यवस्था की गई।

---

2. दुर्गादास बसु – 'भारत का संविधान – एक परिचय' , पृष्ठ नं० – 449 चौथा संस्करण नई दिल्ली, 1994
3. गाँधी – अम्बेडकर – हरिजन जनता, श्यौराज सिंह 'बेचेन', पृष्ठ – 60

इस प्रकार संवैधानिक रूप से राष्ट्रीय आदर्श, सिद्धान्त और मूल्यों के आधार पर दलितो को नागरिक अधिकारों की संवैधानिक व्यवस्था कदाचित स्वतंत्रता के बाद की उपलब्धियों में सबसे बड़ी उपलब्धि है । किन्तु संवैधानिक व्यवस्था प्रगतिशील और सामन्ती सामाजिक मूल्यों के विषमता मूलक अवशेष इस काल के मूल अर्न्तविरोध हैं। यही कारण है कि दलितों के लिये संविधान में इतना कुछ होने पर भी इनकी दशा में अपेक्षित सुधार नही हुआ।

आर्थिक रूप से कमजोर होने व चुनावी अपव्ययता के राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक मूल स्वीकृति मिलने के कारण आर्थिक रूप से दलित व्यक्ति मतदाता तो हो सकता है, किन्तु उसका प्रत्याशी होना कल्पनातीत है। दरिद्रता एवं शोषण जैसी राष्ट्रीय समस्यायें आज भी हैं। इसका समाधान संम्बद्ध पक्षों की दुराग्राही सामन्ती चेतना और यथास्थिति से समझौते ने समग्र विकास की धारा को अवरूद्ध कर दिया है। स्वतंन्त्रता के बाद सैद्धान्तिक रूप से दलितों की संवैधानिक स्थिति बुरी नही है किन्तु व्यबहार में वह सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक अधिकारों के उपयोग से वंचित हैं। दलितों की अववंचना के पीछे राजनीति में उनकी असंगठित भूमिका काफी हद तक उत्तरदायी है।

गोलमेज सम्मेलन के समय डा० अम्बेडकर ने स्पष्ट करते हुये कहा था कि दलित सदियों से एक व्यवस्था की गिरफ्त में फस कर पिसते चले आ रहे है। मैं समझता हूँ कि अन्य समाज की भाँति यदि दलितों को राजनीति में उचित भागेदारी मिलती है तो उनका सामाजिक और आर्थिक स्तर भी सुधर सकता है।(4)

उन्होने कहा कि भारत का दलित तीन असमानताओं से पूरी तरह जकड़ा हुआ है। पहली सामाज़िक असमानता दूसरी आर्थिक असमानता और तीसरी राजनीतिक असमानता। अब यदि इनकी राजनीतिक असमानता मिटा दी जाती है तो उनका सामाजिक और आर्थिक स्तर कुछ हद तक सुधर सकता है। गोलमेज सम्मेलन की इसी बहस के तहत दलितों को ' न्यू इण्डिया एक्ट '1935 में

---

4. डा० अँगने लाल – बोधिसत्व बाबा साहब डा० अम्बेडकर–जीवन और दर्शन 1993, पृष्ठ – 51

राजनीतिक अधिकार मिले।

जहाँ तक वर्तमान में दलितों की राजनीति शक्ति एवं अधिकार का सवाल है तो हम कह सकते हैं कि राजनीति में कुछ ही लोग ऐसे हैं जो दलित राजनीति को अभीष्ट तक पहुँचाने में लगे हुये हैं। इन दलित नेताओं का तथा अन्य दलों के राजनेताओं का मात्र एक ही उद्देश्य है कि सत्ता के शिखर तक पहुचने के लिये दलितों का कैसे प्रयोग किया जाये। वाकई में जो दलित चिन्तक व विचारक रहे हैं उनका ये दलित नेता माला लेकर नाम तो जपते है लेकिन उनके उद्देश्यों से ये छत्तीस का रिश्ता बनाकर चल रहे हैं। दलित नेताओं तथा मतदाताओं को सावधान करते हुये अम्बेडकर कहा करते थे कि "दलितों ! संख्या में अधिक होना तुम्हारे उत्थान का पूर्ण साधन नहीं बन सकता इसके लिये जरूरी है कि तुम्हारे बीच में कितने चिन्तक हैं, कितने विचारक हैं तथा कितने उद्देश्यों को लेकर समर्पित भाव से तुम्हें जगाने का काम कर रहे हैं" आज का दलित परिवेश अम्बेडकर के उक्त चिन्तन से दूर भाग रहा है क्योकि ये संघर्ष का रास्ता है और दलित मतदाता एवं नेता आज की जो चमक व चमत्कार की राजनीति है उसकी होड़ में लगा हुआ है। सत्ता के दरवाजे पर पहुँचने के लिये वो अपने हर सिद्धान्त और शक्ति की बलि चढ़ाने के लिये तैयार हैं ।

यहाँ हम बहुजन समाज पार्टी के शीर्ष नेता कांशीराम व मायावती का उदाहरण प्रस्तुत करेगें कि इन्होने राजनीति के शिखर पर पहुँचने कि लिये दलितों का सीढ़ी के तौर प्रयोग किया।प्रारम्भ में इनका उद्देश्य था कि हम दलित और दलित राजनीति को शिखर पर पहुँचायेंगे। इस तरह की सोच को दलितों के बीच ले जा कर उन दलितों को जो सदियों से लालायित थे कि राजपाट कैसे होता है? राजा कैसे बना जाता है ऐसे लालायित दलितों की भावनाओं को उभार करअपने साथ अपने इर्द गिर्द केन्द्रित किया। दलितों को ये नारे बहुत पसन्द आये कि " बामन बनिया ठाकुर छोड़, बाकी सब है डी एस फोर "। इस तरह के नारे दलित वर्ग के बीच कांशीराम को मसीहा बनाने में कारगर सिद्ध हुये। जैसेही बसपा थोड़ी शक्ति के रूप में उभरी दलितों में कुछ चेतना आयी, वैसे ही कांशीराम व मायावती सत्ता की ओर आकर्षित हो गये और उन्होंने अपनी बसपा को सर्वजन समाज पार्टी बना दिया। परिणाम इसका यह निकला कि जो दलित एक आदर्श और चरित्र को सम्बल बनाकर समाज की मुख्य धारा में या ये कहें कि लोकतंत्र को स्वतंत्रता प्रदान करने में आगे बढ़ रहा था। वह बसपा के नेताओं की

अवसरवादी सोच से वहीं ठिठक कर रह गये। इनकी वो राजनीतिक शक्ति जो राष्ट्रहित या समाज हित में दलिता के माध्यम से प्रवाहित होने वाली थी वह रूक गई।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दलित कांशीराम के आन्दोलन से लोकतंत्र की आवश्यकता का अंग बन गया था। उसने दारू और पैसे के बल पर बिकना बन्द किया था। लेकिन कांशीराम एवं मायावती का चरित्र दलितों के लिये आदर्श रूप धारण न कर सका और दलित भी पुनः अवसरवादी राजनीति की ओर मुड़ गया। ये कौन नही जानता कि कांशीराम, मायावती ने कुर्सी प्राप्त करने के लिये सभी दलों के लिए अपना दरवाजा खोल रखा था। राजनेताओं का ये चरित्र भारतीय लोकतंत्र के लिये अभिशाप ही बनेगा, वरदान सिद्ध नही हो सकता।

निष्कर्तयः हम कह सकते है कि वैसे तो सम्पूर्ण राजनीति अवसरवादिता की शिकार हो चुकी है लेकिन जहाँ तक दलित राजनीति एवं दलितो के उत्थान का सवाल है वह अन्य राजनीति से चार कदम आगे बढ़ गयी है। भारतीय जनता पार्टी कांग्रेस से समझौता नहीं कर सकती है इसी तरह से और भी अन्य दल हैं जो अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धताओं से बंध कर राजनीति कर रहे है। लेकिन दलित राजनीति का अपना कोई सिद्धान्त नहीं है । आज लोकतंत्र की हास्यास्पद स्थिति बनाने में दलित मतदाताओं की और दलित नेताओं की सबसे बड़ी भूमिका है। संविधान निर्माताओं ने जिस उद्देश्य से दलितों को राजनीति में हिस्सेदारी दी थी वो भावना करीब–करीब मृतप्रायः हो चुकी है। आज दलित राजनीति न्रिोद्देश्य कुर्सी की चाहत में तथाकथित राजनेताओं की चौखट पर दस्तक देती घूम रही है। यह प्रवृत्ति भारतीय लोकतन्त्र के समक्ष भयावह स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

दलित भारतीय जनगणना के आधार पर 23% निर्धारित किया गया है। इसी के आधार पर इनको राजनीति और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। यह तथ्य परक बात है कि देश का 23% मतदाता मौजूदा लोकतन्त्र की धारा को अपने मन मुताबिक मोड़ने में सक्षम है लेकिन बिडम्बना की बात यह है कि वह ऐसा कर नही पा रहे है। सफल लोकतन्त्र के लिये मतदाताओं को जागरूक होना आवश्यक है। भारतीय राजनेताओं ने देश के आजाद होते ही लोकतन्त्र की सफलता के इस सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुये दलितों की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया है। उनका मानना

रहा है कि यदि दलित जागरूक हो गया तो देश की राजनीति से हम बेदखल हो सकते है। चाहे किसी भी दल के राजनेता हों सभी दलित हित और देश हित को नजर अन्दाज करते हुये कुर्सी हित को सामने रखकर दलितों को दलित ही बने रहने का पूरा दुष्चक्र रचते रहे।

डा० अम्बेडकर दलित को अपने पैरों पर खड़े होकर चलने के पक्षधर थे जबकि उनके विपरीत जो भी दलित हितैषी हुये उन्होने दलितों को बैसाखी के बल पर चलते रहने का प्रलोभन दिया। इसका जीता जागता उदाहरण है कि नौकरियों में तो आरक्षण आज तक अबाध गति से चल ही रहा है इनके सम्मान और स्वाभिमान को रौदने के लिये सरकार ने एक और कागजी कार्यवाही की है । यदि किसी दलित महिला के साथ सवर्णो द्वारा कोई अत्याचार या बदमाशी होती है तो उस महिला को सरकार की तरफ से सांत्वना राशि दी जायेगी। अब उस दलित महिला के परिवार के सदस्य अपराधी को दण्ड दिलाने की बजाए ऐसी राशि को पाने के लिये भागदौड़ करते हैं ।

भारतीय राजनेताओं ने आजादी के तुरन्त बाद दारू बेचने व बनाने की फैक्ट्रियाँ दलित इलाकों में ही स्थापित कीं, इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि दलित हमेशा दलित ही बना रहे और अपनी मत शक्ति का इस लोकतन्त्र में सही उपयोग न कर सके।

दलितों को मताधिकार मिलना भारतीय सामंतवादी लोगों को रास नही आया। पहले राजा, रानी के पेट से पैदा होता था। लोकतन्त्र की स्थापना से राजा बनने की प्रक्रिया में बदलाव आया। दबंगों और सामन्तवादी प्रवृत्ति के लोगो को इस बात की चिन्ता होने लगी कि दलित मत शक्ति के समक्ष हमारा इस लोकतन्त्र में राजनीति में बना रहना असम्भव है। इसलिये उनका पूरा प्रयास यह रहा कि आज भी इस लोकतन्त्र मे भी दलितों की स्थिति वैसी ही बनी रहे।

आजाद भारत के प्रथम चुनाव से ही दलित मत शक्ति का प्रयोग दो तरीको से होने लगा। प्रथम तो उनको लालच दे कर और दूसरा भय द्वारा, कुछ स्वाभिमानी दलित थे जो कि लालच के शिकार नही थे तो उनसे दबंग नेताओं के ऐजेन्ट भय दिखाकर अपने पक्ष में वोट डलवाने लगे। दलितों के प्रत्येक मतदान केन्द्र पर इन सामन्तवादीयों द्वारा गुन्डे और लठैत तैनात कर दिये जाने लगे जो

अपने बाहुबल के प्रयोग से अपने प्रत्याशी के पक्ष में मत डलवाते हैं। चुनाव आयोग की व्यवस्था द्वारा तैनात पुलिस बल इन गुन्डो के सामने बौना पड़ गया। कुल मिलाकर आज भी भारतीय लोकतन्त्र में निष्पक्ष चुनाव की धारणा मनगढ़न्त बात लगती है और इन्ही सब कारणों से दलितों की मत शक्ति नकारात्मक बन कर रह गयी।

चुनाव के बीच तथा मतदान के समय दलित मुहल्ले में दारू के ड्रम तथा गोस्त के लिये सामान आदि की भरमार होने लगती है। दलितों को कपड़े, कम्बल आदि बाँटने की परम्परा शुरू हो गयी और अशिक्षित दलितों का वोट इस तरह बिकने लगा। प्रारम्भ से ही दलित, नेताओं के इस दुष्कृत्य को न समझ सका और फँसता चला गया। लोकतंत्र क्या है ? मत की शक्ति क्या है ? इसका दलित आभास ही न कर सका । दलित उस प्रत्याशी को वोट देने लगा जो उसके वोट की कीमत ज्यादा दे सके । और यहीं से राजनीति में दलित मत शक्ति, शक्ति न रहकर राजनीति का खिलौना मात्र बनकर रह गई ।

(B) दलितों की आर्थिक शक्ति

जहाँ तक दलितों की आर्थिक सम्पन्नता और विपन्नता का सवाल है यह हमारे लिए बड़ा हास्यास्पद एवं दयनीय मुद्दा है । जब हम दलितों की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करते हुये उनके जीवन के लक्ष्यों को मानवीय दृष्टिकोण से सामने रखते हैं तो ऐसा नजर आता है कि इनके जीविकोपार्जन का आधार वह वर्ग हुआ करता था जिसकी सेवा के लिए इसे नियुक्त किया गया था।

अम्बेडकर संविधान के द्वारा क्रांतिकारी आर्थिक परिवर्तन लाना चाहते थे परन्तु स्वतन्त्रता मिलने के बाद एक अजीब किस्म का गतिरोध उत्पन्न हो गया । यह माना जाने लगा है कि राजनीतिक स्थिति पर पूर्णतया काबू पाये बिना आर्थिक क्षेत्र में कुछ भी कर सकना सम्भव नहीं है । अम्बेडकर अनुसूचित जातियों की आर्थिक स्थिति से पूरी तरह अवगत थे । वो जानते थे कि आर्थिक दृष्टि से ये जातियाँ सर्वहारा हैं । केवल सामाजिक प्रतिष्ठा से ही नहीं धन–दौलत से भी वे पूर्णतया वंचित है यह कारण था कि वो दलितों को सामाजिक अन्याय के साथ–साथ आर्थिक शोषण के खिलाफ भी लड़ने को प्रेरित करते थे ।

जहाँ तक हम दलितों की आर्थिक शक्ति की बात करते हैं तो 1950 से गरीबी के स्तर में कुछ कमी आयी है किन्तु अब भी गरीबी का स्तर बहुत ऊँचा है । इसलिए दलितों की आधी जनसंख्या कुपोषण का शिकार है । गरीबी की शब्दावली अथवा शर्तों में आज की दलित, गैर दलितों की तुलना में अधिक संख्या में भूमि विहीन हैं और न ही उनके पास उत्पादन के कोई साधन ही हैं। इसलिए अकुशल दैनिक मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या पैदा हो गयी है जिसके कारण उन्हें कृषि मजदूरों व भवन निर्माण कार्यों और असंगठित शहरी क्षेत्रों में खतरनाक काम करने को बाध्य होना पड़ा । उनमें अल्प बेरोजगार व बेरोजगार की दर बहुत अधिक है । इसके साथ ये लोग जब भी कोई आर्थिक अधिकारों की माँग करते हैं तो उस समय तथाकथित ऊँची जाति के हिन्दू एकजुट हो कर इसका विरोध करना शुरू कर देते हैं ।

गरीबी, शिक्षा तथा रोजगार के अवसरों के न होने के कारण वे अपने अधिकारों को प्राप्त करने में असफल रहे हैं । राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के इतने वर्ष बाद भी भारत में दलितों को मामूली आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करने में अभी लम्बा समय लगेगा, संविधान लागू करते समय अम्बेडकर ने कहा था कि "हम जनवरी को एक विपरीत परिस्थिति में प्रवेश करने जा रहे हैं । राजनीति के स्तर पर हम समानता प्राप्त किये होंगे परन्तु सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में हम समान नहीं होंगे। हमारे सामाजिक आर्थिक ढांचे के कारण एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धान्त की लगातार अवहेलना की जाती रहेगी ।"(5)

आजादी के बाद भी दलितों का आर्थिक पहलू स्पष्ट नजर आ रहा है । इन्हें चूँकि निजी जायजाद रखने का अधिकार नहीं था इसीलिए इनके पास अचल सम्पत्ति न के बराबर है । अधिकांश दलित खेतिहर मजदूर है जो कि असंगठित है । इनके जो पुश्तैनी काम है वो लगभग खत्म होने की कगार पर हैं इनके चमड़े के काम पर बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियों ने अधिकार जमा लिया । सिर पर मैला ढ़ोने के काम को सरकार की तरफ से खत्म ही कर दिया गया है । कृषि यन्त्र जब बड़े कारखानों में बनने लगे तो लोहारगीरी, बढ़ईगीरी जैसे पेशे मात्र प्रतीक के रूप में रह गये । सेफ्टी रेजर के प्रचलन ने

5. सत्यशोधक संवाद, मई 1999., पृष्ठ – 18

नाईयों के पेशे को अप्रासंगिक बना दिया। सब्जी और पुष्प उत्पाद जब बड़े–बड़े कृषक करने लगे तो माली और कुशवाहा जातियाँ हाशिये पर आ गयीं। एल्यूमीनियम, स्टील और कागज के बर्तनों के प्रचलन ने कुम्हारों को बेरोजगार कर दिया।[6] इनके लिए जो वैकल्पिक व्यवस्था की गई है उसका ज्यादातर लाभ सवर्ण ही उठा रहे है। इतनी बड़ी जनसंख्या एक तरह से पूरे समाज पर बोझ ही बनी हुयी है। पट्टे की जमीन का लाभ दलितों को नहीं मिल पा रहा है । सारे पट्टे कागजी हैं, उन्हें कोई मालिकाना अख्तियार नहीं मिला हुआ है । आधुनिक व्यवसाय के क्षेत्र में तो दलित पूरी तरह पिछड़े हैं । कम्प्यूटर की इन्हें कोई जानकारी नहीं है । यह स्वयं आधुनिक व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी अशिक्षा के कारण आने से बचते हैं ।

1996 में "अम्बेडकर शोध एवं शिक्षा संस्थान" ने एक सर्वे किया था जिसके अनुसार पिछले दो दशकों में आई०ए०एस०, आई०पी०एस० और पी०सी०एस० जैसी परीक्षाओं में उन्हीं दलित परिवारों के बच्चे सफल हुये हैं जो पहले इन सेवाओं में थे। अन्य सरकारी योजनाओं के लाभों में इस वर्ग ने 86.4% हिस्से पर कब्जा कर लिया है, उस समय की निकटतम आई०ए०एस० की परीक्षा के परिणाम में आम दलित परिवार का एक भी लड़का चयनित नहीं हुआ । जून 1996 की आई०ए०एस० परीक्षा में 80 स्थानों में 18 अनुसूचित जाति एवं जनजाति का चयन हुआ जिसमें 16 व्यक्ति प्रशासनिक अधिकारियों के बच्चे या रिश्तेदार थे । इस सर्वे का कहना है कि सरकारी नौकरियों पर दलित आरक्षण दलित वी०आई०पी० ने 64.3% कब्जा कर रखा है ।[7] दलितों को पट्टे पर जो जमीन दी जाती है उसे कोई गैर दलित नहीं खरीद सकता । उन जमीनों को भी मौके का फायदा उठाकर इस विशिष्ट दलित वर्ग ने खरीद लिया । आम दलित की स्थिति फिर वही की वही। इससे साबित होता है कि दलितों की आर्थिक स्थिति जो सुधरी है वो उन्हीं दलितों की जो अब दलित श्रेणी में हैं नहीं, बाकी के सारे दलितों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं है ।

---

6. चन्द्रभान प्रसाद (लेख) 'मण्डल आयोग के दस साल, अतिपिछड़ों का बुरा हाल', सत्यशोधक संवाद मई 1999., पृष्ठ – 17
7. स्वतंत्र भारत (लेख)– बृजबिहारी, लगभग 1995.

यह बात भी सच है कि अज्ञानतावश दलित अपने विवेक और बुद्धि से आर्थिक स्त्रोतों का निरूपण नहीं कर पाया । संवैधानिक सुविधा के बाद भी दलित अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ नहीं कर पा रहा है । यह एक विचारणीय मुद्दा है । दलितों की आर्थिक विपन्नता के दो कारण सामने आते हैं । एक तो समाज के तथाकथित सामंती प्रवृत्ति के लोग जो दलितों को सेवक ही बने रहने के लिए षडयन्त्र रच रहे हैं और दूसरा दलितों की अज्ञानता एवं उनकी बुरी आदतें ।

स्वतन्त्र भारत में जहाँ तमाम व्यवसाय, उद्योग धन्धे आर्थिक स्त्रोत माने जाते हैं वहीं दूसरी ओर मजदूरी और नौकरी भी आर्थिक सम्पन्नता का स्त्रोत मानी जा रही हैं । दलितों के सामाजिक स्तर का सर्वेक्षण यह स्पष्ट करता है कि उनकी बुरी आदतें सम्पन्नता में बहुत बड़ी बाधक हैं । कमाई का सम्पूर्ण पैसा परिवार की जरूरतों पर खर्च न करके अपनी दुःप्रवृत्तियों पर बर्बाद करते हैं । संवैधानिक संरक्षण इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में पूर्णरूपेण असफल है ।

किसी भी देश के आर्थिक स्त्रोत का दूसरा पहलू व्यापार हुआ करता है । जहाँ तक दलितों की बड़े व्यापार में भागीदारी का सवाल है वह न के बराबर है । 1991 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जाति के मात्र 1470861 (2.95) लोग व्यापार और वाणिज्य में श्रम श्रेणी के रूप में हैं तथा अनुसूचित जनजाति के 339301(1.19) लोग ही इसमें शामिल हैं ।[8] अपवाद स्वरूप भले ही कुछ दलित बड़े उद्योगों में भागीदार हो पर हकीकत में दलितों का उद्योगों या बड़े व्यापारों में प्रतिनिधित्व का ग्राफ बहुत नीचा है, हाँ छोटे–मोटे कुटीर एवं लघु उद्योगों में दलित वर्ग बहुतायत हैं । सरकारी आकड़ों के मुताबिक सरकारी दस्तावेज और बैंकों के दस्तावेज यह स्पष्ट करते हैं कि लघु एवं कुटीर उद्योग बड़ी तेजी से दलितों के बीच पेर फैलाता चला जा रहा है ।

पर जब हम यथार्थ के धरातल पर उतरकर दलितों के बीच सर्वेक्षण के लिए प्रवेश करके तो स्थिति कुछ और ही नजर आती है कि दलितों को सरकारी सहयोग से बैंक द्वारा विशेष छूट पर जो ऋण दिया जाता है उस ऋण से अस्थाई तौर पर पशुपालन और किसी उद्योग विशेष को करने का

---

8. चन्द्रभान प्रसाद– 'विश्वासघात' पृष्ठ – 148

नाटक तो रचा जाता है लेकिन असलियत कुछ और ही होती है । कुछ दिनों बाद न वहाँ भैंस, बकरी होती हैं और न उद्योग विशेष के लिए कोई यन्त्र होते हैं । जो पैसा आता है कुछ वर्ष बाद उसकी वसूली में उनके जो संसाधन हैं वह भी बिक जाते हैं और उनकी स्थिति वहीं की वहीं बनी रहती है । दलित स्वयं उद्योग के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पा रहा है ।

जहाँ तक कृषि के क्षेत्र में दलितों की हिस्सेदारी का सवाल है वह भी निराशाजनक है। कृषि क्षेत्र मे दो तरीके के किसान होते हैं । एक तो वो किसान जिनके नाम से खेत है, दूसरे वो जो खेतों पर काम करते हैं जिन्हें खेतिहर मजदूर कहा जाता है । सरकार के सहयोग के बाद भी दलित कृषि के क्षेत्र में आगे बढ़ता हुआ नजर नहीं आता है । सरकार ने खेतिहर मजदूर को पट्टे प जमीन आवंटित करने का कानून बनाया । सरकार की सोच है कि भारत का कोई भी किसान भूमिहीन न रहे। । परन्तु आज कृषि का आधुनिकीकरण हो गया है । उस आधुनिक ढंग से दलित किसान खेती करने में सक्षम नहीं है । कृषि हेतु आधुनिक संसाधन जुटा पाना उनके लिए दूभर काम है । दलितों की अज्ञानता एवं अकर्मण्यता भी इस कार्य के आगे बढ़ने में बाधक है । जो खेतिहर मजदूर है उन्हें पूर्णतया अपनी खेती मालिक पर ही आधारित रहना पड़ता है । और देश मे खेतिहर मजदूरों का प्रतिशत ही ज्यादा है ।

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि कृषि के माध्यम से भी दलित अपनी आर्थिक विपन्नता को मिटाने में सफल नहीं हो पा रहे है। दलितों को अपने निजी उद्योगों में, सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधा के आधार पर स्थापित अपने लघु उद्योगों में तथा कृषि के क्षेत्र में उपलब्ध जमीन में पूर्ण मनोयोग और इस चाहत से काम करे कि उसे आधुनिक समाज की दौड़ में आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिये कुछ करना है ऐसी सोच लेकर जब तक दलित वर्ग नही चलेगा अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं कर सकेगा। इनकी कमजोर स्थिति ने व्यवस्था में इनकी भागेदारी को नगण्य बना दिया है। यह सच है कि मानसिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र के बजाय आर्थिक क्षेत्र में इनकी स्थिति सर्वाधिक कमजोर है ।

जाति पर आधारित अर्थतन्त्र में श्रम विभाजन अन्यायपूर्ण शोषणकारी रहा है। यह कहना प्रासंगिक है कि भारतीय अर्थतन्त्र में दलितों के सामाजिक हितार्थों के प्रति सदियों अमानवीय व्यवहार

होता रहा है। आज भी अनुसूचित जाति का प्रत्येक दूसरा व्यक्ति कृषि मजदूर है। आज भी इस समुदाय की बहुसंख्यक जनता पौष्टिक आहार, रहने योग्य घरों आधुनिक स्वास्थ्य और शैक्षणिक सुविधाओं से वंचित हैं। भारत की कृषि जनगणना (1985-1986) दर्शाती है कि "70.06 प्रतिशत अनु जाति की जोतें सीमान्त एवं 16.2 प्रतिशत जोतें लघु श्रेणियों में हैं। इस प्रकार अनुसूचित जाति के तीन चौथाई जोत कृषि व्यवस्था के हासिये पर हैं"[9] अतएव कृषि आज भी अनुसूचित जाति के कन्धों पर ही समाज की निम्न कोटि के कार्यो का भार है। दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण यह निम्न स्तर के पेशों के अपनाने में विवश है।

सुदूर अतीत काल से देश के दलित समुदाय के आर्थिक विकास का यही है कड़वा सच। स्वतन्त्रता के बाद दलितोत्थान के नाम पर सरकार ने दलितों को अनुदान और आरक्षण की बैसाखी थमाकर अपने की स्थिति को सुधारने के लिये बुनियादी ढांचागत परिवर्तन से मुंह चुराती रही। भारत में 150 मिलियन से अधिक दलितों की आजादी के हितो की व्यापक रुप में उपेक्षा हुई है। अतएव जब तक 2500 वर्ष पुरानी हिन्दु जाति व्यवस्था पर आधारित अमानवीय श्रमविभाजन को समाप्त नहीं किया जाता तब तक समता एवं विवरणात्मक न्याय के साथ विकास के लक्ष्य को प्राप्त करना असम्भव है।

---

9. चन्द्रभान प्रसाद– 'विश्वासघात' पृष्ठ – 171

सप्तम अध्याय

वर्तमान में दलित राजनीतिक चेतना का उभार

(A) उपभोक्तावाद, नारीवाद एवं दलित जागरण

(B) भूमि सुधार एवं दलित जागरण

(C) दलित जागरण में आरक्षण की भूमिका

(D) दलित जागरण व सामाजिक तनाव

सप्तम अध्याय

वर्तमान में दलित राजनीतिक चेतना का उभार

दलित जन उभार :

पहले दलित शब्द लोगों के लेखों में विभिन्न सन्दर्भों तक ही सीमित था । परन्तु अब यह शब्द राष्ट्रीय राजनीति की मुख्यधारा को परिलक्षित करता है । राजनीति में इस प्रकार का यह बदलाव आया है कि दलितों का प्रथम ध्यान दलित जागृति व दलित उभार की ओर जाता है । पुराने समय की अपेक्षा अब दलितों ने अपने विषय में सोचना प्रारम्भ कर दिया है । आज वो शक्ति पर अपना राज्य चाहते हैं । ताकि वो यह निश्चित कर सकें कि उनके लिए क्या उचित है ।

हमें वर्तमान में दलितों में आयी राजनीतिक चेतना के उभार का तहे दिल से स्वागत करना चाहिये । यह निःसंदेह एक साहसिक कदम है कि दलित चेतना के आन्दोलन अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफल रहे हैं । पिछले पाँच वर्षों में दलित साहित्य काव्य पत्रिकाओं व पत्रकारिता की बाढ़ सी आ गयी है । वैकल्पिक संचार माध्यम बनाने का एक सुनियोजित प्रयास किया जा रहा है ताकि दलित महत्वाकांक्षाओं तथा दलित नजरिये को एक तार्किक रूप दिया जा सके। दलित चेतना के मुख्य तीन ध्येय है। पहला राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व करना दूसरा दलितों के लिये सामाजिक न्याय समानता आदर व तार्किक स्थिति का सुरक्षित रखना तथा तीसरी दलितों के लिये एक धर्म व दर्शन रखना।

इन तीन उद्देश्यो के अलावा दलित राजनीति अति गम्भीरता से वैकल्पिक धर्म संस्कृति, रीति रिवाज व जीवन शैली को खोज रही है। इस कृत्य से दलित साहसिक कदम उठा रहे है जो कि हिन्दुत्व की आत्मा के विपरीत है। भारतीय समाज में घटित हो रही इस नयी क्रान्ति के प्रति उपेक्षा भाव असम्भव है। यह वास्तव में एक क्रान्ति ही है क्योकि इतनी विषमताओं एवं सोपानो वाला यह जाति ग्रस्त समाज स्वयं जो बदल रहा है। उत्पीड़ित जातियों में बदली चेतना

उसकी राजनीतिक भागीदारी, उनका गतिशील समाज में विश्वास सम्भव है एक नये भविष्य का निर्माण करें और आज यह सब कुछ पुरानी प्रभुताओं को चुनौती है।

दलित उभार की हकीकत :

हकीकत तो यह है कि स्वतन्त्र भारत में दलित उत्थान और प्रगति की बात सिर्फ बात बहुत जोर–जोर से की जाती रही है। ये अधिकांशतः वे लोग होते है जो अपनी और अपने प्रियजनों की सुख सुविधायें जुटाने हेतु दलितों को वोट बैंक के रूप में मान कर वातानुकूलित पंचसितारा संस्कृति में जीते हैं, यही कारण है कि आज दलित राजनीति सिद्धान्त हीन होती जा रही है। वैसे भी बहुजन समाज पार्टी को लोकतान्त्रिक पार्टी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कांशीराम और मायावती जैसे नेता दूसरे लोगों को पार्टी के उच्च पद पर पहुँचने का मौका ही नहीं देते।

उत्तर प्रदेश में सपा+बसपा के गठबन्धन की सरकार बनने के बाद बसपा नेता कांशीराम का महत्व देश की राजनीति में एकाएक काफी बढ़ गया। कोई उन्हें अम्बेडकर का सच्चा उत्तराधिकारी बताने लगा तो किसी ने उन्हे "दलितों के मसीहा" की उपाधि से विभूषित किया। कुछ राजनीतिक विश्लेषक कांशीराम को भावी राजनीति की महत्वपूर्ण धुरी के रूप में देख रहे है। जबकि उनके समर्थकों ने कहना शुरू कर दिया है कि अगले लोकसभा चुनाव के बाद प्रधानमंत्री की कुर्सी उसी को मिलेगी जिसे कांशीराम चाहेंगें। इस प्रकार अब यह माना जाने लगा है कि "दलित उभार" की यह धास देश की भावी राजनीति पर व्यापक असर डालेगी।

6 दिसम्बर 1978 को कांशीराम ने अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारियों को संगठित करने के लिये 'बामसेफ' नामक गैर राजनीतिक संगठन की स्थापना की। केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय निकायो, बैंको, स्वशाषित संस्थाओं, विद्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में कार्यरत दलित, पिछड़े और अल्प संख्यक वर्गो के कर्मचारियों के बीच 'बामसेफ' (बैकवर्ड एण्ड माइनरिटि कम्युनिटी एम्प्लाइज फैडरेशन) का प्रसार करने में

कांशीराम को आशातीत सफलता मिली और बसपा के सूत्रों के अनुसार करीब दो लाख कर्मचारी बामसेफ के सदस्य बने।[1]

बामसेफ का गठन कर कांशीराम ने दलितों, पिछड़ो और अल्पसंख्यक समुदाय के शिक्षित और अपेक्षाकृत जागृत वर्ग को एक अखिल भारतीय संगठन के साथ जोड़ने में सफलता प्राप्त की। इसमें 3 हजार से ज्यादा डाक्टर, 15 हजार वैज्ञानिक, 70 हजार स्नातक और लगभग 500 डॉक्टरेट की उपाधि वाले सदस्य शामिल थे। बामसेफ को कांशीराम ने पूरी तरह गैर राजनीतिक और गैर आन्दोलनकारी संगठन बनाया। सच्चाई तो यही है कि बामसेफ ने ही वह जमीन तैयार की जिस पर आज बहुजन समाज पार्टी की फसल खड़ी है। इसलिये बसपा के अन्दर बामसेफ को बहुजन समाज का 'ब्रेन बैंक', टैलेण्ट बैंक और आर्थिक बैंक" माना जाता है।

बामसेफ के माध्यम से कांशीराम ने कार्यकर्ताओं की फौज और आर्थिक संसाधन तो जुटा लिये, लेकिन अपने आन्दोलन के विस्तार के लिये उन्हे अब एक ऐसे जनसंगठन की जरूरत थी जो बहुजन समाज पर होने बाले अत्याचार के खिलाफ मुखर प्रतिरोध कर सके और सदियों से दबे–कुचले, मानसिक हीनता से ग्रस्त लोगों को अपनी सामाजिक हैसियत बदलने के लिये खड़ा कर सके। इसीलिये 6 दिसम्बर 1981 को 'दलित शोषित समाज संघर्ष समिति' (डी०एस०फोर०) का गठन किया गया।[2]

बामसेफ और डी०एस०फोर० के द्वारा बहुजन चेतना के विस्तार को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ने के उद्देश्य से कांशीराम ने 14 अप्रैल 1988 को बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की। इस प्रकार बहुजन समाज को राजसत्ता पर काबिज करने के लिये बसपा के रूप में एक ऐसे राजनीतिक दल की स्थापना हुई जिसमें नेतृत्व से लेकर सर्वसाधारण कार्यकर्ता तक सवर्णो का प्रवेश

---

1. विनोद अग्निहोत्री–'कांशीराम और उनकी बसपा' (लेख) उदधृत हरिजन से दलित, सम्पादक – राजकिशोर पृष्ठ नं. 81
2. पूर्वोक्ति

निषेध और हर स्तर पर दलित वर्ग का नियन्त्रण है।

वैसे तो दलित राजनीति और उसके उभार की शुरूआत 1960 के दशक में लोहिया के नेतृत्व वाले समाजवादी आन्दोलन के माध्यम से शुरू हो गयी थी। 1967 के चुनाव में बिहार, उत्तर प्रदेश की गैर कांग्रेस जीत के पीछे दलितों की राजनीतिक चेतना एवं महत्वकाक्षाँ थी।

. चरण सिंह, कर्पूरी ठाकुर आदि का मुख्यमंत्री बनना केवल विरोधी जनमत का द्योतक नहीं था उसमें एक नई सामाजिक शक्ति के अभ्युदय का तत्व ज्यादा महत्वपूर्ण था। हिन्दी भाषी राज्यो में कांग्रेस विरोधी राजनैतिक मोर्चा बनाने के साथ–साथ पिछड़ो का उत्थान और दलितों में राजनीतिक चेतना का उभार शुरू हुआ । पर उस उभार में जान डालने का काम कांशीराम ने ही किया। बसपा के गठन के बाद ही दलितों में अभूतपूर्व राजनीतिक चेतना आयी है। 14 अप्रैल 1984 में बसपा की स्थापना के बाद इस पार्टी ने 1984 के लोकसभा चुनाव में हिस्सा लिया और 10.05 लाख मत पाये। पंजाब के पिछले विधान सभा चुनाव में बसपा को 1.53 लाख मत और लोकसभा चुनाव में 2.15 लाख मत मिले। उ०प्र० 1987 में हुये हरिद्वार लोकसभा उप चुनाव मे बसपा की उम्मीदवार मायावती 1,35,399 मत पा कर दूसरे स्थान पर रही। 1988 में इलाहाबाद लोक सभा क्षेत्र के ऐतिहासिक उपचुनाव में कांशीराम ने 71,586 मत बटोरे। 1989 में उत्तर प्रदेश में हुये नगर पालिका और ग्राम पंचायत चुनाव में 188 स्थानीय निकायों में बसपा के उम्मीदवार विजयी हुये। इसी प्रकार 24000 ग्राम पंचायतो में बसपा समर्थित ग्राम प्रधान निर्वाचित हुये। नवम्बर 1989 में हुये लोकसभा चुनावों में बसपा नेता मायावती बिजनौर लोकसभा क्षेत्र से चुनाव जीती। 1991के उपचुनाव में कांशीराम लोकसभा क्षेत्र के लिये इटावा से चुन लिये गये। बसपा की मौजूदगी के कारण 1990 के विधान सभा चुनाव में मध्य प्रदेश में कांग्रेस को लगभग 50 सीटों पर पराजित होना पड़ा।[3]

---

3. पूर्वोक्ति पृष्ठ 85

जहाँ तक दलित राजनीति और उभार का प्रश्न है निश्चित रूप से कांशीराम ने महात्मा फुले और अम्बेडकर के चिन्तन और कार्यक्रम को आगे बढ़ाया है । उनकी आक्रामक शैली ने दलित चेतना का विस्तार किया है जिसके फलस्वरूप आज कांग्रेस और भाजपा जैसे ब्राह्मणवादी दल भी दलितों के प्रति अपार प्रेम से सराबोर हैं । संगठन से ले कर सरकार तक में बहुजन समाज को प्रतिनिधित्व देने की होड़ है । मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकारका मन्त्रिमण्डल इसका ज्वलंत उदाहरण है । जनता दल के नेता भले ही इसे अपनी मंडल राजनीति का उभार बतायें, लेकिन वास्तविकता यह है कि उनकी 'मण्डल राजनीति' भी उसी सामाजिक दबाव का परिणाम है जो विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा मण्डल आयोग की सिफारिश लागू करने से काफी पहले अम्बेडकर, लोहिया, चरण सिंह और कांशीराम की राजनीति ने भारतीय समाज में पैदा कर दिया था, इसलिए निश्चित रूप से जबकि डा० अम्बेडकर की रिपब्लिकन पार्टी निस्तेज हो गई थी, राष्ट्रीय स्तर पर दलित चेतना के उभार का श्रेय कांशीराम को ही देना होगा। इस नाते उन्होनें एक ऐतिहासिक काम किया ।

दलितों की प्रगति में बाधक तत्व :

दलित राजनीति चेतना के उभार की दिशा में एक बड़ी कमजोरी यह है कि दलितों की विचारधारा में आर्थिक चिन्तन का अभाव है । वे भारत के मौजूदा सामाजिक–आर्थिक ढाँचे के विरूद्ध तो है लेकिन उनकी अपनी आर्थिक नीति क्या होगी, इस विषय पर बसपा ने अपनी कोई रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है । देश की आर्थिक विषमताओं को कांशीराम भी जातीय आधार पर देखते हैं । उनके अनुसार जमीन और उद्योगों के स्वामित्व पर सवर्णो का नियन्त्रण है जो, दलितों, पिछड़ों के श्रम से मुनाफा कमाते हैं । लेकिन वह सवर्णो की भूमि के अधिग्रहण और उसे भूमिहीन दलितों पर बाँटने और उद्योगों पर दलित श्रमिकों के नियन्त्रण की बात नहीं करते बल्कि सामाजिक भूमि के वितरण और खाली पड़ी भूमि के अधिग्रहण पर ज्यादा जोर देते हैं ।

दलित राजनीतिक चेतना के उभार में दूसरी कमी यह है कि दलित राजनेता अपनी राजनीति को ऊँचा उठाने में लग गये हैं चाहे वह कांशीराम हों, मायावती हों या कोई दूसरा । अपनी सत्ता लोलुपता के कारण ये किसी भी पार्टी के साथ साठ–गाँठ करते रहते हैं। इस तरह से इनकी

राजनीति पूरी तरह से अवसर वादी हो गई है और दलित राजनीति के नाम पर छद्म राजनीति चल रही है । इससे दलितों का बड़ा अहित हुआ है । बसपा की गलत नीतियों के कारण दलितों का हर क्षेत्र में उत्पीड़न किसी न किसी रूप में आज भी जारी है । सिर्फ उन्हीं दलितों की उन्नति हो रही है जो पहले से सम्पन्न थे । आज आवश्यकता है अराजनीतिक दलित संगठनों के आगे आ कर दलितो का मार्गदर्शन करने की तथा उनके उत्पीड़न के विरूद्ध संगठित हो कर आन्दोलन करने की, तभी दलितों में राजनीतिक चेतना का उभार स्पष्ट होगा ।

(A) उपभोक्तावाद, नारीवाद एवं दलित जागरण

उपभोक्ता वादी संस्कृति :

ज्यां बौद्रीआ का कथन है कि उपभोक्ता वस्तुओं के संजाल रच कर जीवन, सेवा, व्यवहार और सामाजिक सम्बन्धों का अनुकूलन कर देता है । यह विकास की पूरी तरह से उपभोज्य अवस्था है । हम पुराने ढंग से वस्तुओं के अराजक और अव्यवस्थित जगत से निकल कर एक पूर्णतया वस्तु–व्यवस्थित जगत में पहुँच जाते हैं । अंततः हम एक ऐसी वस्तु व्यवस्था में प्रवेश करते हैं जो सुपर बाजार, शॉपिंग काम्पलेक्स अथवा एअर पोर्टो या भविष्य के शहरों में दिखलाई पड़ते हैं ।[4]

सूचना के वर्चस्ववाद के बाद से समाज में उपभोक्तावादी संस्कृति अधिक तेजी से फैलने लगी है । उदाहरण के तौर पर – गाँधी नगर जमुना पार की दूसरी बस्ती है । सिले हुए कपड़ों का सबसे बड़ा कारखाना बाजार है जहाँ घर–घर दर्जी डिजाइनर हैं । स्टार टी०वी०, म्यूजिक टी०वी० यहाँ कपड़ों के डिजाइनों की प्रेरणा देता है । अर्द्ध शिक्षित और अनपढ़ लोग छोटे परदे पर जो लिबास देखते हैं उसकी नकल आनन–फानन में उतार देते हैं । फिर वह लिबास देश भर में फैल जाता है ।[5] तो इस तरह से विज्ञापन के माध्यम से उपभोक्ता भली भाँति पनप रहा है ।

4. 'माध्यम और उपभोक्तावाद' सुधीश पचौरी सचिन प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली पृ०ठ – 39.
5. 'सूचना का वर्चस्ववाद' सुधीश पचौरी पृष्ठ क्रमांक – 42

अंग्रेजों को इस मुल्क को जीतने में सौ साल लगे पर स्टार टी०वी० को जीतने में सिर्फ एक साल लगा । अंग्रेजों के शासन में सूरज कभी नहीं डूबता, इसमें विद्वानों को शक है, पर स्टार टी०वी० का सूरज सचमुच नहीं डूबता । अपने देश में वह चौबीस घण्टे हाज़िर हैं । सैटेलाईट केबिल ने मिलकर हमारे सांस्कृतिक वैशिण्ट्य को चुगना शुरू कर दिया और व्यक्ति को उपभोक्तावादी बना दिया । एक साल में हमारी सांस्कृतिक विविधता और एकता की नकल बी०बी०सी०, स्टार प्लस, एम टी०वी० व जी०टी०वी० ने संभाल ली ।

सभी विज्ञापन अन्तः उपभोग के लिए वस्तुओं का विज्ञापन करते हैं । वे उपभोक्ता और उपभोग्य वस्तु के बीच एक बिचौलिये का काम करते हैं । वे लने वाले और देने वाले के बीच एक नया संबंध कायम करते हैं वे उपभोक्ता और उपभोग्य के बीच एक नया सम्बन्ध कायम करते है। वे वस्तु और व्यक्ति में एक अतिरिक्त संबंध कायम करते हैं । वह वस्तु और उसके अटूट उपयोग का संबध है । उपभोक्ता संस्कृति के औजार हैं : वस्तु और विज्ञापन । ये औजार भूमिका बदल कर एक ऐसी उपभोक्ता संस्कृति बनाते हैं जो हमारे सामाजिक सम्बन्ध को बहुत दूर तक निर्धारित करती है ।

पूजीवाद की उपज :

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपभोक्तावाद पूँजीवाद की ही उपज है । पूँजीवाद का मतलब है कि येन केन प्रकारेण धन कमाना । धन तभी कमाया जा सकता है जब उत्पादन होगा, उत्पादन तभी होगा जब वितरण किया जायेगा, वितरण तब होगा जब सामान बिकेगा, सामान तब बिकेगा जब माँग होगी और माँग तब होगी जब मनुष्य को सामान खरीदने की आवश्यकता महसूस होगी । आवश्यकतायें दो प्रकार की होती हैं – पहली तो मौलिक होती है जिसकी जरूरत लगभग सभी को पूरी करनी होती हैं । दूसरी आवश्यकता पैदा की जाती है और अब पूँजीपति निरन्तर प्रचार–प्रसार के माध्यम से मनुष्य के अन्दर अपने सामानों के प्रति नई इच्छायें पैदा करता है और बाध्य करता है कि वह सामान खरीदे । वो सामान के प्रचार के द्वारा मनुष्य को उपभोगी बना ता है । आवश्यकता पैदा करने का तरीका ही उपभोक्तावाद है । उपभोक्तावाद के जरिये व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाने के बजाए उपभोगी नागरिक बनाने की प्रक्रिया चलती है । जिससे व्यक्ति

नया–नया सामान खरीदने की जरूरत महसूस करता रहता है ।

उच्च मध्यवर्ग की स्थिति आज विचित्र है । वह व्यवस्था का मालिक है मगर फिर भी उसे संगति नहीं सूझती । कई बार उसे लगता है कि वह सब कुछ का स्वामी है, फिर भी कमी है । आम जनता उसके कदमों, नीतियों, दिमाग और षडयन्त्रों की तारीफ करती है और फौरन नकल कर डालती है । फैशन, दरअसल हर दिन नया होते हुये भी उन्हीं वस्तुओं को नये अर्थ देकर, नये अर्थों का निर्माण करता है । वह अर्थ को शाश्वत करता है । यानि एक वस्तु जो अर्थ रखती है, वह हर दिन नया भी होता है और पुराना भी । वह वस्तुओं की दुनिया को इतना मायावी बनाता है कि जीवन ही वस्त्र बन जाता है ।

यह चरम उपभोक्तावादी स्थिति है जो अपने गरीब मुल्क में रहने वाले सम्पन्न इलाकों में फैले कूड़े के ढ़ेरों तक में दिखाई देती है और सम्पन्न मुल्कों में कचरे के पहाड़ों में । छोटी पूँजी और मेहनत पर निर्भर दलित वर्ग अभी पुरानी वस्तु को अपने हाथ से नया करके इस्तेमाल करने का आदी है, सस्ता जीवन जीने का आदी है परन्तु उपभोक्तवादी संस्कृति के विकास के पश्चात् उसमें भी जागृति आयी है । उनकी सोई हुई भावनायें जगी हैं ।

पर फिर भी हम कहेंगे कि उपभोक्तावाद आर्थिक उदारीकरण का परिणाम है जिसमें बाजार से बाहर की चिन्ता को छोड़ दिया गया है । विकास के सारे मानक उन लोगों को मिल रही सुविधाओं के आधार पर तैयार किये जा रहे हैं, जिसके पास क्रय शक्ति है । उपभोक्तावाद के चलते कल्याणकारी राज्य की अवधारणा बेमानी हो गई है । जिसके कारण बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति तक से सरकारी संसाधनों को हटा लिया गया है । परिणामतः शिक्षा और स्वास्थ्य आदि सेवायें इतनी मंहगी हो चुकी हैं कि गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली अधिकांश आबादी इससे वंचित हो कर मनुष्य के रूप में अपना अर्थ खोती जा रही है । चूंकि इस दायरे में अनुसूचित जातियों की आबादी सर्वाधिक है जिसकी वजह से उन्हें इस कुप्रभाव को सबसे ज्यादा झेलना पड़ रहा है ।

आज उपभोक्तावाद से फायदा उठा रहे लोग ही इसका विरोध कर रहे हैं, उपभोगी समाज ही स्वदेशी का नारा देते हैं, और जो इससे फायदा नहीं उठा पा रहे हैं वो चाह रहे हैं कि वो सब हमें चाहिये जो सवर्णों के पास है । हमें हमारा हक चाहिये, दलितों के मन में भी यह भावना आती है कि हम अपना 'ड्राइंगरूम' उस तरह क्यों नहीं बना सकते जैसे बाकी धनी या सवर्ण लोगो के होते हैं ।

उपभोक्ता वाद एवं जागरण :

उपभोक्तावाद ने मनुष्य के अन्दर की इच्छाओं को जगाया है, इसी से नारीवाद का जन्म हुआ । नारी के अन्दर भी खासतौर से विज्ञापन की वजह से यह विचार आये कि हमारी जगह सिर्फ घर के पुरूषों के आदेशों का पालन करने भर की नहीं है वरन् हमें भी बाहर की दुनियाँ में निकल कर अप–टू–डेट रह कर पुरूषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना है । अब उपभोक्तावाद से ही नारीवाद नामक आन्दोलन का जन्म हुआ और सभी जगह एवं सभी जाति एवं वर्ग की नारी जागरूक हुयी है ।

फिर इसी नारीवाद से दलित जागरण प्रभावित हुआ है, दलितों को भी अपने संकट का आभास हुआ । जब दलितों को कमी महसूस हुई तब उनमें जागरण पैदा हुआ । एक तरफ मनुष्य एकदम भौतिकवादी हो गया दूसरी तरफ उसकी सोई हुई चेतना टूटने लगी और यही से दलित जागरण की शुरूआत हुई । इस प्रकार हम स्पष्टतयः कह सकते हैं कि उपभोक्तावाद, नारीवाद एवं दलित जागरण क्रमवार घटनायें हैं जो एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं ।

नारीवाद

नारीवाद पश्चिमी देशों में शुरू किया गया एक आन्दोलन जो आज विश्व के लगभग सभी देशों में फैल चुका है । भारत में भी आज नारीवाद की ध्वनि जोरों से सुनाई देने लगी है ।

नारी चेतन जगत की सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्राणी है। नारी के अभाव में किसी समाज की कल्पना करना असम्भव है। वेदों में उसे घर की लक्ष्मी जरूर कहा गया परन्तु वह सिर्फ घर के चाहरदीवारी तक ही सीमित थी। भारतीय हिन्दू समाज व्यवस्था में स्त्री और शूद्र दोनों की ही लगभग समान स्थिति थी दोनों को ही शैक्षिक और आर्थिक क्षेत्र में न तो स्वतन्त्रता प्राप्त थी और न ही अधिकार । अगर वे इन अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते तो उन्हें कड़ी से कड़ी सजा देने का विधान था । और भी कई प्रकार की यातनाओं से उन्हें गुजरना पड़ा और समाज के ये दोनों ही तबके पिछड़े रह गये। दलित समाज का तो पुरूष वर्ग ही गुलामी में फंसा था, तो दलित स्त्री का क्या हाल रहा होगा ? इस परिस्थिति में वह कैसे जीती होंगी, इस कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। नारी की स्थिति देखकर प्रसाद की ये पंक्तियाँ निरर्थक प्रतीत होती है कि–

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी वहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।[6]

दलित स्त्रियों की स्थिति :

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सभी स्त्रियों का एक सा स्तर नहीं है भिन्न–भिन्न जाति और भिन्न–भिन्न वर्ग के सामाजिक स्तर में भी अंतर है । हम उनके जीवन पर नजर डालें तो देखेंगे कि राजा, मंत्री तथा अन्य अभिजात्य वर्गीय स्त्रियों के रहने के लिए महल, अच्छे गृह, अच्छा खानपान, अच्छे वस्त्र वगैरह का अभाव नहीं था । आमोद प्रमोद के साधन, उद्यान, मंदिर उत्सव वगैरह में वे जाती थीं परन्तु दलित स्त्रियों को यह सब उपलब्ध नहीं होता था । वे दासियों का सा जीवन बिताती थीं । सम्पूर्ण दलित समाज सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक गुलामी से जकड़ा हुआ था । जिस समय स्थापित समाज की औरतें सुख–सुविधा का भोग कर रहीं थीं उसी समय दलित स्त्री उतार कर फेंके हुये कपड़े आदि में लिपटी होतीं थीं । सम्पूर्ण दलित समाज की सोचनीय परिस्थिति में वह भी सहभागी थीं। दलित वे पीड़ित महिलाएं है जिनको हमारे भारतीय समाज ने गृहस्थ जीवन से वंचित कर दिया है। ज्यादातर दलित महिलाएं मजदूरी करती

---

6. जयशंकर प्रसाद – कामायनी, पृष्ठ – 2

हैं। 1971 में लगभग 71% महिलाएं खेतों पर मजदूरी करती। इनके मुकाबले गैर दलित मजदूर महिलओं का प्रतिशत 43% है।[7]

अब चूंकि कृषि मजदूरी तो ऋतु के अनुसार होती है उसके बाद दलित महिलाएं दूसरे काम की तलाश में साल भर घूमती रहती है। इसके अलावा बहुत सी दलित महिलाओं को वो कार्य करने के लिए मजबूर होना पड़ता है जिसे हम गन्दा काम कहते है। और जिस काम की बजह से उनको दूसरों से अन्तर का सामना करना पड़ता है।

उन्नीसवीं सदी में महात्मा ज्योतिबा फुले के प्रयत्नों से दलित समाज में थोड़ी सी जागृति आई । फुले ने दलित समाज की लड़कियों के लिए स्कूल खुलवाये । वे भारत के पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने दलितों के लिए स्कूल खोला और शिक्षा के लिए अछूत लड़कियां को भी प्रोत्साहित किया और उनके लिए शिक्षा के द्वार खोले। शिक्षा से ही दलित नारी प्रगति कर सकेगी । यह उनका विचार था ।

डा० अम्बेडकर किसी भी समाज की प्रगति का अनुमान उसकी महिलाओं की प्रगति से करते थे । भारतीय समाज में महिलाओं की दयनीय स्थिति को देखकर वे बहुत दुःखी थे । स्त्रियों की यह स्थिति केवल अछूत परिवारों में ही नहीं थी अपितु तथाकथित उच्च वर्ग में भी स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी । भले ही प्राचीन समय में स्त्रियों की दशा कुछ अच्छी रही हो लेकिन उत्तरवैदिक काल, रामायण काल और महाभारत काल में स्त्रियों को घर से निकाल देना तथा जुए में दांव पर लगा देना कोई कठिन बात न थी । इन सब बातों से उनकी सामाजिक स्थिति क्य थी उनका समाज में क्या स्थान था आदि का सहज ही पता चल जाता है।

---

7. Vimal thorat,(Artilcle) 'She is prey to rape every day. The pioneer, 30 January 2000.

दलित नारी आन्दोलन :

नारी समाज के उत्थान का कार्य सबसे पहले डा० अम्बेडकर ने दलित शोषित अछूत समाज में ही शुरू किया लेकिन उनका नारी उत्थान का यह कार्य दलित शोषित नारी समाज तक ही सीमित नहीं रहा । भारतीय नारी कल्याण के लिए अम्बेडकर का सबसे महान कार्य उसे पुरूष के समान अधिकार दिलाना था । यह कार्य उन्होंने भारतीय संविधान की धारा 14 व 15 में अपेक्षित प्रावधान करके पूरा किया । चौदहवीं धारा कहती है कि "भारतीय राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा ।" पन्द्रहवीं धारा के अनुसार "राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा ।"(8)

इन दोनों धाराओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूल रूप में नारी पुरूष के समान है । संवेधान में समानता मिलने के बाद नारी को अपने विषय में सोचने और समझने की भावना पैदा हुई है और उसमें राजनीतिक चेतना भी बढ़ी है । इस युग में नारी समाज की गुलामी की बेड़ियाँ काट कर उसे स्वतन्त्र करने का श्रेय अम्बेडकर को ही है ।

डा० अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित समाज ने संगठित होकर सामाजिक क्रांति के लिए संघर्ष करना शुरू किया और दलित महिलायें भी अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए इस संघर्ष में कूद पड़ीं ।

1909 में विदर्भ गोंदिया जिले में कालीचरण नंदा–गवड़ी ने अछूत लड़कियों के लिए स्कूल खोलकर दलित मुक्ति (स्त्री) की शुरूआत की । दलित स्त्रियों को आत्मोन्नित और दासताकी श्रृंखला को तोड़ने के लिए प्रेरित करना उनका उद्देश्य था । इस तरह दलित महिलाओं को गुलामी

---

8. डी० डी० बसु – भारत का संविधान, पृष्ठ 88-91, प्रेण्टिस हाल आफ इण्डिया प्रा० लि० नई दिल्ली 1994

से निकाल कर सामाजिक कान्ति की ओर अग्रसर होने की घटना भारतीय स्त्रियों के आन्दोलन मे महत्वपूर्ण है। महात्मा फुले ने स्कूल में पड़ने वाली अछूत लड़की मुकाबाई मांग का एक लिखा हुआ निबन्ध अस्पृश्यों की वेदनाओं को प्रस्तुत करता है। उसने अपने निबन्ध में भारतीय रूढ़ियों और भारतीय धर्म के खिलाफ आहवान किया है। और अस्पृश्यों को अपने उद्धार के लिये स्वयं को तैयार रहने को कहा है तथा पढ़ने –लिखने के लिये कहा है आत्म सम्मान और आत्म मुक्ति के लिये दलित स्त्री की यह पहली आवाज थी जो दलितों को संघर्ष करने को प्रेरित करती है।

अशिक्षा की शिकार दलित नारी :

1991 में सिर्फ 23.7% दलित महिलाएं ही पढ़ी लिखी थी ग्रामीण इलाकों में उनकी साक्षरता का प्रतिशत सिर्फ 19.46 है।[9] शहरों में भी इनकी शिक्षा की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है जो पढ़ाई करती भी है वो हाईस्कूल से ज्यादा आगे नहीं बड़ पाती है। उदाहरण के तौर पर सन 1981-1982 में दलित लड़कियों का शुरूआती दौर में ही पढ़ाई छोड़ाने का प्रतिशत 64.24 था।

अशिक्षा की वजह से अस्पृश्य समाज में कुछ कुप्रथाओं ने जन्म लिया। देवदासी प्रथा भी अशिक्षा के कारण जन्मी, एक कुप्रथा थी कि भगवान के आगे लड़की को अर्पित करना मन्नत के तौर पर इन लड़कियों की शादी भगवान से करना, फिर उसे देवदासी पुकारा जाना। वह देवदासी किसी भी पुरूष से शादी नही कर सकती आदि। इस प्रथा को शिवराम जानना काँबले नामक एक अस्पृश्य कार्यकर्ता ने तोड़ने का कार्य किया । अपने 'अखबार' 'सोम वंशीयमि' में वे इस विषय

इस प्रथा की बुराईयों पर लेख लिख कर पुरूषों को उपदेश देते थे कि पढ़े लिखे लोग इन मुरलियों (देवदासी) के साथ विवाह करे । शिबूबाई मुरली ने इनके अखबार में एक पत्र छपवाया था कि देवदासी बनाने का दोषी माँ–बाप हैं । सारी देवदासियाँ खराब नहीं होती बल्कि वे सात्विकता से रहती हैं ।[10] इविराम ने इस शिबूबाई की एक अच्छे लड़के से शादी करवायी ।

9. Vimal thorat,(Artilcle) 'She is prey to rape every day. The pioneer, 30 January 2000.
10. कौशल्या बैंसती 'दलित महिला आन्दोलन और डा० अम्बेडकर (लेख) प्रतिपक्ष अप्रेल 1991 पृष्ठ – 29

अम्बेडकर से पूर्व मुंबई इलाके में गोपाल बाबा वलंगकर, शिवराम जानवा कांबल और विदर्भ में किसन भागूजी बनसोडे ने दलित स्त्रियों को समाज में प्रतिष्ठा और समानता दिलाने के लिये शिक्षा और वैचारिक जाग्रति लाने के लिये प्रयत्न किये थे। अनिष्ट रीति रिवाजो से दलित महिलाओं को मुक्त करने का प्रयत्न भी इन्होने किया और स्त्री का भी अपना अस्तित्व है इसका भान कराया। इसी के फलस्वरूप दलित स्त्रीयों ने भी दलित आन्दोलन में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। नागपुर में 1906 में 'महारसभा' (महाराष्ट्र की अछूत जाति का नाम) स्थापित की गयी जो एक सामाजिक संस्था थी। इस सभा में तुलसा बाई बनसोडे (किसन भागोजी बनसोडे की पत्नी) स्त्री प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करती थी। उन्होंने 1907 में लड़कियों के लिये नागपुर में स्कूल खोला। 1920 में नागपुर मे कोल्हापुर के शाहू महाराज की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद' हुई। इसमें तुलसा बाई बनसोडे और रूकमणी बाई कोटागले ने दलित लड़के और लड़कियो को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा शीघ्र शुरू करने के लिये अपना प्रस्ताव रखा था, इससे दलित महिलाओं में जाग्रति के बीज अंकुरित होने लगे और अब दलित स्त्री विविध क्षेत्रों में खड़ी होने का प्रयत्न करती नजर आने लगी है ।

1927 में चवदार तालाव पर पीने के पानी के लिये किये गये सत्याग्रह में दलित स्त्रियो ने समाज में परिवर्तन लाने के लिये दलित स्त्रियों मे महत्वकाँक्षा और आत्म सम्मान जगाने के लिये पुरूषों के साथ–साथ इस आन्दोलन में भाग लिया।

डा० अम्बेडकर ने महार सत्याग्रह में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भाषण दिया जो दलित नारियों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उन्होने कहा कि–

"ब्राह्मण औरतो में जितना शील, पवित्रता और मनोबल है उससे कही ज्यादा आप लोगों मे है फिर क्यों ब्राह्मण स्त्री के पेट से जन्मा बच्चा ऊँचा और तुम्हारे पेट से जन्मा बच्चा नीचा ? क्यो उसे नीच माना जाता है, क्यों उसको मानवीय हक से वंचित रखा जाता है इस बारे में आपने कभी सोचा है? अगर नही सोचा तो प्रतिज्ञा करो कि हम आगे ऐसे कंलकित स्थिति मे नही

रहेगें।"[11]

यह घटना दलित स्त्रियों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है दलित स्त्रियों में आयी हीन भावना और उनको मानसिक गुलामी से निकाल कर सम्मानित जीवन जीने के लिये इस भाषण ने दलित महिलाओं को प्रेरणा दी।

दलित चेतना हेतु नारियों का योगदान :

दलित स्त्री आन्दोलन महाराष्ट्र के बाहर भी फैलना शुरू हुआ और उनमें नव चेतना आने लगीं कर्नाटक के नेर्ली गाँव में आयोजित बहिष्कृत परिषद पाँच हजार जोगतीनियां आयी थीं,कई जोगतीनियों ने अपने इच्छित पुरूषों से विवाह किये।

दलित स्त्री आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण स्थिति यह आयी कि 1927 में महाराष्ट्र में दलित स्त्रियों की अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। इन संस्थाओं ने सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र की लड़ाई में प्रवेश किया। ये उसके आत्म जाग्रति का प्रमाण है। ये संस्थायें महिलाओं के प्रश्नो के बारे में सरकार व समाज के सामने प्रस्ताव रखने लगी। अपने आस पास के प्रश्नो के बारे मे भी यह जागरूक थी। शारदा बिल को दलित महिलाओं ने अपना समर्थन भेजा था।

1942 में नागपुर में अखिल भारतीय दलित परिषद की बैठक में 30,000 दलित महिलाओं ने भाग लिया। श्री मती सुलोचना बाई डोगरे ने इसकी अध्यक्षता की। इसमें इंदिरा बाई पाटिल, कीर्ति पाटिल, जाई बाई चौधरी , विरेन्द्रा बाई तीर्थ, कौशल्या तथा नंदेश्वर सुधाराम आदि महिलाओ ने भाषण दिये। इस सभा में अम्बेडकर स्वयं उपस्थित थे और इतनी बड़ी संख्या में महिलाओं की उपस्थिति देखकर बहुत खुश हुये। इस सभा में भाषण देते हुये उन्होने कहा कि 'किसी भी समाज की प्रगति का अन्दाजा स्त्रियों में हुई प्रगति से लगाया जाता है आपने प्रगति की है। और

---

11. पूर्वोक्ति

सारा दलित समाज प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। उन्होंने स्त्रियों से कहा कि वे अपने पति के कार्य में सहयोग करे, मित्र बने दासी नहीं। लड़के और लड़कियो दोनों को पढ़ाये, ज्यादा बच्चे पैदा न करे, पति यदि शराब पी कर घर में घुसे तो उसे घर में घुसने न दे, आप इन सब बातों पर ध्यान देगी तो आपकी और आपके समाज की प्रगति होगी।

1944 में कानपुर में शांताबाई दानी की अध्यक्षता में और 1943 में मुम्बई में मीना बाई शिवराज की अध्यक्षता में संगठन की बैठकें हुई। अंजनी बाई देश भ्रतार ने दलित अनार्य लड़कियो के लिये बोर्डिंग खोला जो अब भी चल रहा है। इस विद्यालय से उत्तीर्ण काफी लड़कियाँ अधिकारी पद पर काम कर रही है जो यहाँ ही रहती हैं।

दलित महिला जागरण किस हद तक हो चुका है इसका ताजा उदाहरण पुष्पा वाल्मीकी का है। जो सरकारी प्राइमरी स्कूल में शिक्षिका है। उन्होने सितम्बर महीने में होने बाले दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में नस्लवाद पर आधारित सम्मेलन में दलित औरतों के बारे में पर्चा पढ़ा।[12] स्पष्ट है कि एक आम दलित महिला अपने देश से इतनी दूर डरबन में जाकर अपनी बात दुनिया तक पहुँचा सकती है। इसका अर्थ है कि दलित महिलाओं में जागरूकता आ चुकी है।

परन्तु फिर भी दलित महिलाओं की स्थिति में इतना सुधार होने के बावजूद आज भी गाँवों मे या शहर की अशिक्षित दलित स्त्री की दशा सोचनीय है। हांलाकि प्रगति के नाम पर आर्थिक क्षेत्र में दलित स्त्रियाँ खेतों में जा कर काम तथा बाहर मेहनत –मजदूरी करती है। परन्तु देखा जाये तो इससे उनका शोषण ज्यादा हो रहा है, उनकी मेहनत की कमाई को उनके पति बड़े शान से अपनी अय्यासी में फूक रहे हैं। दिन भर बाहर मजदूरी करने के बाद फिर चूल्हा चौके से जूझना होता है।शराबी पति के अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। मै समझती हूँ दलित महिलाओ का प्रगति के नाम पर शोषण अधिक हो रहा है। और इसके लिये दलित समाज की पढ़ी लिखी महिलाओं को आगे आकर इन गरीब महिलाओं की उन्नति के लिये कार्य करना चाहिये उनके बीच फैली अशिक्षा को दूर करना होगा तभी सही मापने में नारी वाद की उपयोगिता सिद्ध हो सकेगी।

---

12. अमर उजाला –11 सितम्बर 2001 पृष्ठ न०10

दलित महिलाओं के लिए अब यह बहुत जरूरी हो गया है कि उनकी शिक्षा,उनकी आर्थिक आजादी विशेषतयः कम वेतनभोगी मजदूरों के लिए उपाय किये जाये। तथा दलित महिलाओं को स्वयं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हक के लिए लड़ना चाहिए और अपने ऊपर हो रहे अत्याचार का विरोध करना चाहिए।

(B) भूमि सुधार एवं दलित जागरण

1927 में छोटे किसान राहत विधेयक पर भाषण देते हुये अम्बेडकर ने कहा था कि महोदय समस्या का समाधान खेतों का आकार बढ़ाने से नही हो सकता बल्कि सघन खेती से हो सकता है, अर्थात जिस तरह के हमारे खेत है उनमें ज्यादा पूंजी और ज्यादा श्रम लगाकर। इसलिये मैं सोचता हूँ कि विधेयक का वह हिस्सा जो खेतों का आकार बढ़ाने के संम्बध में है, पूरी तरह अनावश्यक है । लेकिन यह मानते हुये कि हम अपनी कृषि भूमि की चकबंदी करे और अपने खेतो का आकार बड़ा करे, मै सोचता हूँ कि इस विधेयक द्वारा प्रस्तावित इस्तेमाल होने वाले तरीको की जितनी सावधानी विधेयक प्रस्तुत करने वालों ने दिखाई है उससे कहीं ज्यादा सावधानी से जॉच करनी चाहिये। महोदय अब जो तरीके इस विधेयक में मुख्यतया इस्तेमाल किये गये है वे हैं पहला अचल सम्पत्ति के बंटवारे पर नियंत्रण और दूसरा चको की बिक्री। अब मै मानता हूँ कि इस मुद्दे पर कोई विवाद नही हो सकता है कि यदि ये दो तरीके अपनाये जाते है तो हमारी कृषि पर आधारित जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा भूमिहीन हो जायेगा और यह देश के सर्वाधिक हित में नही है कि गरीब तबको को इस ढंग से और गरीब कर दिया जाये । हिन्दु धर्म द्वारा स्थापित सामाजिक और धार्मिक एक छत्रवाद ने लोगों के एक बहुत बड़े वर्ग को निरन्तर दासता में जकड़े रखा है। यदि इस दासता में भी उनकी दशा सहनीय है तो इस कारण से कि उत्ताराधिकारी के हिन्दु कानून ने कुबेरपतियों के निर्माण को रोका है महोदय हम सामाजिक दासता से आर्थिक गुलामी को जोड़ना नही चाहते यदि आदमी सामाजिक रूप से स्वतन्त्र नही है तो उसे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने दीजिये।[13]

13. बाबा साहब डा० अम्बेडकर एक सम्पूर्ण वाड्ण्मय खण्ड 3 1994

जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि हदबंदी कानून

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1935 में एक प्रस्ताव में कहा था : "भारतीय ग्रामीण जीवन में सुधार की एक मात्र मौलिक पद्धति है – कृषि योग्य भूमि संम्बधो में तब्दीली भूस्वामित्व व्यबस्था में परिवर्तन जिसके तहत भूमि को जोतने बाला ही उसका स्वामी होगा तथा वह सरकार को जमीदारों तथा तालूकेदारों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र, सीधे राजस्व अदा करेगा।"(14)

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के विभिन्न पड़ावो पर कांग्रेस ने अंग्रेजो द्वारा प्रवर्तित भूमि काश्ताकरी व्यवस्था में परिवर्तन की इच्छा अभिव्यक्त की। "भूमि जोतने वाला भूमि का स्वामी" कांग्रेसी नारों का केन्द्रीय विषय–वस्तु था।

ऐसा समझ आता था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रमुख अधिकारियों ने महाभारत मे उदघृत संदेशो को अच्छी तरह आत्म सात कर लिया था। महाभारत के युद्ध को रोका जा सकता था अगर दुर्योधन पाण्डवों को अज्ञात वास के समाप्ति के बाद पाँच गाँव भी देने पर सहमत हो जाता। लेकिन पाण्डवो ने इस याचना के उत्तर में दुर्योधन ने उन्हे "सुई की नोक के बराबर भूमि "देने से इनकार कर दिया।भारतीय हिन्दुओ की मानसिकता को भलिभाँति समझते हुये उपनिवेशवादी इस नतीजे पर पहुँचे कि भारत के लोग भूमि को अपने पुत्रों एवं पुत्रियों से भी अधिक प्यार करते है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में तीन प्रकार की भूमि काश्तकारी व्यवस्था प्रचलित थी।

(1) जमींदारी व्यवस्था

(2) महाल वारी व्यवस्था

(3) रैयत वारी व्यवस्था

---

14. चन्द्रभान प्रसाद 'विश्वासघात'– 'स्वतन्त्र भारत ने दलितों के लिए क्या किया' ? पेज नं. 18

इनमें से प्रथम जहॉ मौलिक ब्रिटिश विचार था वही दूसरा मुस्लिम परम्पराओं पर आधारित था और तीसरा तथा अन्तिम हिन्दू परम्पराओं पर। ब्रिटिश शासक अपने हितों के संवर्धन तथा धर्म निरपेक्षता का श्रेय बटोरने में सक्षम थे। ब्रिटिश प्रायोजित भू–व्यवस्था ने भारत में तीन नये भू–सम्बधित वर्गो को जन्म दिया, जो इस प्रकार है ।

(1) राज्य और कृषको के बीच मध्यस्थों (जमींदार) जो मुख्य रूप से सवर्ण जातिय हिन्दु या सवर्ण मुस्लिम जाति से आते है।

(2) काश्तकार जो मुख्यतः शूद्रों (अत्यंत पिछड़ी जातियों को छोड़कर) से आते थे। तथा

(3) भमिहीन कृषि मजदूर जो प्रायः अछूतों से आते है।

भूमि सुधारों का पहला चरण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के ठीक बाद प० नेहरू के नेतृत्व मे कांग्रेस ने दो स्तरों पर भूमि सुधार का निर्णय लिया

(1) संस्थागत

(2) तकनीकी

तकनीकि सुधारों के तहत सरकार ने संबधित बीजों, कृषि के आधुनिक यन्त्रों रासयनिक उर्वरकों, कीटनाशको तथा सिचाई के साधनों आदि के प्रयोग को बढ़ावा देने का निर्णय लिया। जबकि संस्थागत स्तर पर सरकार ने राज्य और कृषको के मध्यस्थों के उन्मूलन, बड़े भूखंडो पर हदबदी लागू करने तथा चकबंदी करने का निर्णय लिया।

यद्यपि जमीदारी उन्मूलन का "मौलिक विचार" अपने आप में एक कान्तिकारी विचार था लेकिन इस मौलिक विचार के कुछ "मौलिक दोष" भी थे। यह सच है कि काश्तकार जोतक भी थे लेकिन गैर काश्तकार (भूमिहीन) कृषि मजदूर भी जोतक थे।

इस प्रकार अछूत प्रथम चरण के भूमि सम्बंधी कन्तिकारी विचारों के लाभ से वंचित रह गये।क्योंकि जमीदारी प्रथा के उन्मूलन मे भूमि उन्हे मिल गई जो लगान पर जमीदारों से भूमि लेकर खेती करते थे। चूंकि दलित सामान्यतः भूमि हीन कृषि मजदूर थे, अतः इन्हे भूमि नही मिल पायी।

भूमि सुधारों का दूसरा चरण

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-52 से 1955-56 के अनुसंशाओं के अनुरूप भूमि हदबंदी कानून आया जो 1972 तक कार्यरत रहा लेकिन यह एक मजाक में परिणत हो गया। प्रथम चरण के कानून के अन्तर्गत केवल 23 लाख एकड़ भूमि ही अतिरिक्त पायी गई जिसमे से केवल 13 लाख एकड़ ही वितरित की जा सकी।[15] यह एक आश्चर्य का ही विषय कहा जायेगा कि बिहार, उड़ीसा, राजस्थान तथा कर्नाटक जैसे राज्यों में कोई अतिरिक्त भूमि नही पायी गई। इस प्रकार भूमि हद बंदी कानून के विभिन्न प्रावधानो ने इसे निरर्थक बना दिया।

परन्तु फिर भी नेहरू के भूमि सुधारों के फलस्वरूप देश के सामाजिक राजनीतिक सम्बंधों में भारी परिवर्तन हुआ जो स्पष्टतयः दलितों (पिछड़े वर्ग को–अत्यन्त पिछड़े वर्ग को छोड़कर) के पक्ष मे आया।

भूमि सुधारों का तीसरा चरण

1947 में देश के स्वतन्त्र होने के साथ ही साथ जमीदारी उन्मूलन की प्रक्रिया 1948 में प्रथम आम चुनाव के पहले ही शुरू हो गयी थी और यह भूमि सुधार कार्यक्रम बहुत धीमी गति से चलता रहा। उसके पश्चात 1972 में श्रीमती गांधो ने भूमि हद–बंदी कानून पर विचार करने के लिये मुख्यमंत्रियों का दिल्ली में एक सम्मेलन आयोजित किया इसके पूर्व के अर्थात 1950 एवं 1960 के

15. पुनः पेज नं० 20

दशक मे हदबंदी कानून मात्र कागजो पर रह गये थे, क्योकि 1972 तक मात्र 23 लाख एकड़ अतिरिक्त जमीन पायी गई थी और उसमें से भी मात्र 13 लाख एकड़ जमीन का पुनर्वितरण हुआ था। बिहार, कर्नाटक, उड़ीसा एवं राजस्थान जैसे राज्यों में कुछ भी अतिरिक्त जमीन नही पाई गयी थी। पुराने हदबंदी कानूनो की कमियो को ध्यान में रखते हुये मुख्यमत्रियों की यह बैठक भूमि सुधारों के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम थी। इस बैठक ने सर्वसम्मति से भूमि सुधारों को तीव्र किये जाने के लिये एक प्रस्ताव पारित किया और जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करके अतिरिक्त बची भूमि को भूमिहीनों में वितरित करने (जिसका 50% अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को दिया जाना था) की एक राष्ट्रीय नीति तैयार की।

मुख्यमत्रियों के इस सम्मेलन ने सर्व सम्मति से पहले के कानून में विद्यमान दो विसंगतियों को ठीक करने का निर्णय लिया।

(1) पूराने कानून के अन्तर्गत, व्यक्तिगत भू–सम्पत्ति को एक इकाई माना गया था। इस प्रकार एक ही परिवार में उतनी इकाइयॉ हो सकती थी जितने कि परिवार के सदस्य।

(2) प्रति इकाई अधिकतम भू–क्षेत्र की सीमा काफी अधिक थी–उदाहरण के लिये राजस्थान में यह सीमा 336 एकड़ तथा उत्तर प्रदेश मे 80 एकड़ थी।

1950 के दशक में प्रवर्तित इस कानून की विसंगतियों का लाभ सम्पूर्ण देश के बड़े भूस्वामियों ने उठाया तथा अपनी भूमि को विधि सम्मत ढंग से हदबंदी की सीमा में आने से रोका।

1972 के सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि –

(1) पॉच सदस्यों के परिवार (परिवार की परिभाषा में पति पत्नी तथा तीन अवयस्क बच्चों को लाया गया) को एक इकाई माना गया।

(2) उत्तम भूमि जिसमें दो फसलों के लिये सिचांई सुविधा की व्यबस्था एवं एक फसल की सिचांई सुविधाओं का लाभ उठाया जा रहा हो, के लिये अधिकतम सीमा 12 से 27 एकड़ तक तथा

अनुर्वर तथा सूखे जोतो की यह अधिकतम सीमा 54 एकड़ तक निश्चित की गई।

(3) अतिरिक्त भूमि के 50% भाग को अनुसूचित जाति/जनजाति के बीच वितरण के लिये निर्णय लिया गया।

यद्यपि 1972 का सम्मेलन भू–स्वामियों के क्षेत्र में समता वादी संबधों के निर्माण के अपने मूल उद्देश्य में असफल रहा, फिर भी इससे ग्रामीण सम्पत्ति पर उच्च वर्गों के वर्चस्व को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

कर्नाटक भूमि सुधार अधिनियम -

1995 में जनता दल की सरकार कर्नाटक में सत्ता में आयी। उसके तुरन्त बाद सामाजिक न्याय वाली सरकार एक नया प्रयोग करते हुये "कर्नाटक भुमि सुधार संसोधन विधेयक, 1995 "लायी। यह विधेयक पास हो गया जिसे राज्यपाल ने शीघ्र ही मान्यता प्रदान कर दी। अब यह एक अधिनियम है। जिसे 'कर्नाटक भूमि सुधार अधिनियम (1995) का नाम दिया गया है। इस अधिनियम द्वारा सरकार ने कांग्रेसी शासन के (1974) के भूमि हदबंदी अधिनियम को तहस नहस कर दिया।

कर्नाटक भूमि सुधार अधिनियम 1974, जिसके रचयिता तत्कालीन मुख्यमंत्री स्व० देवराज अर्स थे, को देश में भूमिसुधार का सबसे क्रान्तिकारी अधिनियम माना जाता है। लेकिन मुख्यमंत्री के सम्मेलन (1972) में भूमि सुधार पर तैयार किया गया राष्ट्रीय मार्ग दर्शन का आधार भूतदोष कर्नाटक के सन्दर्भ में भी सच था। परिणामतः कर्नाटक में भी बहुत अधिक अतिरिक्त भूमि नही पायी गयी। तथापि सरकार के इस अधिनियम के साथ दृढ़ अनुराग ने भी भूमि सम्पत्ति पर काबिज कुलीन वर्ग को धक्का पहुँचाया। जिसके कारण उन लोंगों द्वारा अनैतिक ढंग से बचा ली गयी भूमि को बेचना पड़ा।

परिणामतः कर्नाटक में दलितों ने करीब 11 लाख एकड़ जमीन खरीदी। कर्नाटक के

दलितों के लिये यह 10 वर्ष का समय (1975 से 1985) अधिक महत्व का था राज्य की जनता दल सरकार ने 1974 के अधिनियम में संसोधन कर राज्य के ग्रामीण सामाजिक ढॉचे में एक भौतिक आधार की सृष्टि कर दी है जहाँ असमानता और भी बढ़ेगी हाल के इस अधिनियम में निम्न लिखित संसोधन किये गये।

(1) वह सिंचित भूमि जिस पर प्रतिवर्ष दो बार उपज प्राप्त की जा सके, के स्वाभित्व की अधिकतम सीमा 40 एकड़ होगी असिंचित भूमि पर स्वाभित्व की सीमा 216 एकड़ तक बढ़ा दी गयी है।

(2) गैर कृषकों को अधिकार होगा कि वे कृषि योग्य भूमि खरीद सकेगें और वे कृषक जिनकी वार्षिक आय कृषि के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से 2,00,000 रू० तक है वे भी कृषि योग्य भूमि खरीद सकेंगें।

(3) राज्य के दो समुद्र तटीय जिलों में कृषि योग्य भूमि को पट्टे पर देने की अनुमति दी गयी है।

(4) किसी भी प्रकार के अवरोधों को, यदि कोई है, तो सरकार की विशेष अनुमति द्वारा हटाया जा सकता है।

उर्पयुक्त विश्लेषणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय शाषक वर्ग (जो चारों वर्णो–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) जिनका प्रतिनिधित्व राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दल करते है, ने एक नया मार्ग चुना है वह मार्ग यह है कि देश में कृषि और औद्योगिक लाभों के फल को आपस में पुनर्वितरण कर लेना। शहरी अभिजात्य वर्ग (मूलतः तीनो उच्च वर्ग) को ग्रामीण सम्पत्ति हस्तान्तिरत कर देना चाहते है। जहां अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के साथ मिलकर शहरी अभिजात्य वर्ग केन्द्रीय सत्ता को अपने हाथ मे रखना चाहते है, वही सत्ता के विकेन्द्रीयकरण तथा संघवाद के नाम पर पंचायती राज तथा राज्य सरकारों की सत्ता को दलितों के हाथ सौंप देना चाहते है। इसी के साथ शहरी अभिजात्य वर्ग सरकार के स्वामित्व में सरकारी उद्योगों का निजीकरण कर के राज्य की सम्पत्ति को लूट लेना चाहते है। वही ग्रामीण और कृषि पर विकास के नाम पर राज्य की सम्पत्ति

का एक टुकड़ा ग्रामीण अभिजात्य वर्ग में स्थानान्तरित कर देना चाहते है इस नये राजनीतिक षडयंत्र और वर्णो की सन्धि मे दलितों अति पिछड़े वर्गों तथा दलित मुसलमानों का कोई स्थान नही है। और इस तरह इन समुदायों को भारत की मौलिक प्रगति के फलों से वचित किया जा रहा है।

1995 में जब बसपा सरकार शासन में थी तब एक अभियान छेड़ा गया कि 15 अगस्त से 15 अक्टूबर तक भूमि हीनों को सरकारी जमीन के ऐसे पट्टो पर काबिज कराया जाना है जो उन्हे अतीत मे कभी आवांटित किया गया था। लेकिन वर्तमान मे जिन भू स्वामियों का अबैध कब्जा है। जिलाधिकारी से लेकर तहसीलदार स्तर तक अधिकारी चुने हुये गांवो में जाते थे और पट्टे की पैमाइश के बाद उन पर भूमि हीन पट्टेदारों के कब्जे की घोषणा की जाती रही और इस तरह कब्ज़ा दिलाकर लौटे अफसर शाम को स्थानीय अखवारों को विज्ञप्तियां भेजकर अभियान की सफलता का दावा कर देते थे।

कम्युनिष्ट पार्टियों के एजेंडे में तो भूमि हीनों, जो मुख्यतः दलित आदिवासी और अति पिछड़ी जातियों से आते है, को जमीन दिलाने का सवाल शुरू से ही मौजूद रहा और उनके नेतृत्व में लम्बे अरसे से इस सवाल पर लड़ाई जारी रही है। लेकिन कम्युनिष्टों को गाली देने वाली बहुजन समाज पार्टी, जिसके लिये भूमि संघर्ष के बजाय जोड़ तोड़ के जरिए सत्ता पर कब्जा ही प्राथमिक सवाल रहा है, ने भी दलित समुदाय के अन्दर जमीन के प्रति गहरे आकर्षण को महसूस करते हुये कभी नारा दिया था, 'जो जमीन सरकारी वो जमीन हमारी' जब बसपा कुर्सी पर बैठी, तब स्वभाविक था कि दलित समुदाय के अन्दर जमीन के टुकड़े हासिल करने की आकांक्षा जोर पकड़ती है।

ऐसे में जब सरकारी तौर पर पट्टों पर कब्जा दिलाने का अभियान शुरू हुआ तो भूमि हीन दलित पिछड़े समुदाय में एक आशा बंधी। सरकारी अभियान अभी जारी है, लेकिन पट्टों पर मिला कब्जा कब तक बना रहेगा। इसे समय ही बेहतर बतायेगा फिलहाल तो पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणसी अंचल के चकिया तहसील में 416.66 एकड़ के बैराठ फार्म पर अपनी दावेदारी को ले

कर लाठियां खा रहे है और जेल जा रहे है। दलितों आदिवासियों और पिछड़ों के साथ मायावती सरकार का सुलूक उसके अखवारी दावों के ठीक उलट दिखाई दे रहा है।(16)

स्वधीनता पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि पर आधारित थी। देश की ग्रामीण सम्पत्ति मुख्यतः भूमि एवं सामाजिक सांस्कृतिक सत्ता पर उच्च वर्णो का एकाधिकार था। 1948 से जमींदारी उन्मूलन कार्यक्रम आरम्भ हो गये तथा वर्ष 1960 तक जमींदारी प्रथा का लगभग अन्त हो गया। इस बड़े राजनीतिक हस्तक्षेप ने एक झटके में जहां उच्च वर्गो का भू स्वामित्व से एकाधिकार ध्वस्त कर दिया, वही पूर्व दलितों की कृषक जातियॉं जिन्हे कुछ लोग 'मध्य पिछड़ा वर्ग' कहते है। तथा वर्तमान समीक्षक 'नव जमींदार पिछड़ा वर्ग' की संज्ञा देते है, भूस्वामित्व के मामले में आत्म निर्भर हो गये। ऐसा इसलिये हुआ क्योकि जमींदारी उन्मूलन कानूनों के तहत भूमि उन्हे मिल गई जो काश्ताकर थे जो जमींदार से लगान पर भूमि लेकर खेती करते थे, चूंकि दलित भूमि हीन कृषि मजदूर थे। अतः वे जमीदारी उन्मूलन के लाभों से वंचित रह गयें।दो चरणों (1951 से 1972, 1972 से अब तक) में अब तक लागू भूमि हद बंदी कानूनों ने उच्च वर्णो को अपनी अतिरिक्त भूमि कौड़ी के भाव बेंचने के लिये विवश कर दिया और इसका भी लाभ उन्हे मिला जिन्हे जमीदारी उन्मूलन से लाभ मिला था। इस प्रकार स्वाधीनता के समय काश्तकार नब्बे के दशक तक नव जमींदार वर्ग के रूप में तब्दील हो गये। भारत की वर्ण/जाति आधारित सामाजिक संरचना के टीकाकरण भारतीय जनता की पेशेगत श्रेणी बद्धता से परिचित ही है। इस सामाजिक श्रेणी बद्धता में दस्ताकारों, कुशल कारीगरों का समूह जन सांख्यिकी दृष्टि से सबसे बड़ा है। तथा इसी पेशेगत श्रेणी को अति पिछड़े वर्ग के नाम से जाना जाता है।(17)

आज सीमान्त किसान को उसकी जमीन से ढकेला जा रहा है और खेतिहर मजदूर पर भूस्वामियों की निर्भरता कम हो रही है । यह निर्भरता किस हद तक कम हो हुई है, इसका पता

16. एक बैराठ पर भूमिहीनों की दावेदार (लेख) समकालीन जनमत 16 से 31 अक्टूबर 1995
17. चन्द्रभान प्रसाद, (लेख) 'मण्डल आयोग के दस साल, अतिपिछड़ों का बुरा हाल' – सत्य शोधक संवाद, मई 1999 पेज नं० 17

इसी से लग जाता है कि 1981 में जहाँ 48.2 फीसदी हरिजन खेतिहर मजदूर थे, 1991 में उनकी संख्या घटकर मात्र 18 प्रतिशत रह गयी, जबकि 1971 में यह संख्या 51.7 थी।[18] इसका मुख्य कारण यह माना जा रहा है कि भूमि जोतने में आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल ज्यादा से ज्यादा किया जा रहा है जिसमें कम, पर कृषि मजदूर की जरूरत होती है। ऐसे मे छटनी तो हो ही रही है, प्रतिशिक्षित नही होने के कारण जमीन से सालों पुराना अपना रिश्ता उसे तोड़नो पड़ रहा है। बड़े–बड़े बांधों, उद्योगों, कारखानों के नाम पर भी उससे जमीन छीनी जा रही है। वैकल्पिक खेती का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि बंजर भूमि के नाम पर अच्छी भूमि भी गैर सरकारी संगठनों व अमीरों को पहले से ही जिनके पास जमीन है, दी जा रही है, इससे एक ओर वे अधिक बड़ी भूमि के मालिक बन रहे है और इस लिये ताकतवर हो रहे है दूसरी ओर दलित के लिये भूमि का जो उसकी अजीविका का साधन होती थी, टोटा पड़ता जा रहा है।

अन्त मे हम यह कह सकते है कि दलित पहले भी भूमि हीन था और बड़ी संख्या में आज भी भूमि हीन है। 1980-81 में दलितों के पास मात्र 7% भूमि थी जबकि बाकी वर्गों के पास (अनुसूचित जाति को छोड़कर) 82.8% भूमि थी। इस 7% में भी एक हेक्टेयर से कम भूमि वाले सीमांत किसान(13.8%) ही ज्यादा थे। एक से दो हेक्टेयर वाले छोटे किसान 10.2%, दो से चार हेक्टेयर वाले अर्ध माध्यम 7.6 प्रतिशत चार से दस हेक्टेयर के बीच बाले माध्यम 5.4% और 10 हेक्टेयर से किसान मात्र 4.4% ही थे, जबकि अन्य वर्गों में बड़े किसान का प्रतिशत था 84.81 ।[19]

मै निम्न तालिका के द्वारा भारत वर्ष में अनुसूचित जाति एवं जनजाति की गैर अनुसूचित जाति/जनजाति में तुलना प्रस्तुत कर रही हूँ।

---

18. हरिजन से दलित – कानूनों और कार्यक्रमों के बावजूद' (लेख) नीलम गुप्ता, पेज नं० 47

19. पूर्वोक्ति पेज नं० 48

तालिका A

भारत

कुल जनसंख्या	84.63 करोड़	जनसंख्या प्रति वर्ग किमी.	267	सिंचित भूमि जोतें	44.9%
कुल भौगोलिक क्षेत्र	78.89 करोड एकड़	क्षेत्र भूमि जोतों के रूप में	39.49 करोड़ एकड़	प्रति व्यक्ति आय (1989–90)	10850 रूपये
अखिल भारतीय क्षेत्र का प्रति.शत		राज्य के कुल भूमि क्षेत्र का प्रतिशत	50.10		
साक्षरता दर	52.21%				
अनु0 जाति जनसंख्या	13.82 करोड़	अनु0 जाति की कुल भूमि	3.03 करोड़ एकड़	अनु0 जाति की कुल जोतों का सिंचित प्रतिशत	44.50 प्रतिशत
राज्य की कुल जनसंख्या में अनु0 जाति का प्रतिशत	16.48	राज्य की कुल भूमि का प्रतिशत	7.68	अनु0 जाति के शिक्षित बेरोजगार नवयुवक	4967977
अनु0 जाति साक्षरता दर	37.41%	अनु0 जाति (हाईस्कूल तक) ड्राप आउट	79.88%		
जनजाति जनसंख्या	6.77 लाख	जनजाति की कुल भूमि	3.44 करोड़ एकड़	जनजाति की कुल जोतों का सिंचित प्रतिशत	20.70 प्रतिशत
राज्य की कुल जनसंख्या में जनजाति का प्रतिशत	8.08	राज्य की कुल भूमि क्षेत्र का प्रतिशत	10.47		
जनजाति साक्षरता	29.60%	जनजाति ड्राप आउट (हाईस्कूल तक)	86.72%	जनजाति शिक्षित बेरोजगार नवयुवक	1333176

तालिका B

घर जिनमें बिजली, पीने का पानी एवं ट्वायलेट सुविधा है (1993)

अनु0 जाति	जनजाति	गैर अनु0 जाति/जनजाति
6.62%	3.23%	19.83%

तालिका C

भूमि हदबन्दी कानून की उपलब्धियाँ

कुल अतिरिक्त घोषित भू–क्षेत्र	73.85 लाख एकड़	भूमि जो वितरित की जा चुकी है	50.50 लाख एकड़
राज्य के कुल कृषि योग्य भू–क्षेत्र का प्रतिशत	1.86	भूमि जो वितरित नहीं की गई	48.77 लाख एकड़
		भूमि अनु.जाति/जनजाति को मिली	25.25 लाख एकड़

भारत

तालिका D

जोतों की श्रेणीगत संख्या एवं कुल जोत क्षेत्र

1985 - 86

	जोत संख्या (हजारों में)						जोत क्षेत्र (हजार हेक्टेयर में)					
	सीमांत	लघु	अर्द्ध मध्यम	मध्यम	विशाल	योग	सीमांत	लघु	अर्द्ध मध्यम	मध्यम	विशाल	यो ।
1985 – 86												
गैर अनुसूचित जाति / जनजाति	44478 (57.4)	14204 (18.33)	10640 (13.73)	6524 (8.42)	1619 (2.08)	77466 (100.00)	17530 (13.01)	20432 (15.16)	29563 (21.94)	38938 (28.90)	28224 (20.95)	134688 (100.00)
अनुसूचित जाति	8508 (70.6)	1923 (16.00)	1067 (8.9)	456 (3.8)	87 (0.70)	12041 (100.00)	3000 (23.60)	2713 (21.50)	2878 (22.80)	2636 (20.90)	1413 (11.20)	12640 (100.00)
जनजाति	3161 (41:30)	1795 (23.5)	1545 (20.2)	936 (12.2)	212 (2.80)	7648 (100.00)	1512 (8.8)	2563 (14.90)	4225 (24.50)	5570 (32.3)	3365 (19.5)	17234 (100.00)

1. 1990–91 की कृषि सूचकांक सूची उपलब्ध नहीं है ।

नोट : (कोष्ठक के अन्दर संख्या प्रतिशत में)

(i) तालिका A दर्शाती है कि वर्ष 1991 में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का क्रमशः 77.00 प्रतिशत और 90.02 प्रतिशत भाग प्राथगिक सेक्टर में संलग्न है, जबकि गैर अनुसूचित जातियों/जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का मात्र 62.17 प्रतिशत भाग ही इस क्षेत्र में है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति की कुल मुख्य श्रम शक्ति का प्राथमिक क्षेत्र में आवंटन गैर अनुसूचित जातियों /जनजातियों की तुलना में क्रमशः 14.83 प्रतिशत और 27.85 प्रतिशत अधिक है जो गहरी विषमता का सूचक है। 'जनकल्याण कारिता' के दो दशकों के दरम्यान अनु०जातियों एवं जनजातियों की श्रम शक्ति की अर्थ व्यवस्था के प्राथगिक सेक्टर से दूशरे सेक्टरों में स्थानान्तरण की दर गैर अनु०जातियों व जनजातियों की तुलना गें बहुत कम रही है। जब राज्य द्वारा घोषित रूप से अनु० जातियों एवं जनजातियों की सहायता प्रदान करने का वचन देता है, तब उनके बीच गतिशीलता में बढ़ोत्तरी होनी चाहिए थी, लेकिन वस्तु स्थिति इसके ठीक विपरीत है।इस तरह की विसंगतियाँ राज्य द्वारा दलित विकास के लिये चलाये गये आधारभूत कार्यक्रमों की असफलता को उजागर करती है।

(ii) तालिका B दर्शाती है कि अनु० जातियों एवं जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का क्रमशः आधा (49.06 प्रतिशत) और लगभग एक तिहाई (32.69 प्रतिशत) हिस्सा कृषि मजदूरों की श्रेणी में आता है, जबकि गैर अनु० जातियों/जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का लगभग पाँचवा हिस्सा (19.66 प्रतिशत) ही इस श्रेणी में आता है इसके अतिरिक्त तालिका B दर्शाती है कि वर्ष 1991 में देश के कुल कृषि मजदूरों (745.96 लाख) में अनु० जाति व जनजाति के मजदूरों की संख्या 337.78 लाख,यानि लगभग आधी (45.28) है इनकी जनसंख्या देश की कुल आबादी का मात्र एक चौथाई (24.56 प्रतिशत) है।

(iii) तालिका B दर्शाती है कि 'जनकल्याण कारिता' के दो दशकों को (1971-81, 1981-91) अनु० जातियों एवं जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति में क्रमशः 208.3 लाख और 138.51लाख की बढ़ोत्तरी हुई जिनमें कृषि मजदूरों का हिस्सा क्रमशः 94.26 एवं 44.76 लाख है। इस प्रकार अनु० जातियों एवं जनजातियों की श्रम शक्ति में हुई कुल बढोत्तरी मे कृषि मजदूरों का हिस्सा 45.31

प्रतिशत और 32.31 प्रतिशत है जबकि इसी अवधि में गैर अनु० जातियों और जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति में हुई कुल बढोत्तरी में कृषि मजदूरों का हिस्सा 18.61 प्रतिशत है। तालिका B का विश्लेषण यह दर्शाता है कि यद्यपि 1991 की जनगणना में कुल मुख्य श्रम शक्ति (745.96 लाख) में अनु० जातियों एवं जनजातियों के कृषि मजदूरों (337.78 लाख) का हिस्सा 45.28 प्रतिशत है, फिर भी दो दशकों (1971-91)के दौरान कुल कृषि मजदूरों की बृद्धि (271.08 लाख) में अनुसूचित जाति व जनजाति के कृषि मजदूरों (139.02 लाख) का हिस्सा 51.28 प्रतिशत है। इससे यह संकेत मिलता है कि आने बाले दशकों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की श्रम शक्ति का और अधिक भाग कृषि मजदूरों की श्रेणी में रूपान्तरित हो जायेगा।

(iv) तालिका D दर्शाती है कि वर्ष 1991 में अनु० जातियों/जनजातियों के पास मौजूद कुल जोतों का क्रमशः 86.60 और 64.80 प्रतिशत हिस्सा सीमांत व लघु जोत श्रेणियों में है, जबकि गैर अनु०जातियों/जनजातियों के पास उपलब्ध कुल जोतो का 75.73 प्रतिशत भाग ही इन श्रेणियों में आता है। अनु०जातियों के सन्दर्भ में जहॉ यह विषमता स्पष्ट है वही अनुसूचित जन जातियों के सन्दर्भ में भमि की अन उपजाऊ प्रकति और न्यूनतम सिंचाई व्यबस्था उनके जोतो को अलाभकारी बना देती है।

भारतीय समाज पिछले दो हजार वर्षो से सामन्ती समाज रहा है, जिसका बड़ हिस्सा मूलतः गाँव में बसता रहा है। इसके घेरे में शहर बसते और उजड़ते रहे है। भारत के लगभग हर गांव में दो परस्पर विरोधी "पुरवे" "टोले" या हिस्से होते रहे है। गाँव के उत्तर तरफ का शोषक, सामन्तों या सवर्णो का पुरवा या टोला, दक्षिण तरफ शोषित पीड़ित भूमहीनों का पुरवा, टोला या हिस्सा जिसे आम तौर पर "चर्मकारों का टोला" या "चमटौली कहा जाता है। इन्ही भूमिहीन वस्तियों में कहीं–कहीं पासी, दुसाध, खातिक, डोम, धोबी, आदिवासी, वनवासी आदि जनता भी रहती है। सामन्तों या सवर्णो के टोले में व्राम्ह्यण, क्षत्रिय और वैश्यों की बस्तियाँ और टोले भी गिलते है। इस प्रकार हजारों वर्षो से सवर्ण सामान्तों और भूमिहीनों के बीच का इतिहास वर्ग संघर्षो का इतिहास रहा है।[20]

दरअसल भारत की अर्द्ध सामन्ती – अर्द्ध औपनिवेशक शक्तियाँ "भूमि के एक टुकड़ के बन्दोबस्त" के बदले भूमिहीन गरीब किसानों का निम्न प्रकार से शोषण करने के लिए उन पर गैर आर्थिक दवावों द्वारा निरन्तर दमन और दलन का बोझ लादती रही है और भविष्य में भी करती रहेंगी।[21]

1. जमीनों के बन्दोबस्त (जिसे कोला या माफी कहते है) कर्ज अथवा दोनों के बदले हलवाह गीरी अथवा बंधुआ मजदूरी के रूप में श्रम लगान द्वारा शोषण।
2. बटाईदारी के जरिए जिन्स लगान का शोषण।
3. भूमि बंदोबस्त के जरिए मुद्रा लगान के रूप में शोषण।
4 बटाईदारों का हारी बेगारी के जरिए शोषण।
5. फसलों के डेढ़िया और सवाया के जरिए शोषण।
6. सूदखोरी के ज़रिए शोषण।
7. नजराना के रूप में शोषण।
8. मंदिर, मस्जिद के लिए चढ़ावा, चन्दा मनौती, दान दक्षिणा।

---

20. रविशंकर निशान्त देशवासियों से दो बातें सुलभ प्रकाशन लखनऊ 1998 पेज 28

21. पूर्वोक्त– पेज – 20

9. व्यापारिक पूंजी द्वारा लूट, भूमिहीन लघु एवं सीमान्त किसानों से सस्ता गल्ला खरीदना और उन्हे ही आढ़तियों द्वारा मँहगे में बेंचना। ब्लाक और सरकारी योजनाओं में मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा लूट।

अतः स्पष्ट है कि जब तक "भूमि क्रान्ति" द्वारा जमीन का मालिक जमीन जोतने वाला नही होगा और जमीन जोतने वालों के पास राजसत्ता नही होगी, तब तक "भूमिहीन लघु एवं सीमान्त किसान" आजाद नही होगा। और भूमिहीन लघु एवं सीमान्त किसान सिर्फ दलित और पिछड़ा बना रहेगा।[22] सामान्त वाद की व्राम्ह्मण वादी शक्तियां, जनता में निरक्षरता, अशिक्षा, अज्ञानता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद कायम रखने के लिए शिक्षा पर अपना विशेषाधिकार कायम रखना चाहती है।

---

22. पूर्वोक्त

(C) दलित जागरण में आरक्षण की भूमिका

भारतीय संविधान जैसा कि प्रस्तावना से स्पष्ट होता है, एक समाजवादी धर्म निरपेक्ष और लोक–तांत्रिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समानता का ध्येय प्रस्तावित करता है। इस ध्येय का मूलाधार सभी नागरिकों की राजनीतिक सत्ता मे समान भागेदारी की भावना है। अतः संविधान के अनुच्छेद 15, 16, 38, 46, 164, 275, 330, 332, 334, 335, 338, 340, 341, 342 और 366 में सार्वजनिक सेवाओं में अवसर की समानता के साथ साथ पिछड़े वर्गो के लिये राज्य की सेवाओं शैक्षणिक संस्थाओं और व्यबस्थापिकाओं में स्थान आरक्षित करने की भी अनुमति दी गई है।[23] अनुच्छेद 16(4) के मूल प्रारूप में नागरिकों के किसी भी वर्ग के लिये आरक्षण की बात रखी गई थी परन्तु अम्बेडकर ने इसके साथ पिछड़े शब्द जुड़वा दिये ताकि आरक्षण की शर्त और दशा कुछ स्पष्ट हो सके।[24] बाद में संविधान सभा के वाद विवादों में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'नागरिकों के पिछड़े वर्गो से आशय मुख्यतः उन जातियों और जनजातियों से था जो प्रत्येक राज्य में जातियों की स्थति के आधार पर दो अनुसूचिओं में श्रेणी बद्ध थी। और संविधान के अनु० 341और 342 के अर्न्तगत उदघोषित थीं। तभी से पिछड़ी जातियों अथवा निम्न जातियों और जनजातियों को अनुसूचित जाति और अनु० जनजाति के नाम से जाना जाने लगा और संविधानिक संरक्षण और आरक्षण इन्ही जातियों के लिये रखे गये।

15 अगस्त 1947 को जब देश आजाद हुआ तो संविधान की मूल आत्मा समता और "समान अवसर के सिद्धान्त" को लागू करने की दृष्टि से देश के दलित एवं पिछड़े वर्गो के लिये

---

23. Ghanshayam Shah "Protective Discrimination", Equality and Political will". In Vimal P. Shah & Vinod C. Agarwal (Eds.) OP Cit Page 1-12
24. Constituent assembly Debates, Vol. 7 PP 701-2 and also see H. S. Saxena, Safeguards for scheduled castes and scheduled tribes, Founding father views : An exploration of the constituent assembly debates, New Delhi, Uppal Publishing House, 1981

सरकारी सेवाओं, शिक्षा संस्थानों तथा विधायिकाओं में आरक्षण की व्यवस्था आवश्यक समझी गयी। दूसरे इस सन्दर्भ में भारत सरकार पूना–पैक्ट के प्रति भी प्रतिबद्ध थी। दलितों के लिये सभी प्रावधानों तथा सकारात्मक कार्यक्रमों की स्वीकृति तथा विकास, स्वतन्त्रता प्राप्ति से बहुत पहले ही हो चुका था। दलितों के पृथक प्रतिनिधित्व के स्थान पर महात्मा गांधी ने डा० अम्बेडकर की मांगो को 1932 के प्रसिद्ध पूना पैक्ट में मान लिया था। यह भारतीय राज्य का एक महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है कि राज्य के प्रतिनिधित्व को संबैधानिक रूप से अनिवार्य बनाया गया है।

आरक्षण : सांविधानिक व्यवस्था

सांविधानिक प्रावधानों मे यह व्यवस्था भी की गई कि सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग की दशा सुधारी जायेगी।[25] अनु० 46 में उल्लेख किया गया है कि राज्य कमजोर वर्गो विशेषतः अनुसूचित जातियों व जनजातियों के सामाजिक व आर्थिक हितो को खास तौर पर प्रोत्साहन देगा, तथा उन्हे सामाजिक अन्याय व समस्त प्रकार के सामाजिक शोषण के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करेगा। इन्ही आकांक्षाओं के अर्न्तगत संविधान ने राष्ट्रपति पर यह विशेष दायित्व आरोपित किया है कि अनुसूचित जातियों व जनजातियों सहित सामाजिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछडे हुये वर्गो के हितों के संरक्षण के लिये प्रभावी कदम उठाये। संविधान के अनु० 339 से ऊपर तक ऐसे वर्गो ऐसे व्यक्तियों अथवा जातियों व जनजातियों के विषय में राष्ट्रपति के विशेष दायित्वों का वर्णन किया गया है।

अनु० 338 के अर्न्तगत राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिये एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करता है।

अनु० 340 (अ) के अर्न्तगत राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा एक आयोग का गठन कर

25. बापू राव पाखिंडडे "विधानमण्डलों में आरक्षण", मंथन, पूर्वोक्त पृ० 17-22

सकता है। यह आयोग आर्थिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुये वर्गो की दशाओं तथा उनके कार्य करने की परिस्थितियों में व्याप्त कठिनाइयों की जांच करता है तथा संघ अथवा राज्य द्वारा इन वर्गो की दशाओं में सुधार व उनकी कठिनाइयों के निराकरण के लिये उठाये जा सकने वाले कदमों के विषय में राष्ट्रपति को अपनी सिफारिस दे सकता है। साथ ही राज्यों की विधान सभाओं और लोकसभा में भी उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित करने की बात को संविधान का अंग बना लिया गया है।(26) (अनु० 330, 332 और 334)

काका कालेलकर रिपोर्ट -

इस संवैधानिक प्रावधानों की वस्तु स्थिति परखने एवम आरक्षण सुविधा को बेहतर बनाने हेतु समय समय पर आयोगों का गठन किया गया जिनमें काका कालेलकर आयोग फिर मंडल आयोग का गठन किया गया जिन्होने इस विषय में मूल भूत उद्देश्य प्रस्तुत किये–

देश के पिछड़े एवम दलित वर्गो के आर्थिक सामाजिक उत्थान की दृष्टि से 1953 में भारतीय संविधान के अनु० 340 के अर्न्तगत राष्ट्रपति के आदेश द्वारा स्व० श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया गया था।(27) जिसने 30 मार्च 1955 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। आयोग ने मौके पर ही साक्ष्य एकत्र करने के लिये देश व्यापी दौरा किया था तथा अपनी जांच के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न राज्य सरकारों तथा जनसाधारण के विचार प्राप्त करने के लिये 182 प्रश्नों की प्रश्नावली जारी की थी। आयोग के विचारार्थ विषय इस प्रकार थे।

(A) भारतीय क्षेत्र में रहने वाली जनता के किन वर्गो को सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ा हुआ माना जाये (संविधान के अनु० 341 के अर्न्तगत जारी अधिसूचनाओं में उल्लिखित अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के अलावा) जिन पर विचार करते हुये आयोग एक

26. 'आरक्षण और आयोग' – 'असली भारत', अप्रैल 1993

27. काका कालेलकर, रिपोर्ट – 1953

मापदण्ड निर्धारित करेगा। तथा उस मापदण्ड के अनुसार ऐसे वर्गो की सूची तैयार करेगा तथा उनकी अनुमानित संख्या और क्षेत्रवार विवरण के बारे में बतायेगा।

(B) ऐसे सभी सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गो का उन स्थितियों और कठिनाइयों की जांच करेगा जिनके तहत वह काम करते है।

(1) ऐसी कठिनाइयों को समाप्त करने या उनकी स्थितियों को सुधारने के लिये संघ या किसी राज्य द्वारा कौन सी कार्यवाही की जानी चाहिये ?

(2) इस उद्देश्य के लिये संघ या किसी राज्य द्वारा कितना अनुदान दे दिया जाये और इन अनुदानों के लिये कौन सी शर्त रखी जानी चाहिये ?

(C) राष्ट्रपति द्वारा जो भी अन्य मामले भेजे जायेगें, आयोग उनकी जांच करेगा।

(D) अपने द्वारा खोजे गये तथ्यों को बताते हुये और ऐसी सिफारिशें करते हुये, जिन्हे आयोग उचित समझता है, राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा।

सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गो की पहचान के लिये आयोग ने निम्न लिखित मापदण्ड बनाया है।

(1) हिन्दू समाज की पारम्परिक जाति व्यवस्था में निम्न सामाजिक स्थिति ।

(2) जाति अथवा समुदाय के बड़े वर्ग में सामान्य शैक्षिक विकास की कमी।

(3) सरकारी सेवा मे अपर्याप्त अथवा कोई प्रतिनिधित्व न होना।

(4) व्यापार वाणिज्य तथा उद्योगों के क्षेत्र में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

आयोग ने समूचे देश के लिये 2399 पिछड़ी जातियों या समुदाओं की एक सूची तैयार की तथा उनमें से 837 को सर्वाधिक पिछड़ो के रूप में वर्गीकृत किया। भारत के महा पंजीयक तथा

जनगणना आयुक्त ने 930 पिछड़ी जातियों या समुदाओं के जनसंख्या सम्बन्धी आकड़े निकालने में आयोग की मदद की। पिछड़े वर्गो की उन्नति के लिये आयोग की सिफारिशें विभिन्न प्रकार की तथा अत्यंत व्यापक है। उनमें व्यापक भूमि सुधार, ग्रामीण अर्थ व्यबस्था का पुर्नगठन भूदान आन्दोलन, पशु धन विकास, डेयरी फार्मिगं, पशु बीमा, मधुमख्खी पालन, मतस्य पालन, ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगों का विकास, ग्रामीण आवास, जन व्यबस्था तथा ग्रामीण जलापूर्ति, प्रोढ़ साक्षरता, विश्व विद्यालयी शिक्षा, सरकारी सेवाओं में पिछड़े वर्गो का प्रतिनिधित्व आदि विस्तृत क्षेत्र आते है। आयोग की कुछ उल्लेखनीय सिफारसें निम्नलिखित है।

(1) 1961 की जनगणना में जनसंख्या की जातिवार गणना का ज्ञान।

(2) हिन्दू समाज की पारम्परिक जाति व्यवस्था में निम्न स्तर के एक वर्ग के सामाजिक पिछड़े पन के कारण निम्न स्थिति।

(3) सभी महिलाओं को पिछड़े वर्ग में मानना।

(4) पिछड़े वर्ग के योग्य विद्यार्थियों के लिये सभी तकनीकी तथा व्यवसायिक सस्थानों में 70 प्रतिशत प्रतिशत स्थानों का आरक्षण।

(5) निम्न लिखित पैमाने पर अन्य पिछड़े वर्गो के लिये सभी सरकारी सेवाओं तथा स्थानीय निकायों की नियुक्ति में न्यूनतम आरक्षण –

वर्ग - i	25 प्रतिशत
वर्ग - ii	33.30 प्रतिशत
वर्ग - iii-iv	40 प्रतिशत[28]

यह उल्लेखनीय है कि आयोग एक सर्वसम्मत रिपोर्ट प्रस्तुत नही कर सका। वास्तव में इसके पांच सदस्यों ने विमत की टिप्पणियां दी। डा० अनूप सिंह, श्री अरूण ऊंगडू डे तथा श्री पी. जी.शाह ने पिछड़े पन को जाति के साथ जोड़ने के विचारों का विरोध किया था। उन्होने जाति के

28. पूर्वोक्ति

आधार पर पदों के आरक्षण का भी विरोध किया था। दूसरी ओर जी.एस.डी.एस. चौरसिया ने अपनी 67 पृष्ठों की विगत टिप्पणी में जाति को पिछडे पन का मानदण्ड स्वीकार करने के लिये जोर दार तरफदारी की थी। श्री टी. मेरिअप्पा की विगत टिप्पणी अन्य पिछड़े वर्गो की सूचि में केवल कुछ जातियों को शामिल करने के सम्बधित थी। अध्यक्ष काका कालेलकर ने इस मुद्दे पर लगभग अनिश्चित रूख अपनाया था। यद्यपि उन्होने औपचारिक रूप से असहमति प्रकट नही की थी। किन्तु उन्होने राष्ट्रपति को भेजे अपने पत्र में पिछड़े पन के लिये ज़ाति को आधार मानने का विरोध किया। उन्होंने आयोग द्वारा दी गई कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिफारशों पर अपना निर्णय व्यक्त नही किया।

काका कालेलकर की सिफारशों को केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकार न किये जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि उसने सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गो के समुचित वर्गीकरण का न तो मानदण्ड सुझाया था और न वस्तु परक जांच की थी। कुछ राज्य सरकारों द्वारा आरक्षण आदेशों के विरूद्ध दायर कई याचिकाओं में उच्चतम न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों ने भी सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ेपन की व्याख्या करने या अन्य पिछड़े वर्ग की पहचान करने के सम्बन्ध में एक अनुभव जन्य दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है।[29]

मंडल आयोग

इमरजेंसी के बाद 1977 में जब जनता पार्टी सत्ता में आयी तो उसने काका कालेलकर आयोग की विसंगतियों को दूर करने की दृष्टि से मंडल आयोग की नियुक्ति की। राष्ट्रपति के आदेश से भारत सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 340 के तहत एक जनवरी 1979 को एक अधिसूचना ज़ारी की, जिसके अर्न्तगत एक संवैधानिक आयोग के रूप में मंडल आयोग अस्तित्व में आया। बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल इसके अध्यक्ष नियुक्त किये गये। आर०आर०भोले सांसद दीवान मोहन लाल, एल०एल०नायर भूतपूर्व संसद सदस्य और के० सुब्रमण्यम इसके सदस्य तथा

29. 'आरक्षण और आयोग'–'असली भारत, अप्रैल 1990, पेज नं० 46

एस०एस०गिल सचिव नियुक्ति हुये।[30] इस कमीशन ने 1980 मे अपनी रिपोर्ट पेश की, जिसमें 2399 जातियों को पिछड़ी जातियों के रूप में पहचाना गया।

मंडल आयोग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(1) 1961 में केन्द्र ने इस दिशा में कुछ करने की बजाय पिछड़े समुदायों के अर्न्तगत आने वाली जातियों को पहचानने की जिम्मेदारी राज्यसरकारों को सौंप देने का फैसला किया केवल कुछ ही राज्यों ने इस काम को अपने हाथों में लिया।

(2) मंडल आयोग की नियुक्ति 1978 में जनता सरकार द्वारा की गई। इसने अपनी रिपोर्ट 31 दिसम्बर 1980 में सरकार को पेश की जिसमें 3743 जातियों को पिछड़ा घोषित किया गया। देश की कुल जनसंख्या के 43% हिन्दू व 9% मुस्लिम, सिख व ईसाई पिछड़ी जातियों को मिला कर 52% का कुल पिछड़ी जातियों के रूप में पहचाना गया।

(iii) पिछड़े वर्गो के लिये 27% आरक्षण, जिसकी मंडल कमीशन ने सिफोरिश की, के अतिरिक्त व उससे अधिक आरक्षण केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु व आन्ध्र प्रदेश में बिना किसी विरोध या हानिकारक परिणामों के पहले ही लागू किया जा चुका है।[31]

मंडल आयोग की सिफरशें - (A)आरक्षण

(1) 27% अन्य पिछड़ी जातियों को दिया जाये।

(2) खुली प्रतियोगिता द्वारा चयन में आने वाले उम्मीदवारों को उनके लिये आरक्षित कोटे में सम्मिलत नही किया जाये।

---

30. पूर्वोक्ति

31. 'सामाजिक न्याय की दिशा में मण्डल आयोग की भूमिका'– असली भारत, अप्रैल 1993 पेज नं० 35

(3) हर स्तर पर तरक्की के लिये आरक्षण का कोटा निश्चित किया जाये।

(4) आरक्षित स्थानों के न भरे जाने पर उन्हे तीन वर्ष तक आरक्षित रखा जाये व उसके बाद उन्हे गैर आरक्षित स्थान माना जाये।

(5) रोस्टर प्रणाली अपनाई जाये।

(6) केन्द्र व राज्य सरकारों के आधीन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों व राष्ट्रीकृत बैंको पर आरक्षण लागू किया जाये।

(7) किसी भी रूप में सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाले निजी क्षेत्र के संस्थानों में भी आरक्षण लागू हो।

(8) सभी विश्व विद्यालयों व उससे सम्बन्धित महाविद्यालयों में आरक्षण लागू हो।

(B) शैक्षिक सुविधायें

(1) प्रौढ़ शिक्षा के गहन व समय निर्धारित कार्यक्रम।

(2) निः शुल्क आवासीय सुविधा वाले स्कूल

(3) (i) अन्य पिछड़ी जातियों के बीच व्यापारिक व औद्योगिक उद्यमों का विकास करने के लिये आर्थिक व तकनीकि स्थानों की अलग से व्यवस्था।

(ii) छोटे पैमाने के उद्योगो की स्थापना के लिये उचित वित्तीय सहायता।

(C) संरचनात्मक परिवर्तन

(1) कृषि क्षेत्र में मौजूदा उत्पादन संम्बन्धों में परिवर्तन के लिये दूर गामी भूमि सुधार।

(2) परिसीमन कार्यक्रमों द्वारा प्राप्त अतिरिक्त भूमि का अन्य पिछड़ी जातियों में बंटवारा।

इस पूरी योजना पर 20 वर्ष बाद पुर्नविचार की सिफारिश की गई।

मंडल आयोग ने सामाजिक और शैक्षिक पिछड़े पन की पहचान के लिये ग्यारह मापदंड प्रस्तुत किये जिन्हे तीन मुख्य शीर्षको के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया –

(A) सामाजिक (B) शैक्षिक (C) आर्थिक।[32] ये ग्यारह मापदंड निम्नलिखित थे।

(A) सामाजिक :

(1) जाति/वर्ग जिन्हे सामाजिक तौर पर अन्य जातियों या वर्गो द्वारा पिछड़ा माना जाता है।

(2) जाति/वर्ग जो मुख्यतः शारीरिक श्रम पर निर्भर है।

(3) जाति/वर्ग जिनमें राज्य के औसत से 25% अधिक महिलायें और दस प्रतिशत अधिक पुरूष ग्रामीण क्षेत्र में और कम से कम दस प्रतिशत अधिक महिलायें और पांच प्रतिशत अधिक पुरूष शहरी क्षेत्र में 17 वर्ष पहले ही विवाहित पाये जाते है।

(4) जाति/वर्ग जहाँ कार्यो में महिलाओं की सहभागिता राज्य के औसत से कम से कम 25% अधिक है।

(B) शैक्षिक :

(5) जाति/वर्ग जहाँ 5 से 15 वर्ष की आयु समूह में कभी विद्यालय न जाने वाले बच्चों की संख्या राज्य के अनुपात में कम से कम 25% अधिक है।

(6) जाति/वर्ग जहाँ विद्यालय छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या राज्य के औसत से कम से कम 25% से अधिक है।

(7) जाति/वर्ग जिनमें मैट्रिकुलेट की औसत संख्या राज्य के औसत से कम से कम 25% कम हो।

---

32. C. Rupa, O P Cit, P.P. 61-63

(C) आर्थिक :

(8) जाति/वर्ग जहाँ पारिवारिक सम्पत्ति का मूल्य राज्य के औसत से कम से कम 25% कम है।

(9) जाति/वर्ग जिनमें कच्चे घरों में रहने वाले परिवारों की संख्या राज्य के औसत से कम से कम 25% अधिक है।

(10) जाति/वर्ग जहाँ 50% से अधिक परिवारों के लिये पीने के पानी स्रोत आधा किमी से दूर है।

(11) जाति/वर्ग जिनमें उपभोग ऋण लेने वाले परिवारों की संख्या राज्य के औसत से कम से कम 25% अधिक है।

आरक्षण के व्यवहारिक परिणाम :

आरक्षण का अर्थ है जीवन की मान्यताओं को नकारना जाहिर है कि जब जीवन की मान्यतायें नकार दी जायेगीं तो इसका परिणाम विनाशकारी ही होगा। आरक्षण किसी भौतिक उपलब्धि का एक सुगम साधन राजनीतिकों द्वारा माना गया है अर्थात जीवन की उपलब्धि के लिये अत्यावश्यक साधन को नकार कर भौतिक उपलब्धि का राजनीतिज्ञ द्वारा आरक्षण एक महत्व पूर्ण हथियार माना जा रहा है।क्या आरक्षण द्वारा भी भौतिक उपलब्धि बिना साधना के प्राप्त की जा सकती है ? शिक्षा बुद्धि के विकास का अनिवार्य साधन है, जिसकी प्राप्ति साधन के अभाव में सम्भव नही है. क्या शिक्षण संस्थानों में आरक्षण द्वारा बुद्धि का विकास हो सकता है ? क्या जिनके लिये राजनीतिज्ञ इस प्रकार की आरक्षण की व्यवस्था कर रहे है उन्हे बताया गया है कि उनकी बुद्धि को विकसित करने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है। क्या उन्हे यह समझाया गया है कि आरक्षण द्वारा उनकी बुद्धि विकिसित नही अपितु कुंठित होगी ?

आरक्षण की प्रणाली आदर्श प्रणाली नही है। साथ ही आरक्षण अकेला सामाजिक न्याय की स्थापना नही कर सकता है। पर फिर भी हम कहेगें कि जिस स्थिति में समाज पहुंच रहा है वहाँ आरक्षण के सिवा कोई रास्ता नही है। आज निर्गुण उपदेश तथा भविष्य की उम्मीद से काम नही

चलने वाला है। पर आरक्षण के प्रावधान में उन तत्वों को समाहित करना आवश्यक है जो जाति प्रथा को कमजोर करने में सहायक हो सकती है। इसमें हम दो बातों पर जोर देगें जिनको आरक्षण नीति के साथ जोड़ने से कालान्तर में प्रत्येक दलित वर्ग को वाकई लाभ होगा।

पहला, आरक्षण का प्रावधान स्थायी नही होना चाहिये, मधुलिमये ने आरक्षण की स्वतः समापनीय योजना का अच्छा सुझाव दिया है। उनकी राय में "जिन जातियों में सरकारी नौकरियों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में कम से कम 50% तक हिस्सा मिल चुका है उन पर आर्थिक कसौटी लगाई जाये। यदि उनका प्रतिनिधित्व इससे कम होता है तो उन पर आर्थिक कसौटी न लगाई जाये।"[(33)] जिन जातियों ने आरक्षण से अपनी स्थिति ठीक कर ली है उनको आरक्षण की परिधि से बाहर किया जाना चाहिये। उनका मानना है कि यदि उनका सुझाव माना जाये तो "आरक्षण की योजना स्वतः समापनीय योजना के रूप में काम करेगी क्योकि हर जनगणना के बाद अन्य पिछड़े वर्गो द्वारा की गयी प्रगति का मूल्यांकन किया जायेगा और जो जातियां सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर चुकी होगीं और उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार जिन्हे 'उचित प्रतिनिधित्व' मिल चुका होगा। उन्हे उत्तरोत्तर आरक्षण की परिधि से बाहर किया जा सकेगा"। इससे और अधिक पिछड़े समूहो को आगे बढ़ने का मौका मिलेगा। यदि इस नियम को राष्ट्रीय जीवन में लागू किया जाता है तो आने वाले समय में विकास के अनुपात में आरक्षण को समाप्त किया जा सकेगा।

दूसरी बात यह है कि सिर्फ सरकारी नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान से दलितों का हित सम्भव नही है। पिछडेपन को स्थायी रखने में आर्थिक नीतियों की खासी भूमिका होती है। यदि आर्थिक विकास की नीति सही नही होती है तो यह सामाजिक पिछड़ापन को दूर करने की बजाय इसे संगठित करना है। आरक्षण का सिद्धान्त पूरे समाज और राष्ट्र के नव निमार्ण के कार्यक्रम के

---

33. प्रो० ईश्वरी प्रसाद – 'आरक्षण का प्रावधान : एक विश्लेषण'–असली भारत, अप्रैल 1993, पेज नं० 16

साथ जुड़े होने के कारण आर्थिक व्यवस्था के स्वरूप से कटा नही हो सकता। किशन पटनायक का मत है कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ जेहाद छेड़े बगैर और जातिप्रथा के विरुद्ध एक सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा किये बगैर आरक्षण की राजनीति खोखली हो जायेगी।(34)

आरक्षण द्वारा शिक्षा प्राप्ति के बाद आरक्षण द्वारा ही सरकारी नौकरियों को उपलब्ध किया जायेगा अर्थात एक आरक्षण से दूसरा और अब तीसरा आरक्षण क्या होगा। ? यह विचारणीय प्रश्न है। समाज के दो वर्ग हो जायेगें – आरक्षित और अनारक्षित। दोनों वर्ग एक दूसरे को ईर्ष्या द्वैष की दृष्टि से देखेगें।(35) इस प्रकार समाज के नये वर्गीकरण जो राजनीतिकों की योजना के अन्तर्गत जाति वाद पर आधारित है, द्वारा समाज में भंयकर अशान्ति फैलेगी। इस प्रकार आरक्षण से जीवन तो मिलेगा नही क्योकि वह तो खुले वातावरण में साधना द्वारा ही मिल सकता है और जो मिलेगा वह नारकीय जीवन होगा।

आरक्षण से भौतिक उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती है लेकिन इसके लेबिल से छुटकारा नहीं पाया जा सकता है। और इसी कारण आरक्षित कोटे का अधिकारी या कर्मचारी सदा हीन भावना से ग्रस्त रहता है। कुछ वर्ष पहले दूरदर्शन ने अपने एक कार्यक्रम 'हैलो जिन्दगी' में लखनऊ के अनुसूचित जाति के एक वरिष्ठ आई०ए०एस० अधिकारी का साक्षात्कार दिखाया था। उस अधिकारी ने स्पष्टतः अपनी हीन भावना को स्वीकार किया था और यह भी माना था कि यदि आरक्षण की सुविधा न होती तो वह आई०ए०एस० परीक्षा में प्रवेश नही पा सकते थे उसकी लड़की का कहना था कि वह तो विश्व विद्यालय में अपनी सहेलियों से अपनी जाति भी नही बताती क्योकि जाति बता देने पर उसकी सहेलियां उसे हेय दृष्टि से देखने लगेगीं।(36)

---

34. पूर्वोक्ति पेज नं० 17
35. 'आरक्षण की राजनीति और संविधान की कराह', आचार्य शुक्लेन्द्र 1995 इला प्रकाशन, पेज नं० 5
36. पूर्वोक्ति पेज नं० 7

बुद्धि का जितना अधिक विकास होता है, आत्मबल उतना ही बढ़ता है और अल्प या अर्द्ध विकसित बुद्धि सदैव हीन भावना से ग्रस्त रहती है। इस भावना से ग्रस्त अधिकारी को एक चतुर्थ श्रेणी का राजनीतिक भी अपनी अंगुलियों पर नचाता है। हीन भावना से छुटकारा पाने के लिये वह सभी सम्भव प्रयास करता है, भ्रष्टाचार का रिकार्ड तोड़ने में जुट जाता है जिससे आर्थिक प्रगति से ही वह कुछ सिर ऊँचा उठाकर चल सके लेकिन सफलता नही मिलती। इसका परिणाम प्रशासन पर पड़ता है, वह पंगु हो जाता है, अव्यवस्था फैल जाती है। हीन भावना के कारण उसमें कोई आत्म विश्वास नही होता कि वह जो कर रहा है सही कर रहा है, उसे यदि दो वाक्य लिखना होता है तो दस वार काट छांट करता है तब कहीं कोई विचार बन पाता है।

जब संविधान निर्माताओं ने आरक्षण की व्यवस्था की थी तो उन्होने यह कल्पना भी नही की होगी कि आरक्षण को राजनीति का एक हथियार बना लिया जायेगा और इसी के सहारे राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने या उसे बनाये रखने का देश व्यापी संघर्ष किया जायेगा जिससे देश की जनता आतंकित हो जायेगी। संविधान निर्माताओं ने आरक्षण की व्यवस्था को जनसंख्या से भी नही जोड़ा था। क्योकि वे जानते थे कि इस देश के जीव हीन भावना से इतने ग्रस्त होते है कि अपने को सुरक्षित करने के उद्देश्य से जनसंख्या वृद्धि को ही वे सबसे अधिक कारगर उपाय मानते है। वे यह भी जानते थे कि चूंकि इस देश की बहुसंख्या भौतिक प्रगति प्राप्त करने के लिये भी साधना में विश्वास नही करती इस लिये आरक्षण को असाधक बहुसंख्या से जोड़ने से देश हमेशा खतरे में रहेगा।

यद्यपि आरक्षण संविधान के गर्भ से निकला लेकिन इसके लालन पालन की जिम्मेदारी राजनीतिकों ने ले ली और दावा करने लगे कि वे जनसंख्या के अनुपात में ही आरक्षण के हकदार हें। तात्यपर्य यह है कि यदि जनसंख्या का बहुमत तथाकथित पिछड़ी जातियों का है तो वह उसी के अनुसार आरक्षण का अधिकारी है। जाहिर है कि राजनीति में बहुमत ही चलेगा, अल्पमत नहीं।यही बहुमत सर्वोच्य न्यायालय में भी चल गया और उस बहुमत ने आरक्षण सम्बन्धी कुछ ऐसी मान्यतायें स्थापित की कि न्यायालय भी फँस गया, आरक्षण के विवादों का वहाँ ढ़ेर जमा होने लगा, जिस पर

सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ जज ने चिन्ता व्यक्त करते हुये खिन्नता से कहा कि "क्या संविधान पीठ के लिये आरक्षण का ही एक मुद्दा रह गया है। ?"[37]

आरक्षण के सन्दर्भ में पिछले दो दशकों के आकड़ों (बिहार और उ०प्र०) से साफ जाहिर होता है कि आरक्षण का व्यापक स्तर पर केन्द्रीकरण हो चुका है। आरक्षण लागू होने के इतने वर्ष बाद भी हम घोषित उद्देश्य से काफी दूर है। इसके दो कारण है, पहला हमारे देश के शासक वर्ग ने वर्ण अर्न्तविरोधों का समाधान करने के बजाय उसे भटकाने में ज्यादा शक्ति लगायी। शाषक वर्ग ने यह कभी नही सोचा कि देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक ढांचे में कोई बुनियादी बदलाव आये। आरक्षण के चलते दलित विधायक, मंत्री, अधिकारी बने लेकिन यह वर्ग आज भी एक स्वतन्त्र समान्तर नेतृत्व व संस्कृति विकसित नही कर पाये। बसपा जैसे दल तो पूरी तरह से सवर्ण मूल्यों का अनुसरण कर रहे है। आरक्षण परिणामों के शोध यह बताते है कि सवर्ण मूल्यों के अनुसरण में दलित नौकरशाहों का भी एक बड़ा वर्ग शामिल हो चुका है। कुछ वर्ष पहले 'अम्बेडकर शिक्षा एवं शोध संस्थान' ने दिल्ली, पटना और लखनऊ राजधानी के आसपास के क्षेत्रों का अध्ययन किया। इस सर्वे रिपोर्ट के अनुसार[38] इन तीनों शहरों के ग्रामीण इलाकों में नौकर शाहो के जो कृषि फार्म है उनमें से अधिकाशं दलित नौकरशाहों के है और अधिकांश भूमि दलित नौकरशाहों ने तमाम कुटिल अभियानों से दलितों से ही खरीदी है और जमीन बेचने बाले अधिकांश दलित परिवार इन्ही जमीनों पर मजदूर है।

डा० अम्बेडकर जिन्होने दलितों के आरक्षण की लड़ायी लड़ी थी, स्वयं आरक्षण के खतरे को भॉपने लगे थे, इसी लिये उन्होने अपने कई भाषणों एवं लेखों के जरिये यह आशंका व्यक्त की थी कि आरक्षण के साथ साथ दलितों को देश के विषमता वादी परिवेश से परिचित न कराया गया, उन्हे बुनियादी बदलाव के लिये प्रेरित न किया गया तो आरक्षण, दलितों में एक नयी सामंती व्यवस्था को

37. पूर्वोक्ति पेज नं० 9

38. 'क्या आरक्षण से वर्ण व्यवस्था टूटेगी'– (लेख) बृजबिहारी, स्वतन्त्र भारत, 19.8.98

जन्म दे सकता है। आज आरक्षण को जहाँ एक ओर उसके वास्तविक हकदार में बांटना आवश्यक है वही दूसरी ओर सवर्णो में भी यह भावना पैदा करने की आवश्यकता है कि आरक्षण मेहरबानी नही एक राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। वैसे यह शर्म की बात है कि दलितों के लिये आरक्षण की जरूरत अभी तक बनी हुयी है। कायदे से अभी तक इनका इतना विकास हो जाना चाहिये था कि उन्हे यह बैसाखी ठुकरा कर खुशी होती।[39] हांलाकि कांशीराम ने आरक्षण का विरोध करना शुरू कर दिया है पर इसका सीधा सम्बन्ध दलित वोटों की सौदेबाजी से है। वह यह कमी सहन नही कर पा रहे है कि दलित वोट मनुवादी भाजपा को या मुलायम या लालू यादव की पार्टियों को मिले।

कुछ भी हो पर जाति वादी आरक्षण पर आधारित राजनीति अधिक दिनों तक नही चलेगी क्योंकि मतदाता को इससे अधिक दिनों तक भ्रमित करना सम्भव नही होगा।[40] पर जाति की राजनीति करने वाले लोग आसानी से हार नही मानेगें और वे भारतीय जनमानस में प्रदूषण फैलाते रहेगें। आरक्षण को जाति से जोड़कर जो सत्ता हथियाने का कुचक्र चलाया जा रहा है, इससे समाज में इतनी बड़ी दरार पैदा हो रही है कि उसका खामियाजा देश को निश्चित ही भुगतना पड़ेगा। 1947 में इस देश की धर्म पर आधारित दो जातियों हिन्दू और मुसलमान ने देश के दो टुकड़े करा दिये। और अब जाति पर आधारित आरक्षण न मालूम कितने टुकड़े करायेगा।

आरक्षण किसके लिये ?

नवम्बर 1992 में सुप्रीम कोर्ट ने पिछड़े के आरक्षण को सही ठहराया था। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इसके साथ दों मर्यादायें भी बांधी थी।सुप्रीम कोर्ट की नौ जजों की संविधान पीठ ने उस समय

---

39. 'कांशीराम आरक्षण का विरोध क्यों कर रहे हैं' ? (लेख) राजकिशोर, अमर उजाला मंगलवार 23 जून 1998
40. कर्नाटक विधानसभा के पिछले चुनाव में जनता ने कांग्रेस (ई) को धराशायी कर दिया यद्यपि इसकी सरकार ने चुनाव के बाद भी सत्ता पर काबिज रहने की नियत से 73% आरक्षण करने का कानून बना दिया था ।

कहा था कि एक तो कुल मिला कर आरक्षण पचास प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिये, साथ ही यह भी कहा था कि पिछड़ी जातियों के सुविधा सम्पन्न वर्गो को आरक्षण की सुविधा से वंचित कर दिया जाना चाहिये।[41]

सुप्रीम कोर्ट की इसके पीछे तर्क और सोच यही थी कि यदि पिछडों में से उसका साधन सम्पन्न वर्ग ही उसका लाभ उठाता रहेगा तो वस्तुतः यह सुविधा उनकी ही हो कर रह जायेगी। और पिछड़ी जातियों के जो लोग सचमुच सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े है, जिन्हे आरक्षण का लाभ मिलना चाहिये वे इसका फायदा नही उठा पायेगें। सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में कहा था कि पिछड़ी जाति का जो व्यक्ति आई०ए०एस०,आई०पी०एस० या किसी अखिल भारतीय सेवा के लिये चुन लिया जाता है तो उसके बच्चे आरक्षण के हकदार नही हो सकते।

परन्तु सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले पर अमल कभी नही हो पाया। 1996 'अम्बेडकर शोध एवं शिक्षा संस्थान' के एक सर्वे के अनुसार पिछले दो दशकों में आई०ए०एस०, आई०पी०एस० तथा पी०सी०एस० जैसी परीक्षाओं में उन्ही दलित परिवार के बच्चे सफल हुये है जो पहले से इन सेवाओ में थे तथा अन्य सरकारी योजनाओं के लाभों पर भी इस वर्ग ने 86.4% हिस्से पर कब्जा कर लिया है[42]। प्रशासनिक सेवाओं में किसी भी ग्रामीण क्षेत्र का दलित व्यक्ति सफल नही हो पाया है। यह सर्वे रिपोर्ट पिछले आधा दशक के अनुसूचित जाति, जनजाति विकास पर कुछ विशेष क्षेत्रों के सर्वे पर केन्द्रित है। अतः स्पष्ट है कि दलितों के विशिष्ट व परजीवी वर्ग अस्तित्व में आ गये। कितने दलित है जो आरक्षण से लाभान्वित हुये है ?

यदि क्रीमी लेयर (चिकनी परत) को हटाने की प्रक्रिया सूझ बूझ के साथ चलायी जाती रहे तो इस

41. 'आरक्षण क्रीमी लेयर' के लिए ? (लेख) कृष्णसिंह, समकालीन जनमत, अक्टूबर 1995 पेज नं० 6
42. 'नवभारत टाइम्स' - 1998

आरक्षण से पूरे दलित वर्ग का भला होगा और कालान्तर में आरक्षण व्यवस्था के स्वतः समाप्त होने की सम्भावना भी बन सकेगी।

इस लिये जरूरी है कि सरकारी नौकरियों में आरक्षण के सिद्धान्त को मानते हुये अगडे तथा पिछड़े मिल कर उन नीतियों और कार्यक्रमों के खिलाफ लड़ाई छेड़े जो अवसरो को सिकोड़ता हो और ऐसी नीतियों के लिये संघर्ष करे जो अवसरो का विस्तार करता है।

आरक्षण के द्वारा निश्चित रूप से दलितों के बीच एक मुखर मध्यम वर्ग के उद्‌भव के लिये भौतिक आधार प्रदान किये है। तार्किक रूप से किसी भी समाज में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में मध्यम वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। फिर भी दलितों के मध्य से एक संगठित मध्यम वर्ग का उभार अभी कई और दशक ले सकता है शिक्षा के क्षेत्र में राज्य छात्रवृत्तियों, कई तरह के उन्मुक्तियों तथा कुछ हद तक नामांकन में आरक्षण का प्रावधान है। यद्यपि परिणात्मक रूप में यह सहयोग नगण्य हो रहा है, फिर भी इसने दलितों के उत्थान में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है।

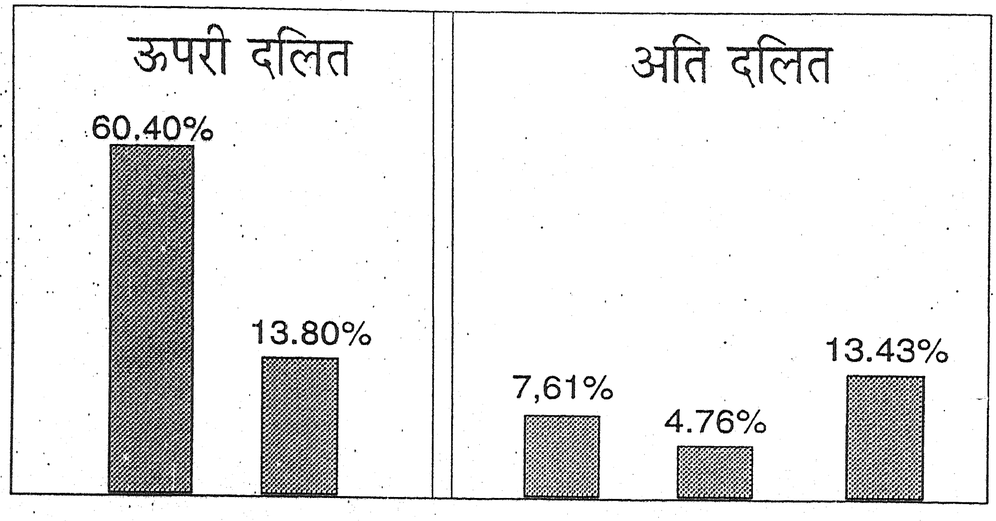
उदाहरण के लिये प्राथमिक स्तर से मैट्रिक तक राज्य सरकारें छात्रवृत्ति तथा आर्थिक सहयोग की देख रेख करती है। लेकिन सरकार यहाँ एक निश्चित आय सीमा निर्धारित करती है, जिसके परिणाम स्वरूप कभी कभी तृतीय श्रेणी स्तर के दलित कर्मचारियों के बच्चे भी इस लाभ से वंचित रह जाते है। लोकप्रिय मान्यता के विपरीत यह आर्थिक सहयोग सभी अर्हता प्राप्त दलित छात्रों को मिलने के स्थान पर यह प्रावधान कक्षा के कुछ छात्रों तक ही सीमित है। अधिकांश राज्यों में छात्रवृत्ति की मात्रा भी नगण्य ही है। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश में छात्रववृत्ति की यह दर प्राथमिक स्तर पर 12 रूपये प्रतिमाह ही है। साथ ही कक्षा में चाहें जितने भी दलित छात्र क्यों न हो केवल 14 छात्र ही इस प्रावधान का लाभ उठा सकते है।(43)

---

43. 'विश्वासघात'–चन्द्रभान प्रसाद 'स्वतन्त्र भारत में दलितों के लिए क्या किया' पेज नं० 18

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि पिछड़े वर्ग की किसी खास जाति और खास तबके को ही आरक्षण का लाभ मिल रहा है। बिहार और उत्तर प्रदेश दोनों जगह सत्ता से सामाजिक–आर्थिक सुविधायें बटोरने की होड़ में खुद पिछड़ो के अन्दर मतभेद हुये है। और वे समझ गये है कि आरक्षण अब एक राजनीतिक हथकन्डा साबित हो रहा है जिसे प्रत्येक दल दलितों के हित को हाशिए पर रख अपने अपने तरीके से प्रयोग में ला रहा है।

अतः अन्त में हम कह सकते है कि दलितों को आरक्षण से भौतिक उपलब्धि भले ही मिल गयी हो, पर वह आरक्षित के लेबल से छुटकारा नही पा सके है। आरक्षित कोटे के अधिकारी हीन भावना से ग्रस्त रहते है और दूसरे भी उन्हे उसी दृष्टि से देखते है। उनकी काबिलियत को किनारे रख कर इस बात पर पहले ध्यान दिया जाता है कि वो आरक्षण कोटे से है। हमारे भीतर आत्म बल बुद्धि के विकास से ही पैदा होता है। अतः दलितों में बुद्धिजीवी वर्ग आरक्षण के सहारे आगे बढ़ने में विश्वास रखने का पक्षधर नही है। क्याकि आरक्षण के कारण उसकी वास्तिविक योग्यता को दर किनार कर दिया जाता है।



उत्तर प्रदेश की कुल दलित जातियों में ऊपरी दलित और अति दलित

उत्तर प्रदेश की कुल आबादी में दलितों का प्रतिशत करीब 21 है इसमें 12.7 चमार और 2.9 पासी है। जिन्हे अभी तक प्रदेश की सरकार दलितों का ऊपरी हिस्सा मानती है जिन्हे अति दलित या महादलित की श्रेणी में रखा जा रहा हैं उनमें धोबी और बाल्मीकि है जो कुल आबादी में क्रमशः 1.6 और 1.0 प्रतिशत है। इनके अलावा बच्चे 2.8 प्रतिशत अति दलितों मे करीब 65 जातियां है। इनकी शिनाख्त काफी पहले खुद डा० भीम राव अम्बेडकर ने की थी।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री राज नाथ सिंह ने अति पिछड़ों और अति दलितों को अलग से आरक्षण की घोषणा करके मण्डल के तार को एक बार फिर झन–झना दिया है। अब देखना यह है कि अब इसकी अनुगूंज उत्तर भारत में कहाँ कहाँ सूनाई देती है यह तो आरक्षण में ही आरक्षण की राजनीति है। हांलाकि यह सच है कि सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धों की दृष्टि से अति पिछड़ी जातियां चेतना के स्तर पर पशो पेश की स्थिति में रही है परम्परागत सामाजिक संगठन में अति पिछड़ी जातियां शूद्र श्रेणी में आती है। लेकिन इनमें अधिकांश जातियां सास्कृतिक रूप से द्विजों से ज्यादा नजदीक रही है।[44] जिसका प्रमुख कारण है जजमानी प्रथा, यहां जन्म विवाह या मृत्यु

---

44. चन्द्रभान प्रसाद (लेख) 'जय पराजय की दुधारी तलवार' उदघृत राष्ट्रीय सहारा शनिवार अगस्त 2001

जैसे अवसरों पर होने वाले कर्मकांडो में ब्राम्ह्यणों की उपस्थिति आवश्यक होती है वही नाई, लौहार, बढई, कंहार, कुम्हार, माली आदि की उपस्थिति भी आवश्यक होती है इस अनूठी परम्परा के चलते सामाजिक रूप से विलग होने के वाबजूद भी सांस्कृतिक रूप से दस्तकार जातियां द्विजों के आधिक नजदीक रही है।

जनसांख्यिकी रूप से संकेन्द्रित आबादी न होने के कारण, अति पिछड़ी जातियों का एक भौगोलिक राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी ताकत नही बन पाती। परिणाम यह कि अति पिछड़ी जातियां सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से असंगठित रही इसलिये इनकी बर्बादी पर कोई आंसू नही बहाता।

राष्ट्रीय अनु० जाति आयोग ने खास तौर से बाल्मीकि समाज ने शिकायत की है कि आरक्षण का लाभ चमार जातियां ही उठा रही है अतः हमें अलग से आरक्षण दिया जाये। केन्द्रीय स्तर पर यह प्रस्ताव स्वीकार नही किया गया। पर उ० प्र० में इनकों आरक्षण देने की कार्यवाहो पूरी हो गयी 31 अगस्त को हुकुम सिंह सामाजिक न्याय समिति की रिपोर्ट आ गयी।[45]

---

45. दैनिक जागरण, शनिवार 1 सितम्बर 2001

(D) दलित जागरण व सामाजिक तनाव

3 जून 1995 को रात्रि ग्यारह बजे दलित वर्ग की महिला मायावती को उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री की शपथ दिलायी गई । यह एक ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन था जिसके द्वारा दलितों को खोया हुआ सम्मान तो वापस आया ही साथ शासन और प्रशासन में उनकी भागीदारी का सपना भी साकार हो गया । यह दलित जागरण का सबसे बड़ा और जीता जागता उदाहरण है ।

डा० अम्बेडकर ने कहा था कि 'हमारी सरकार ऐसी होनी चाहिए, जिसमें सत्ताधिकारी देश के सर्वाधिक हित के प्रति पूर्णतयः आस्थावान हो । हमारा यह अनुभव है कि अपने असन्तोष को जिस सीमा तक हम स्वयं दूर कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं कर सकता और हम उसे तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक हमारे हाथ में राजनीतिक शक्ति नहीं आ जाती ।"[45] इस तरह मायावती के मुख्यमंत्री बनने पर पूरे हिन्दुस्तान में सामाजिक परिवर्तन को एक नई दिशा मिली ।

वैसे दलित जागरण के नाम पर मुझे दो धारायें स्पष्ट नजर आ रही हैं । एक तो वो है जो यथार्थ में दलितो को इन्सान की शक्ल में ढालना चाहती है और उन्हे समाज की मुख्य धारा में प्रवाहित करना चाहती हैं। दूसरे वो लोग हैं जो स्वार्थ सिद्धि के लिए दलित जागरण का स्वांग रच रहे हैं । इस श्रंखला में वह राजनेता हैं जो जाति आधार पर अपने दलों का निर्माण कर रहे हैं और विधानसभा तथा लोकसभा में अपनी उपस्थिति दर्ज करने में लगे हुये हैं और अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए मंचों से तो दलित चेतना की बात करते हैं लेकिन साथ ही दलितों में ऐसे आक्रोश का निर्माण कर रहे हैं जो समाज में वैमनस्य फैला कर राष्ट्र और समाज के लिए घातक सिद्ध हो रहा है ।

---

45. उत्तर प्रदेश संदेश :– मार्च – जून 1995 'सम्पादकीय', पेज नं० 1

मायावती दलितों के नाम पर राजनीति कर रही है मनुवादियों को, सवर्णो को गाली दे कर उनकी राजनीति तो ऊँची उठ चुकी है परन्तु सामाजिक तनाव जोरों पर फैल चुका है । उच्च वर्ग की इस तनाव के चलते दलित वर्ग के प्रति घृणा और बढ़ गई है तथा वो दलितों के प्रति हिंसक भी हो चला है । इसका अन्दाजा पिछले कुछ साल के आँकड़ों से लग सकता है । देश भर में 1955 में 180, 1956 में 481, 1957 में 492, 1958 में 489, 1968-69 में 1908, 1969-70 में 2522, 1977 में 10859, 1978 में 15041, 1979 में 13832, 1980 में 13727, 1981 में 14151, 1982 में 14996, 1983 में 14818, 1984 में 16573, 1985 में 15011, 1986 में 15416, 1989 में 15799, 1990 में 17735, 1991 में 18575, 1992 में 18925, तथा 1993 के पहले दो महीनों में 1943 वारदातें दर्ज की गई थीं । यानि 1955 में पूरे साल में जितनी वारदातें हुई 38 साल बाद दो महीने में उससे इस गुना ज्यादा वारदातें हो गयीं ।[46]

इस प्रकार हम इस आँकड़े के आधार पर कह सकते हैं कि जैसे–जैसे दलित जागरण हुआ है, सामाजिक जड़ता टूटी है। इससे वर्ग व जाति संघर्ष की धार तेज हुई है और समाजिक तनाव उसकी स्वभाविक परिणिति है।

कांशीराम चाहते थे कि वो दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों की विशाल राजनीतिक शक्ति के आधार पर वह भारत की शासन–सत्ता सवर्णो से छीन कर बहुजनों के हाथ में दे देंगे। पर कांशीराम भारतीय समाज के इस यथार्थ को भूल गये कि भारत में पर्याप्त सुधार के बिना कोई राजनीतिक परिवर्तन सम्भव नहीं है । कांशीराम लगातार सवर्णवाद के खिलाफ संघर्ष करते रहे । उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के बहुत कार्यक्रम चलाए, पर सच तो यह है कि उन कार्यक्रमों का स्वागत सिर्फ दलितों ने किया, पिछड़ों ने नहीं । सामाजिक परिवर्तन का स्वागत पिछड़े क्यों करते? हिन्दु समाज व्यवस्था में वे ब्राह्मणों के नीचे जरूर हैं, पर दलितों से ऊपर हैं । कांशीराम ने इस श्रेणीगत असमानता को मिटाने के कार्यक्रम चलाए । उन्होंने सबसे नीचे दबे पड़े दलितों को ऊपर

---

46. हरिजन से दलित – (लेख) 'कानूनों और कार्यक्रमों के बावजूद' – नीलम गुप्ता, पृष्ठ नं० 50

उठा कर सब को सबके बराबर लाने का आन्दोलन चलाया। पिछड़े ब्राह्मण के बराबर होना चाहते थे, परन्तु दलितों को अपने बराबर लाने को तैयार नही है। इसी लिये उन्होने समाज सुधार को पसन्द नही किया। और दलितों को दलित बनाये रखने के लिये ब्राह्मणों के नीचे रहना ही स्वीकार किया।(47)

कांशीराम की ब्राह्मण विरोधी विचार धारा का सार यह है कि भारतीय समाज एक सोपान वादी समाज है और इसके शीर्ष पर ब्राह्मणवादी सवर्ण बैठे है। उन्होने सदियो से बहुजन समाज (दलितों, पिछड़ो और अल्पसंख्यको) को मानसिक और सामाजिक रूप से अपना दास बना रखा है। उनके श्रम और आर्थिक शोषण के जरिये सवर्णो ने अपनी सत्ता हर क्षेत्र में कायम कर रखी है। भारतीय समाज को कांशीराम सीधे तौर पर दो हिस्सो में बांटते है। सवर्णो (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) को वह अल्पजन समाज की संज्ञा देते है, जबकि दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक उनके बहुजन समाज के घटक है। अपने भाषणों और साक्षात्कारों में कांशीराम अपनी इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताते है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपनी इस सत्ता को कायम रखने के लिये बहुजन समाज को छैः हजार जातियों में कर रखा है। इन छैः हजार जातियों को संगठित करके ही ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को समाप्त किया जा सकता है। और इसलिये बहुजन समाज पार्टी लगातार दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक समीकरण बना कर राजनीतिक सत्ता पर काबिज होने की रणनीति पर काम कर रही है।

कांशीराम की राजनीति उनकी कार्यशैली का विश्लेषण करने पर एक बात सामने आती है कि उनकी विचार धारा में भौतिकता का अभाव है वो ब्राह्मणवादी व्यवस्था के निषेध की बात तो करते है पर दलितों के विकास हेतु बसपा के पास कोई स्पष्ट कार्यक्रम नही है। दलित समाज में व्याप्त घोर अशिक्षा दूर करने के लिये बसपा ने कोई व्यापक शिक्षा अभियान अभी तक नही चलाया न ही भविष्य में कोई ऐसा बड़ा शैक्षिक अभियान चलाने की कोई योजना है। उ०प्र० में सरकार में

47. 'जातिवाद का परिणाम है बसपा का विभाजन' (लेख) कंवल भारती, अमर उजाला 11 नवम्बर 1995

शामिल होने के बावजूद दलित शिक्षा आन्दोलन की दिशा में कोई ठोस कदम अभी तक नही उठाया गया है। इसी तरह दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने, विभिन्न दलित और पिछड़ी जातियों के बीच व्याप्त जातिवाद, परस्पर भेदभाव को दूर करने और आपस में वैवाहिक सम्बन्ध आदि के लिये कोई व्यापक सामाजिक सुधार अभियान भी नही चलाया गया है।

जाति विहीन समाज की स्थापना के लिये कांशीराम ने जिस जातीय चेतना की राजनीति को आधार बनाया है, उसमें जातीय आग्रह ही सबसे प्रमुख अतंर्विरोध सिद्ध हो रहा है। उ०प्र० में सपा+बसपा सरकार के सामने यही सबसे बड़ी चुनौती है और यही अवशर भी है जब इस अन्तर्विरोध को हल करने का सार्थक प्रयास किया जा सकता है। लेकिन इसके लिये कांशीराम को अपनी विचार धारा को व्यापक बनाना होगा। सदियों पुरानी मानसिक दासता और हीन भावना से मुक्ति के लिये दलित उभार के लिये जातीय चेतना का उपयोग एक रणनीति के तहत तो उचित है, लेकिन इस जातीय उभार को जातीय घृणा और वैमनस्य नही बनने देना भी उतना ही जरूरी है।

हिन्दू सांप्रदायिकता को ब्राह्मण, बनिया जातिवाद के रूप में जो लोग नही देख पा रहे थे अब उनकी आँखें खुलनी चाहिए। सपा–बसपा शूद्र जातिवाद ने हिन्दू सांप्रदायिकता को प्रतिहत कर दिया तो कैसे कर दिया ? इसलिये कि यह साम्प्रदायिकता खुद शूद्रेतर जातिवाद पर आधारित थी। यानि दलित जातिवाद ने ब्राह्मण–बनिया जातिवाद को रोक रखा है। हिन्दू साम्प्रदायिकता को इस रूप में समझने का एक फायदा होगा। सारे धर्म निरपेक्षवादियों का ध्यान इस तरफ जायेगा कि हिन्दू धर्म व हिन्दुत्व को गाली देने या फासीवाद का खतरा बनाने से साम्प्रदायिकता नही मिटेगी। भारतीय समाज की जातीय व्यवस्था और सामाजिक विषमता को तोड़कर ही साम्प्रदायिकता की शक्ति को क्षीण किया जा सकता है। लगभग सारे जाने माने धर्म निरपेक्षतावादी उच्च जाति के लोग है और उनका एक बड़ा हिस्सा दलितों के उत्थान को पसन्द नही कर रहा है। इसे जातिवाद कहकर जाति की समस्या को भूल जाता है इसलिये उपर्युक्त प्रतिपादन महत्वपूर्ण है। धर्म निरपेक्षतावादी द्विज अपने अर्न्तविरोध को समझें।

जब तक दलित अपनी चेतना में ब्राह्मण विरोधी नही है, तब तक साम्प्रदायिकता वादी नेतृत्व उसका इस्तेमाल मुसलमानों के विरूद्ध कर लेगा। ब्राह्मणवाद विरोधी चेतना बढ़ने के साथ साथ दलितों की उपयोगिता साम्प्रदायिकता के लिये कम हो जायेगी। शूद्र अतिशूद्र गठबंधन में ब्राह्मणवाद का विरोध निहित है। इसलिये यह गठबंधन स्वभावतः गैर साम्प्रदायिक होगा।

जातियों–साम्प्रदायों में खण्ड खण्ड विखण्डित और विचार धाराओं के ग्लैमर या सम्मोहन में फसे अधिकांश राजनीतिक दल अपनी धार खो चुके है। डर है कि कहीं ये आने वाले दिनों में निष्क्रिय राजनीतिक प्रक्रिया मात्र बनकर न रह जाये। अतः आवश्यकता है कि ये जन सामान्य की समस्याओं और स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक के मुद्दों के लिये संघर्ष करने की संस्कृति अपनाये। संघर्षो की राह से गुजर कर विचार धाराओं की मंजिल आसानी से मिल सकती है।[48]

बीते एक दशक में दलितों के जीवन में आया यह बदलाव इस सीमा तक पहुँच चुका है कि अब दलित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सवालों पर सवर्णो के साथ कोई समझौता करने को अपने सर्वनाश के रूप में देखते है। दलितों और सवर्णो के बीच पैदा यह तनाव दलितों को राजनीतिक विकल्प के रूप में बसपा के पास बर बस ढकेल रहा है। दलित समाज की एक तरह से फ़िलहाल बसपा मजबूरी बन चुकी है, क्योंकि वे सवर्णो के भावी हमलों से बचने के लिये बसपा को एक सुरक्षित शिविर मान रहे है। किसी और राजनीतिक दल को बसपा अपना शुभचिन्तक मानने को तैयार नही है क्योंकि एक तो यह राजनीतिक दल दलितों के सवाल को लेकर कोई जमीनी अभियान भी नही चला रहे है। दूसरे अपने जातीय दुराग्रह से वे बांहर भी नही आ पा रहे हैं।[49]

---

48. 'समीकरणों की राजनीति : विकल्प की तलाश' (लेख) डा० सुदामा सिंह, दैनिक आज
49. 'फिलहाल बसपा मजबूरी है, दलित समाज की' (लेख) बृजबिहारी, स्वतन्त्र भारत 23 मार्च 1996 शनिवार

सवाल यह पैदा होता है कि दलित जागरण से सामाजिक तनाव क्यों ? दरअसल दलित राजनेता अपनी राजनीति को आगे बढ़ाने के लिये दलितों में ऐसे आक्रोश का निर्माण कर रहे है, जो राष्ट्र और समाज के लिये घातक है। जातीय उन्माद इन नेताओं का मुख्य आधार है। पुरानी बातों की याद दिलाकर दलितों में इस तरह की भावना उत्पन्न कर रहे है जो समाज में तनाव पैदा करती है, अगड़े पिछड़ों की लड़ाई उत्पन्न कर रही है। कभी आरक्षण हित की बात करके दलित को उन्मादी बनाते है, तो कभी बुजुर्गो पर किये अत्याचार का हवाला देकर दलितों को आन्दोलित कर रहे है। राजनेताओं की इस प्रवृत्ति से न देश का हित है और न दलितों का। ये राजनेता दलितों को आक्रोशित कर के एक तरफ तो अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे है और दूसरी तरफ अपने प्रतिद्वन्द्वियों से सत्ता का सौदा कर रहे है। ये सौदा उन्ही से हो रहा है जिनके विरूद्ध दलितों को आक्रोशित किया करते है। मायावती की रणनीति इसका ज्वलन्त प्रमाण है। कभी तो वे मनुवादियों को गाली देकर डी०एस०फोर० का नारा लगवाती है तो कभीं कलराज मिश्र व लालजी टंडन जैसे सवर्णो को राखी बांधकर भाई का रिश्ता कायम करती है। और राजनीतिक नाटक विफल होने पर बेइज्जती का इल्जाम लगाती है। कभी बहुजन की नेता बनती है तो कभी अपने को सर्वजन का नेता साबित करती है। ऐसी दुहरी नीति से दलितों का भला कम हो रहा है और समाज में तनाव ज्यादा फैल रहा है। डा० अम्बेडकर से लेकर किसी भी महापुरूष (जो दलित जागरण के पुरोधा कहे जा सकते है) ने उन्माद के रास्ते चलकर दलित जागरण का प्रयास नही किया। उनका मानना था कि मानवता वादी और समता मूलक रास्ते पर चल कर ही दलितों को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है।

यह सच है कि सदियों तक श्रेष्ठता बोध के अंहकार से ग्रस्त सवर्ण समुदाय को दलितों पिछड़ों का यह उभार अपनी सामाजिक सत्ता के लिये एक खतरा महसूस होगा और उसका जातीय अंहकार आसानी से इसे स्वीकार भी नही करेगा। इसलिये जातीय संघर्ष की परिस्थितियाँ भी बनेगी लेकिन यदि बसपा नेताओ ने विपक्ष और सत्ता के व्यवहार के अंतर की व्यवहारिकता को नही समझा तो संघर्ष और बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में बसपा का दलित उभार जातीय संघर्ष में उलझ कर रह जायेगा और जाति विहीन समाज का उसका लक्ष्य पूरा होने के स्थान पर समाज में जातिवाद और मजबूत

हो जायेगा। इसलिये कांशीराम और उनके सहयोगियों को इस दिशा में दक्षिण अफ्रीका के अश्वेतों से सीख लेते हुए अपना दृष्टिकोण अधिक उदार और सर्वग्राही बनाना होगा साथ ही सवर्णो को भी इस सामाजिक परिवर्तन को सहजता से स्वीकारते हुये अपनी मानसिकता बदलनी होगी।

अष्टम अध्याय

दलित राजनीति की सीमायें एवं अर्न्तविरोध

(A) सामाजिक सीमायें

(B) शैक्षिक एवं साहित्यिक सीमायें

(C) धार्मिक सीमायें

(D) आर्थिक सीमायें

दलित राजनीति की सीमाएँ एवं अर्न्तविरोध

मैंने तुम्हारे लिए जो भी किया है, वह बेहद मुसीबतों, अत्यन्त दुखों और बेसुमार विरोधियों का मुकाबला करके किया है। यह कारवां आज जिस जगह पर मैं इसे बड़ी मुसीबत के साथ लाया हूँ तुम्हारा कर्तव्य है कि यह कारवां आगे बढ़ता रहे बेशक कितनी रूकावटें क्यों न आयें। यदि मेरे अनुयायी इसे आगे न बढ़ा सके तो वे इसे यहीं छोड़ दे पर किसी भी हालत में पीछे न जाने दें। अपने लोगों से मेरा यही सन्देश है।[1] "डा० अम्बेडकर"

यह कटु सत्य है कि डा० अम्बेडकर की विरासत को दलित नेतृत्व ने मोटे तौर पर ठुकरा दिया है। यह सर्वमान्य है कि डा० अम्बेडकर ने समाज के दलित वर्ग के लोगों का शोषण और गिरते सामाजिक वातावरण के लिए जिम्मेदार तत्वों से मुकाबला करने के लिए प्रेरित व संगठित किया। दलितों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकारों के लिए सम्पूर्ण जीवन की आहुति दे दी। ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखें तो उनका सम्पूर्ण दलित आन्दोलन दलितों की अस्मिता की रक्षा से जुड़ा हुआ है। उन्होने समाज में स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, संयम और विवेक के मूल्यों पर आधारित दलित राजनीति का श्री गणेश किया।

तथ्य और आंकड़े गवाह है कि दक्षिण से लेकर उत्तर तक दलित राजनीतिक आन्दोलन विचलन बिखराव, मतभेद और पारस्परिक कटुता एवं शत्रुता का शिकार है दक्षिण भारत में रिपब्लिकन पार्टी गठन से उन्होने दलितों को उनकी अधिक शक्ति का अनुभव कराया। रिपब्लिकन पार्टी दलित राजनीति के अन्तरिक कलह के कारण पांच विभिन्न गुटों में बंट गई है।

1. प्रकाश राव अम्बेडकर गुट।
2. बी०सी० काबले गुट।

---

1. मुद्राराक्षस (लेख) दलितों को गुस्सा क्यों आता है गांधी पर"मार्च–अप्रैल1988 पृष्ठ 72

3. के० गिरीश गुट।

4. आर०एस० गवई गुट।

5. खोबरा गुट।

इस पाट्री के छठे गुट ने अपना नाम भारतीय दलित पेंथर परिवर्तित किया। इसके भी दो गुट हो चुके है। १. रामदास अथवाले गुट और २. नामदेव घासल गुट।[2] रिपब्लिकन पार्टी को अपनी राजनीतिक स्वार्थ के कारण नेताओं ने क्षेत्रीय पाट्री बना कर रख दिया संसद में इसका प्रतिनिधित्व न के बराबर रहा।

दलित समाज में अम्बेडकर जैसा नेता नही रहा जिसने अम्बेडकर की तरह दलितोत्थान में महत्वपूर्ण ढंग से कार्य करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की हो। उनके समकालीन जगजीवन राम जीवन पर्यन्त कांग्रेस से जुड़कर एवं सरकार में रह कर भी कुछ ठोस समाधान नही कर पाये। उनका दलित राजनीति के सन्दर्भ में अलग ही नजरिया था वह कहते थे कि " दलितों का विकास तभी सम्भव है जब वे सत्ता में हो। इसमें बने रहने के लिए सभी वर्णो का सहयोग जरूरी है। कांग्रेस एक मात्र पार्टी है जिसे सभी वर्गो का समर्थन प्राप्त है।[3] वे अपने को सभी वर्गो का नेता मानते थे और जीवन पर्यन्त सुरक्षित क्षेत्र से चुनाव लड़ते रहे। अब उनकी पुत्री मीरा कुमार दलित जातियों के कल्याण के लिए 'दलित चेतना संघ' नाम का एक संगठन बनाया है जिसके माध्यम से वह दलितों के मध्य अपनी पहचान बनाने को प्रयासरत है।

अम्बेडकर मिशन को आगे बढ़ाने की मुहिम लेकर वी०पी० मौर्य रिपब्लिकन पार्टी के माध्यम से चुनाव लड़े और अलीगढ़ संसदीय सीट से निर्वाचित हुए फिर बाद में कांग्रेस में शामिल हो गये। इसके बाद दलित राजनीति में कई दलित नेता उभरे जैसे– रामधन, चांदराम, योगेन्द्र मकवाना, रामविलास पासवान इत्यादि। डा० अम्बेडकर का "दलित एजेण्डा" बिल्कुल साफ था और

---

2. दैनिक जागरण साप्ताहिक परिशिष्ट - 3 अक्टूबर 1993 में प्रकाशित 'दलित राजनीति का विकृत रूप' (लेख)

3. पूर्वोक्ति

उसकी कीमत पर उन्हे कुछ भी मंजूर नही था। इसके विपरीत आज के दलित नेतृत्व में दलित एजेण्डा के प्रतिद लगाव कम और सत्ता के प्रति लगाव ज्यादा नजर आता है। कांशीराम ने 1978 में बामसेफ का गठन करके सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष शुरू किये। पहले यह आन्दोलन सरकारी कर्मचारी तक ही सीमित था लेकिन बाद में उन्होने डी० एस० फोर की स्थापना की और 1984 में पंजाब में विधान सभा चुनाव में अपनी स्थिति दर्ज करा दी। इस संगठन को चुनाव में सफलता नहीं मिली लेकिन कांग्रेस का आधार वोट दलित उससे कट गया। पंजाब के परिणाम देख उन्हाने 1984 में बहुजन समाज पार्टी का गठन किया। पार्टी के आधार को मजबूत करने के लिए उन्होने नारा दिया कि ठाकुर ब्राम्ह्यण, बनिया को बसपा का सदस्य नही बनाया जाएगा। इसका व्यापक असर दलित समुदाय पर पड़ा।

1984 में राजनीतिक दल बनाकर देश के सबसे बड़े प्रान्त उत्तर प्रदेश में बसपा की सरकार बन जाना निसन्देहः एक बड़ी उपलब्धि माना जायेगा। परन्तु सत्ता की खातिर यह पार्टी अपने मूल सिद्धान्तों से हट गई। मायावती दो बार मुख्यमंत्री बनी लेकिन पहले मुलायम सिंह बाद में भाजपा दोनों के साथ बसपा ने राजनीतिक सहकार किये जो निःसन्देह दूरगामी राजनीतिक लक्ष्यों का ध्यान में रखकर कम तात्कालिक सत्ता की लालसा से ज्यादा प्रेरित थे। दलित राजनीति ने अचूक अवसरवाद का परिचय दिया है। उनकी शक्ति सामायिक तौर पर भले ही बढ़ रही हो, परन्तु उनकी साख को धक्का लगा है।

डा० अम्बेडकर ने कहा था तुम महलों की इच्छा के लिए अपनी झोपड़ियां को छोड़कर कभी मत जाना।[4] लेकिन देखा गया कि जब जब दलित नेताओ का अवसर मिले तब तब उन्होने उसे स्वीकार करने में हिचकिचाहट नही दिखलायी। इसलिए दलित राजनीति सिद्धान्त हीनता और अवसर वादिता की ओर आगे बढ़ी है। यही कारण है कि दलित नेता अपनी आवाज दबंग तरीके से नही उठा पाता। आजादी के इतने वर्षो के बाद भी उनकी झोपड़ियों को आग लगायी जाती है उनकी

---

4. पूर्वोक्ति

महिलाओं को बेइज्जत किया जाता है। सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता या अवसर वाद के कारण उत्तर प्रदेश में दलितों की हत्यायों पर सरकार की बर्खास्तगी की मांग करने वाली बसपा विहार में दलित हत्याओं पर चुप रहती है। निसन्देह यह बसपा के लिए आत्मघाती कदम है।

आज बसपा नेतृत्व का निशाना ब्राम्ह्यण वाद पर केन्द्रित हो गया है वह अपने अधिकारों की लड़ाई समाज में जाति विद्वेष के विष बीज बोकर लड़ना चाहती है। लेकिन अम्बेडकर ने इस लड़ाई को प्रेम भाव से लड़ा था महात्मा ज्योतिबा फूले और गोपाल गणेश आगरकर के सन्त दर्शन एवं गौतम बुद्ध के करूणावाद को अपना कर अम्बेडकर जातिवाद के उदगम और स्वरूप की खोज करते हुएउसे समूल नष्ट करना चाहते थे। उनके जीवन भर के चिन्तन का लक्ष्य था जाति वाद की जड़ों में मट्ठा डालकर उसे मिटाने की तैयारी करना। वह इस देश की वशिष्ठ और वाल्मीकि की परम्परा को लड़ाना नही चाहते थे वरन् दोनों का एक दूसरे में विलय करना चाहते थे। यह चिन्तन आज भी मूल्यवान है लेकिन इसे दलित राजनीति नही अपना रही। आखिर दलित समुदाय को भी तो इसी समाज मे रहना है। अतः दलित नेतृत्व को दलित जागरण के साथ साथ एक न्यायपूर्ण और लोकतान्त्रिक समाज के निर्माण की भावभूमि के निर्माण का सार्थक प्रयास करना होगा।

आज दलित समाज को शिक्षित और संगठित बनाने की जरूरत है। अम्बेडकर का दलितों के लिए प्रमुख संदेश भी यही था। डा० अम्बेडकर ने अपने जीवन में जो भी कुछ हासिल किया था उसका एक बड़ा कारण उच्च शिक्षा थी और उनका विस्तृत अध्यवसाय था। वे जानते थे शिक्षित होकर ही दलित हिन्दू समाज से टक्कर ले सकते है। दलितों का संघर्ष केवल सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक संघर्ष नही है। यह वैचारिक संघर्ष है जो उनके व्यक्तित्व विकास की पूर्ण शर्त भी। शिक्षा के प्रसार में दलित नेतृत्व की रूचि वर्तमान में नगण्य है। यह सत्य है कि आधुनिक लोकतान्त्रिक समाज में सभी वर्गो के बीच शिक्षा का प्रसार करना सरकार का ही काम है लेकिन दलितों में साक्षरता के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना दलित नेतृत्व का कार्य है। परन्तु दलित नेतृत्व शिक्षित दलितों से डरता है वह चाहता है कि अनपढ़ दलित भेड़ की तरह उनके पीछे चलता रहें। डा० अम्बेडकर सबसे ज्यादा दुखी इस बात से ही थे कि शिक्षित व अशिक्षित दलितों के बीच दूरी

बढ़ रही थी।आज भी यह दूरी बरकरार है यदि शिक्षित दलित अपने समुदाय की विसंगतियों को समझते हुए अशिक्षित दलितों की उन्नति के प्रति सचेत रहता तो न केवल ये लोग शिक्षा के प्रति ज़ागरूक रहते वरन् संविधान का कानूनी कार्यक्रमों में जो दलित हित में प्रावधान है उनका बखूबी फायदा ले सकते थे। इस सन्दर्भ में दलित नेतृत्व भीइस शिक्षित दलितों की रचनात्मक भूमिका हेतु प्रेरित कर सकता है।

आज दलित राजनीति संकीर्णताओं का शिकार है। डा० अम्बेडकर केवल दलित समस्याओं के समाधान हेतु ही तत्पर नही थे वरन् राष्ट्रीय नेता थे। उन्होने भारत के विभाजन पर गहराई से मनन किया। भारतीय रूपये की समस्या पर लम्बा प्रबन्ध लिखा। विश्व की समस्याओं पर उनकी नजर बरांबर रहती। भारतीय संविधान के प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उनका चुनाव उनकी इन्ही विलक्षण योग्यताओं के कारण हुआ था। परन्तु आज का दलित नेतृत्व की दृष्टि देश और विश्व की समस्याओं से कुछ खास सरोकार नही रखतीं। देश का नागरिक होने के नाते जब तक वह अपनी विचार धारा को व्यापक नही करेगीं देश और समाज के हित में अपने सरोकारों को व्यापक नही करेंगी, तब तक वह अपनी बेहतरी के प्रयासों में पूर्णता सफल नही होगी।

जहां तक वर्तमान में दलित राजनीति और नेतृत्व का प्रश्न है, वह निश्चित रूप से अर्न्तर्विरोधों से ग्रस्त है। आज बसपा प्रमुख कांशीराम को 'दलितो का मसीहा' से विभूषित किया जाता है। यद्यपि उनकी आक्रामक शैली ने दलित चेतना का विस्तार किया लेकिन उनकी दलित राजनीति और कार्यशैली कई मायनों में सीमाओं और अर्न्तर्विरोधों से ग्रस्त है। जिनका सामयिक विश्लेषण अनिवार्य है।[5]

1. कांशीराम की विचारधारा में समग्रता एवं मौलिकता का आभाव है। उनकी राजनीति में ब्राम्ह्मणवादी व्यवस्था का निषेध तो है लेकिन बहुजन समाज को अपने सामाजिक अर्न्तर्विरोधों को हल करने में सहायता नही मिलती। दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, कुरीतियों विभिन्न दलित एवं पिछड़ी जातियों में व्याप्त जातिवाद परस्पर भेदभाव को दूर करने और आपस में वैवाहिक

5. विनोद अग्नीहोत्री (लेख) 'कांशीराम और उनकी बसपा' उधृत हरिजन से दलित पृष्ठ 86-87

सम्बन्ध आदि के लिए बहुजन समाज पार्टी के पास कोई स्पष्ट कार्यक्रम नहीं है।

2. देश की आर्थिक विषमता को बसपा जातीय आधार पर देखती है। यह पार्टी मौजूदा सामजिक–आर्थिक ढांचे के विरुद्ध तो है लेकिन सवर्णो की भूमि के अधिग्रहण और भूमिहीन दलितों में बांटने और उद्योगों पर दलित श्रमिकों के नियन्त्रण की बात नहीं करते।

3. बहुजन समाज पार्टी में आन्तरिक लोकतन्त्र का आभाव है। पार्टी नेतृत्व की कार्यशैली पूरी तरह व्यक्ति वादी और अधिनायक वादी है।

4. कांग्रेस, भाजपा, जनतादल और वामपंथी दलों को ब्राम्ह्यण वादी पार्टियां मानने वाली बसपा सत्ता की खातिर इन्ही से चुनावी तालमेल भी करती है। और इन्ही के समर्थन से सरकार भी बनाती है। सत्ता सुख के लिए वह अपने सिद्धान्तों की बलि चढ़ा देती है।

5. सदियों पुरानी मानसिक दासता और हीन भावना से मुक्ति के लिए दलित उभार के जातीय चेतना का उपयोग एक रणनीति के तहत तो उचित है लेकिन इस जातीय उभार को जातीय घृणा और सामाजिक वैमनस्य नही बनने देना भी उतना ही जरूरी है। आज प्रेम पर आधारित वैचारिक क्रान्ति की जरूरत है हिंसा, घृणा और अलगाववाद से दिल तो कट सकते है, वैचारिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यह बात बसपा नेता भुला बैठें है।

निःसन्देह आज की दलित राजनीति के अन्तर्विरोध एवं कमियों पर सटीक टिप्पणी डा० पी.एन. सिंह ने की है। उनके शब्दों में –

" आज की दलित राजनीति के पास सत्ता से बड़ा कोई सरोकार नहीं है वह इसके लिए चुप रहती है या अवसर वाद को सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करती है इसी कारण वह राजनीति समीकरणों की दृष्टि से अविश्वसनीय बनी है और राष्ट्रीय स्तर का इतना विराट संगठित जनमत नेतृत्वकारी भूमिका के लायक नहीं समझा जाता। जिस सामाजिक तबके से सामाजिक–राजनीतिक क्रान्ति की अपेक्षायें थी आज वह सत्ता की असफल बन्दरबाँट जातिवादी वर्चस्व और आरक्षण की लड़ाई तक सीमित है। "[6]

---

6. डा०पी.एन. सिह अम्बेडकर चिन्तन के समाजवादी आयाम उधृत समकालीन सोच (पत्रिका) पृष्ठ - 33 सित–दिस० – 2000

अतएव दलित राजनीति का सृजनात्मक आयाम का विकास तभी सम्भव है जब यह अपनी आन्तरिक विसंगतियों को समाप्त कर अम्बेडकर चिन्तन के मूल्यों को अपना कर दलित उभार को गुणात्मक विस्तार प्रदान करें। सिद्धान्त वादी मूल्यों पर चलकर लोगों की आस्था व विश्वास का प्रतीक बनें। जैसा कि किशन पटनायक जी ने लिखा है कि "शूद्र राजनीति को दिशाहीनता से बचाने का एक ही रास्ता है शूद्र राजनीति का तीसरा खेमा बनाये। लेकिन इसके लिए जाति की राजनीति को बदलना होगा। शूद्र राजनीति का सिलसिला जारी रखते हुए जातिवाद को गौण करना होगा, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व के तथा अन्तराष्ट्रीय सवालों पर अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण घोषित करने के साथ साथ इन सवालों पर कार्यक्रमों की निरन्तरता बनाये रखनी होगी ताकि यह एक विचारधारा का खेमा हो सके"

अतएव दलित राजनीति को अधिक उदार और सर्वग्राही बनाना होगा। अन्यथा दलित उभार जातीय संघर्ष में उलझकर रह जायेगा और जाति विहीन समाज का उसका लक्ष्य पूरा होने के स्थान पर समाज मे जातिवाद और भी मजबूत हो जायेगा। सत्ता प्रधान अवसरवादी राजनीति से ऊपर उठ कर दलित समाज के सम्पूर्ण शैक्षिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामजिक एवं राजनीतिक विकास के प्रयास करना होगा। दरअसल "सामाजिक शक्तिकरण औद्योगीकरण का विस्तार, शिक्षा का विस्तार, राजनीतिकरण के विकास का न्यायसंगत बंटवारा इत्यादि से अभिन्न रूप से जुड़ा है। आर्थिक स्वावलम्बन एवं शैक्षिक क्षमता के आभाव में असन्तुलित राजनीतिकरण होता है और शक्ति करण की प्रक्रिया विरूपित हो सामाजिक स्वस्थ्य के लिए अहितकर होती है।"[7] अतः दलितों का उत्थान तभी सम्भव है जब दलित नेतृत्व एक साथ सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्रान्ति के लिए प्रतिबद्धता प्रदर्शित करें और यह तभी सम्भव है जब वह अम्बेडकर के मानववादी मूल्यों, त्याग, शिक्षा, संगठन, संघर्ष, दायित्व, कर्तव्य, निष्ठा, संयम और साहस को अपनाकर एक सशक्त वैचारिक नेतृत्व प्रदान करते हुए सतत आन्दोलन की दिशा का मार्ग प्रशस्त करें।

---

7. पूर्वोक्ति पृष्ठ 32

(A) सामजिक सीमायें

आदर्श समाज का आधार सर्वव्यापी प्रेम है जहाँ निरपवाद रूप से राजा–रंक, छूत–अछूत, काले–गोरे और शोषक–शोषित का कोई भेद नही है। सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सभी की समान सहभागिता हो। करूणा, क्षमा, सदभाव एवं सहयोग इस समाज के आध्यात्मिक आधार हो। परन्तु दुर्भाग्यवश, हिन्दू समाज का गठन असमानता एवं अन्याय की नींव पर हुआ। जिसका आधार वर्ण व्यवस्था है। इस अमानवीय व्यवस्था ने समाज को द्विजों (ब्राह्यण, क्षत्रिय,वैश्य), शूद्रों (निचली जातियों) तथा पंचमों (अस्पृश्यों) में विभाजित किया है। इस वर्ण व्यवस्था में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्शों के लिये कोई स्थान नही हैं। इससे निरन्तर सामाजिक असमानता का पोषण और मानव की गरिमा का पतन हुआ है।

जधन्य असमानता पर आधारित इस जाति–व्यवस्था के कारण भारतीय समाज दो अढ़ाई हजार साल से एक सड़ा हुआ तालाब बना हुआ है। यह व्यवस्था जन्म लेते ही एक बच्चे को ब्राम्ह्यण और दूसरे को शूद्र बना देती है। इस व्यवस्था ने लम्बे समय तक हिन्दू समाज में शूद्र, अछूत तथा पददलित कहे जाने वाले लोगों पर अनेक निर्योग्यतायें लाद रखी थी। उन्हे मानव अधिकार प्राप्त नही थे। न वह पढ़ सकते थे और न ही शास्त्रों को सुन सकते थे। उन्हे पशु से निम्न जीवन जीने पर मजबूर कर दिया और सामाजिक स्तरों पर उनसे इन्सानी दर्जा छीन लिया गया। अस्पृश्यता का ऐसा माहौल था कि लोग जानवरों को छूना बुरा नही मानते थे परन्तु यदि किसी निम्न जाति के व्यक्ति से स्पर्श हो जाये तो उन्हे पाप लगता था। सम्पूर्ण दलित समाज सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं शैक्षिक गुलामी की जकड़न में था। इस वर्णवादी आर्थिक–सामाजिक उत्पीडन के तीखे एहसास की अभिव्यक्ति सरस्वती पत्रिका में 1914 में प्रकाशित इस प्रथम दलित कविता की निम्न पंक्तियों से होती है।

"हीरा डोम की कविता"

"हडवा, मसुइवा के दे हिया है हमनि कै
ओकरे का देहिया बमनवा(ब्राम्ह्यण)के बानी
औकरा के घरे–घरे पुजवा होखत बांटे
सगरे इकइवा भइले जजमानी
हमनी के इनरा के निगचे न जाइले जा
पांके में से भरि–भरि पियतानि पानी
से पिटि–पिटि हाय गोड तुरि दे ले
हमनी के इतनी काहे के हलकानी"[8]

अर्थात एक ब्राम्ह्यण की तरह मेरा (हीरा डोम) शरीर भी हड्डी और मांस का बना हुआ है। परन्तु उसकी तो घर--घर में पूजा और जजमानी होती है। और हम अगर भूल से भी कुए के पास चले जायें तो हमारे हाथ पैर तोड़ दिये जाते है। हम कीचड़ युक्त पानी पीने को मजबूर है। हमारा जीवन क्यों इतना अभिशप्त है।

आश्चर्य है कि गाय बैल एवं पेड़ पौधों को पूजने वाला हिन्दू समाज इनके प्रति इतना असहिष्णु क्यों था। सामाजिक बहिष्कार की इस यन्त्रणा ने दलित समाज को असमानता, अन्याय एवं परतन्त्रता की सीमाओं में बांध दिया। जैसे–जैसे इस मानव निर्मित समानता का बोझ बढा वैसे–वैसे इसके खिलाफ लोगों में असन्तोष भो बढ़ा। हमारे समाज सुधारकों एवं भारतीय संवैधानिक उपबन्धों एवं कानूनी कार्यक्रमों द्वारा अस्पृश्यता निवारण एवं दलितोत्थान हेतु महत्वपूर्ण कार्य किये गये है। ताकि इन्हे समाज की मुख्य धारा में वापस लाया जा सके। मनुष्य मनुष्य के बीच शुभ संम्बन्ध विकसित हो। और एक लोकतान्त्रिक समाज का निर्माण हो सके जहाँ स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व, विवेक, मानवीय गरिमा, न्याय सम्मत समाज के आधार बने।

---

8. समकालीन सोच (पत्रिका), हीरा डोम की कविता से उद्यृत पृष्ठ–49 सितम्बर – दिसम्बर 2000

प्रश्न यह है कि क्या दलित समाज को इन उदात्त संवैधानिक आदर्शों एवं कानूनी कार्यक्रमा से समाज में बराबर का स्थान मिल पाया है या उसकी स्थिति में आमूल–चूल सुधार हुआ है। तो यह सत्य है कि संविधान में दलित की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारणार्थ जिनमें अस्पृश्यता उन्मूलन, सामाजिक अन्याय, विविध प्रकार के शोषण से बचाव, धार्मिक संस्थाओं में प्रवेश, कुओं तालाबों को उपयोग हेतु जो उपाये किये गये। अन्य कल्याण कार्यक्रमों के अर्न्तगत अनुसूचित जाति की महिलाओं के लिये कल्याण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम, आवास हेतु भूमि एवं ऋण प्रदान करना, दलित बस्तियों का विद्युतीकरण, अनुसूचित जातियों के कल्याण हेतु कार्यरत गैर सरकारी संस्थाओं को अनुदान देने की व्यवस्था, आदि प्रयास अनवरत रूप से किये जा रहे है।

इन सबसे अवश्य दलितोत्थान में योगदान मिला है। लेकिन जातिवादी और सामन्तवादी व्यवस्था और विचार धारा के कारण दलितों को आज भी समाज में बराबरी का स्थान नही मिल पा रहा है। 21 वीं सदी में खड़े भारतीय समाज की एक वर्ग को अस्पृश्य समझने की सदियों पुरानी मानसिकता आज भी खत्म नही हुई है। छुआ–छूत आज भी हमारे समाज विशेष तौर पर ग्रामीण समाज, में मौजूद है।

सामाजिक व्यवहार में आज भी दलित उत्पीडन से सम्बधित हृदय विदारक घटनाएं घटित होती रहती हैं, जिससे 'बसुधैव कटुम्बकम्' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के उच्च आदर्शो पर प्रतिष्ठित भारतीय वैदिक संस्कृति लजा जाती है।

24 जनवरी 1978 को भारत के तत्कालीन रक्षामंत्री ने काशी में डा० सम्पूर्णानन्द की मूर्ति का अनावरण किया। इस पर कुछ लोगों ने टूक पर गंगाजल लाकर मूर्ति को पवित्र किया क्योंक वे रक्षामंत्री अछूत थे।[9] उस समय संविधान की धारा 17 धरी की धरी रह गयी और नागरिक अधिकार संरक्षण कानून 1955 की धारा 253 टुकुर–टुकुर ताकती रह गयी।

---

9. धर्मेन्द्र सिंह (लेख) 'दलित अतीत से वर्तमान तक'– दलित जन उभार, पेज न० 245

हमारी असहिष्णुता इनके प्रति कितने क्रूर है, इसके जीवित उदाहरण निम्न है।[10]

1. तमिलनाडू के तेजावुर जिले के वेद्दा मंगल गाँव में उच्च वर्गीय मुहल्ले के मुहल्ले ने एक महिला की शवयात्रा को घातक हथियार दिखाकर इसलिये लौटा दिया (11नवम्बर 1983) क्योंकि महिला हरिजन थी।

2. उत्तर प्रदेश में आगरा में एक हरिजन बारात पर लाठियों से हमला किया गया क्योंकि दूल्हा घोड़ी पर बैठा था। सवर्णो के मुहल्ले से वह घोड़ी पर बैठकर निकले, यह कैसे हो सकता है।

3. 25 मार्च 1993 को मैसूर (कर्नाटक) जिले के नंजनगढ़ ताल्लुड़ के वेदनवाल में तीन हरिजनों की हत्या कर दी क्योंकि वह सिद्देश्वर मन्दिर में जाने की मांग कर रहे थे

ये तथ्य स्थापित करते है कि सवर्णो में अपने को श्रेष्ठ समझने की मानसिकता का अभी अंत नही हुआ है।यही कारण है कि जब निम्न समझने वाले इस वर्ण का कोई हिस्सा समाज में बराबरी पर आता दिखाई पड़ता है, तो सवर्ण समाज क्रूर हो जाता है।

बढ़ते हुए आधुनिकीकरण, शहरीकरण एंवं मध्य वर्गीय जीवन के बढ़ते हुए वृत में शामिल होने के बाद भी दलित की जाति उसका पीछा कर रही है। जिसका बहुत ही यथार्थपूर्ण वर्णन– ओम प्रकाश बाल्मीकि ने एक दलित की आत्म कथा में किया है।

"मै और मेरी पत्नी चंदा राजस्थान भ्रमण के बाद चन्द्रपुर महाराष्ट्र लौट रहे थे। ट्रेन में पास की सीट पर संभ्रात पति पत्नि भी यात्रा कर रहे थे। बातचीत में संभ्रात व्यक्ति ने बतलाया कि वह अधिकारी है। सहज वातावरण में राजस्थान की खूबसूरती पर चर्चा हो रही थी। अचानक बातचीत का विषय बदला और अधिकारी की पत्नि ने पूछा "कौन जात" हो। मेरी पत्नी का चेहरा फक्क पड़ गया और वह मेरी ओर देखने लगी। मैने उत्तर दिया 'भंगी' शब्द सुनते ही सन्नाटा छा गया................। रास्ते भर संवाद नही हुआ...........। इसके बाद बहुत तकलीफ देह हो गयी यात्रा।[11]

---

10. नीलम गुप्ता (लेख) 'कानूनों और कार्यक्रमों के वावजूद' पृष्ठ न० 42 'उधृत हरिजन से दलित' संपादक राज किशोर

11. ओम प्रकाश वाल्मीकि–(लेख) एक दलित की आत्मकथा पृष्ठ 15 उदघृत हरिजन से दलित सम्पादक–राजकिशोर

अतएव धार्मिक जड़ता छुआछूत, पुरोहिवाद एवं कूप मंडूक मानसिकता को केवल कानून से नही बदला जा सकता, इसके लिये हमें सदियों पुरानी जातिवादी, सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ लड़ना होगा। इसमें महती भूमिका दलित समाज को ही निभानी होगी। आज दलित जाति के नाम पर बहुत घबराता है, उसे घबड़ाना नही चाहिए बल्कि जाति तोड़ने का संकल्प करना चाहिए। क्योंकि यही एक सामाजिक श्रेणी है जो व्यवस्था के उदय से ही व्यवस्था के विरूद्ध लड़ती रही है। तथा यह वही सामाजिक श्रेणी है जो व्यवस्था के हर लाभों से वंचित भी रह रही है। इसीलिए व्राम्ह्मण वादी व्यवस्था के पतन का लाभ इसी वर्ग को मिलेगा। व्यवस्था का विरोध इस वर्ग की ऐतिहासिक विवशता है और दायित्व भी। व्यवस्था में परिवर्तन हेतु मानवीय गरिमा, स्वतन्त्रता एवं समानता पर आधारित समता मूलक समाज के निर्माण हेतु इन्हे अम्बेडकर के सामाजिक न्याय के आदर्शो को अपनाना होगा। अर्थात उनका विश्वास था कि दलित मानव का उत्थान "शिक्षा संगठन और आन्दोलन"(12) से ही सम्भव है। क्योकि शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने को प्रबुद्ध बनाकर सामाजिक शक्तियों को संगठित कर अन्याय शोषण एवं बुराइयों से लड़ सकता है। तभी वह सामाजिक मानवता वाद की स्थापना में सफल होगा अर्थात जहाँ मनुष्य निर्मित बनावटी एवं अनावश्यक सामाजिक बंधनों एवं नियमों का अभाव होगा और स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय का सभी समान उपभोग करेगें। तभी हमारा लोकतन्त्र अपने वास्तविक स्वरूप में चरितार्थ होगा क्योंकि सामाजिक लोकतन्त्र के बिना यह बेइमानी है। जैसा कि डा० अम्बेडकर ने कहा है "यदि राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार सामाजिक लोकतन्त्र नही है तो वह नष्ट हो जायेगा। सामाजिक लोकतन्त्र का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ उस जीवन पद्धति से जहाँ स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व को मान्यता प्राप्त हो। जहाँ ये अलग अलग न माने जाकर एक त्रिमूर्ति के रूप में माने जाते है। यह मूर्ति एक प्रकार का संघ होता है। इस अर्थ में यदि एक दूसरे से अलग कर दे तो लोकतन्त्र निष्फल हो जायेगा। न स्वतन्त्रता को समानता से अलग किया जा सकता है न समानता को लोकतन्त्र से। इसी प्रकार स्वतन्त्रता और समानता को भी बन्धुत्व से विलग नही किया जा सकता।"(13)

---

12. डा० डी० आर० जाटव – "डा० अम्बेडकर का मानववादी चिन्तन पृष्ठ 9

13. पूर्वोक्त पृष्ठ 169

(B) शैक्षिक एवं साहित्यिक सीमाएं

शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की कुंजी है जो व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरन्तर एवं सामाजस्य पूर्ण विकास करके उसके जीवन की उत्कृष्ट एवं प्रगतिशील बनाती है। भारतीय शिक्षा का बीजारोपण सुदूर अतीत में आज से लगभग ४००० वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु उसके क्रमबद्ध स्वरूप के दर्शन वैदिक काल के आरम्भ में होते है इस समय शिक्षा ब्राम्ह्यणों के अधिपत्य में थी। अतः वैदिक कालीन शिक्षा को ब्राम्ह्यणीय एवं हिन्दू शिक्षा कहा गया। यह शिक्षा व्यवस्था अन्यायपूर्ण एवं रूढ़िबद्य थी जिसमें शूद्रों और स्त्री शिक्षा की घोर उपेक्षा की गयी। वास्तव में जातिप्रथा ने जहाँ एक ओर शोषक वर्गो को उत्पादक श्रम से अलग किया वहीं शोषित वर्ग शूद्र को शिक्षा के अधिकार से वंचित किया। मध्यकाल में इन शूद्रों को अस्पृश्य कहा जाने लगा और कालान्तर में इन्हे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं शैक्षिक नियोग्ताओं तथा अमानवीय शोषण का शिकार बना दिया गया। वास्तव में अज्ञानता और अन्धविश्वास जनता की अपनी गलतियों का परिणाम अथवा बहुप्रचारित जनसंख्या की बृद्धि का अभिशांप नहीं है बल्कि सस्ते श्रम के लिए जाति व्यवस्था को कायम रखने की साम्राज्यवादी सामन्तवादी ब्राम्ह्यणवादी शक्तियों की सुनियोजित एतिहासिक साजिश का परिणाम रही है। इसी साजिश का पुराना रूप तो 'मनुवादी' अथवा सामन्तवादी शिक्षानीति में दिखलायी पड़ता है। जिसका उद्‌देश्य मेहनतकश जनता को शिक्षित होने से रोकना था। ताकि उसके मस्तिष्क में अज्ञानता और अंधविश्वास बना रहे। वास्तव में इसी षंडयन्त्र की अभिव्यक्ति पुरानी शिक्षा से होती है।[14]

स्वतन्त्रता पूर्व ब्रिटिश शासन काल में पाश्चात्य शिक्षा एवं मूल्यों, विज्ञान के प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, राजनीति आन्दोलन एवं आधुनिकीकरण आदि के विकसित परिवेश में लोगों में दलितों के साथ भेदभाव एवं उत्पीडन के विरूद्ध एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इसी परिवेश में कई समाज सुधारकों ज्यातिबा फूले, राजाराममोहन राय, केशव चन्द्रसेन, रामकृष्ण

---

14. रविशंकर निशान्त –"देशवासियों से दो बातें" पृष्ठ 3-4

परमहंस एवं स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में अस्पृश्यता निवारण एवं दलितोत्थान हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किये गये। दलित लोगों में भी शिक्षा के प्रति अभिरूचि जाग्रत हुयी और शिक्षा जगत में उनकी उपस्थिति उल्लेखनीय हो गयी। जैसा कि सत्यमित्र दुबे ने प्रकाशित लेख में लिखा है।

"ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में नियमित शिक्षण की व्यवस्था थी। सन 1800 में इग्लैण्ड के विद्यालय तथा भारत के विद्यालय के पाठ्यक्रम में बड़ी ही समानता दिखायी पड़ती है। 1820 के आस पास केवल बंगाल व बिहार के पूर्णिया जिले को मिलाकर एक लाख नियमित विद्यालय थे। इनमें पढ़ाने वाले अध्यापकों में हरिजन शिक्षकों की पर्याप्त संख्या थी। मद्रास प्रेसीडेन्स के 1822 के विद्यार्थियों के प्रवेश आंकड़े यह स्पष्ट करते है कि गैर ब्राम्हण छात्रों का प्रतिशत तिन्ने वेली जिले में 97.9% उत्तरीय अदेकार जिले में 92.5% तथा सलेम में 89.7% चिगिल पेट 88.9% कोयम्बटूर में 88% नियतापल्ली में 88.3% मदुरई में 81.4% तथा तंजौर में 78.1% था।[15]

इस आधार पर उन्होने निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश भारत की नींव पड़ने से पहले पिछड़ी जातियों तथा हरिजनों को भी शिक्षण संस्थाओं में न केवल प्रवेश का अधिकार था बल्कि इन संस्थाओं में इनका बहुमत भी था। 1835 में लागू लार्ड मैकाले की औपनिवेशिक शिक्षा नीति जहाँ एक ओर उत्पादन में लगे हुए मजदूर और किसान को शिक्षित होने से रोकती है दूसरी ओर वहीं परजीवी शोषक वर्गो की लम्बी जमात को शिक्षित कर कलम के कुली, क्लर्क, एकाउन्टेट एवं नौकरशाही की लम्बी भीड़ खड़ी करने की व्यवस्था करती है। वास्तव में मैकाले की शिक्षानीति ज्ञान के विस्तार के नाम पर अज्ञान के विस्तार और जन्मगत योग्यता अथवा बौद्धिक क्षमता के नाम पर जाति व्यवस्था को कायम रखकर शोषण जारी रखने की साजिश थी।

स्वतन्त्रता उपरान्त देश में अनुसूचित जातियों की परम्परागत रूढ़ियों को एवं निम्न स्तरीय दशा को देखते हुए उनके लिए दोहरी सुरक्षा एवं अधिकारों का प्रावधान किया गया है। इनको दोहरी सुरक्षा एवं अधिकार प्रदान कियें गये। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15, 16, 17, 29,

---

15. सत्यमित्र दुबे – दिनमान 21-27 अक्टूबर 1990

38, 46, 335, आदि के माध्यम से उनकी परम्परागत नियोग्यताओं को दूर करने के लिए संवैधानिक व्यवस्था की गयी है। अनु० 46 में यह निदेश है कि राज्य जनता के दुर्वल वर्गो को विशिष्टतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के शिक्षा और सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा। और सामाजिक अन्याय और सभी के शोषण से रक्षा करेगा। साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश नियमों में शिथिलता, शुल्कमुक्ति, छात्रवृत्ति एवं छात्रावास की व्यवस्था प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण केन्द्र और शैक्षिक सुविधाए प्रदान की गयी। राजकीय सेवाओं और रोजगार के क्षेत्र में इनको स्थान दिलाने हेतु आरक्षण व्यवस्था को क्रियान्वित किया गया। संविधान के अनु० 335 के अनुसार "संघ या राज्य के क्रियाकलाप से सम्बधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्यों के दावों को प्रशासन की दक्षता बनाये रखने के लिए संगति के अनुसार ध्यान में रखा जाए।"(16)

अनु० जाति एवं जनजाति के छात्रों के लिए छात्रवृत्ति योजना हाईस्कूल पास करने के बाद विभिन्न विद्यालयों और कालेजों में पढ़ रहे छात्रों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। ताकि ये अपनी शिक्षा पूरी करने में सफल हो सके। स्कूल कालेज और विश्व विद्यालयों में पढ़ने वाले दलित जातियों की लड़कियों की छात्रावास सुविधा प्राप्त करने के लिए छात्रावास भवन के निर्माण में होने वाले व्यय का 50% राज्य सरकार और 50% केन्द्र सरकार करती है। पाठ्य पुस्तक भण्डार योजना में इंजीनियरिग व मेडिकल के स्नातक पाठ्यक्रम से दलित वर्ग छात्रों को पाठ्य पुस्तकें प्रदान की जाती है। केन्द्र और राज्य सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र में विभिन्न पदों और सेवाओं में इनके प्रतिनिधित्व की स्थिति को सन्तोष जनक बनाने के लिए केन्द्र व राज्य सरकार प्रतियोगी परीक्षाओं से पूर्व प्रशिक्षण की व्यवस्था करती है। दुर्भाग्यवश इन स्वर्णिम योजनाओं का लाभ ये वर्ग नही उठा पा रहे।

कारण साफ है "सभी के लिए शिक्षा– लेखाचित्र प्रस्तुतीकरण" नीपा (NIEPA) नई

---

16. डी० डी० बसु – भारत का संविधान पृष्ठ 372

दिल्ली 1993 की सूचना के अनुसार "अखिल भारतीय साक्षरता दर 52.21% के मुकाबले अनुसूचित जाति की साक्षरता दर 37.41% है। इस वर्ग के 79.88% छात्रों की माध्यमिक स्कूल तक पढ़ाई बीच में छूट गयी है।"[17] इसी प्रकार जनजाति साक्षरता दर 29.60% है। और इसके 86.72% छात्रों की 10वीं कक्षा की पढ़ाई बीच में छूट गयी है। अतएव सरकार की इन सुविधाओं का लाभ ये नही उठा पाते इससे यह सिद्ध होता है कि राज्य में दलित शिक्षा साथ ही अनुसूचित और जनजाति और बाकी आबादी के बीच शैक्षिक विषमता का प्रमुख कारण "हरिजनों में आबादी की बृद्धि दर ज्यादा होना है पर उससे भी बड़ा कारण उनके लिए शुरू की गयी कल्याणकारी योजनाओं का लाभ नही मिलना है।"[18] इसके लिए सरकार को जनसंख्या वृद्धि पर तत्काल नियन्त्रण लगाने के महत्वपूर्ण उपायों के साथ साथ शिक्षा साक्षरता व जागरूकता का व्यापक अभियान शुरू करने होगें।

यहाँ तक उल्लेखनीय है कि सरकार द्वारा चलायी जा रही स्वयं विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के बारें में स्वयं दलित वर्ग कितना जानता है। क्याकिं विना जानकारी के इन योजनाओं से लाभान्वित होना मुश्किल है इस सम्बन्ध में एक अध्ययन में पाया गया है कि "66.04% दलित को दलित कल्याण सम्बन्धी कल्याणकारी संवैधानिक एवं शाषकीय व्यवस्थाओं का ज्ञान है। किन्तु 33.35% लोगों को इसकी जानकरी नही है"[19] । जब इस सन्दर्भ में शिक्षित दलित समुदाय के निरक्षर लोगों को जाग्रत कर सकता है। परन्तु रोजगार युक्त और मध्यवर्गीय होने के बाद अपने को मध्यवर्गीय समाज में खपाने की कोशिश करता है और अपने गरीब और निरक्षर भाई बहनों से दूर होता जाता है।

बढ़ती हुयी रोजगारी देश के लिए चिन्ता का कारण है। युवा वर्ग की शक्ति का ह्रास हो रहा है। रोजगार और प्रशिक्षण महानिदेशालय (1993) की रिपोर्ट के अनुसार "अनुसूचित के 49.6

---

17. चन्द्रभान प्रसाद 'विश्वासघात' पृष्ठ 172-174
18. नीलम गुप्ता (लेख) कानूनों और कार्यक्रमों के बावजूद उदघृत हरिजन से दलित पृष्ठ 52
19. धर्मेन्द्र सिंह ' दलित – अतीत से वर्तमान तक' पृष्ठ 246

लाख और अनु० जनजाति के 13.33 लाख शिक्षित युवक बेरोज़गार है।''[20] अन्य दूसरे सामाजिक श्रेणियों के मुकाबले इन शिक्षित बेरोजगारों को अधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। क्योकिं इनकी आर्थिक कठिनायी ज्यादा है। अतएव वित्तीय दबाब के कारण ये शारीरिक श्रमिक बन जाते है। इनकी यह हालत देखकर दलित समाज में यह संदेश भी जाता है कि पढ़ने लिखने से अच्छा है कि वे अपने परम्परागत व्यवसाय से ही जुड़े रहें।

शिक्षा केवल नौकरी का पर्याय नहीं है। डा० अम्बेडकर महान चिन्तक और सुधारक थे उनका अमिट संदेश यही था कि "शिक्षित और संगठित बनो और संघर्ष करों"[21] वह मानते थे कि दलित के राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनका अशिक्षित होना है शिक्षा व्यक्ति के मुक्ति का मार्ग है जो सभी तरह के अन्यायों के खिलाफ संघर्ष की शक्ति प्रदान करती है। शिक्षा के द्वारा ही दलित समाज का वैचारिक संघर्ष प्रखर होगा। शिक्षा के द्वारा ही अशिक्षा, निरक्षरता, अज्ञानता, अन्धकार, अन्धविश्वास और जातिवादी व्यवस्था की अमानवीय प्रवृत्तियों से लड़ने में दलित समाज सक्षम होगा। साथ ही दलित शैक्षिक वेरोजगारी को दूर करने हेतु सरकार को दलित वर्ग के लिए चलायी जा रही रोजगार परक योजनाओं का पूर्ण उपयोग करना होगा साथ की योजनाओं को नवीनता प्रदान करनी होगी।

व्यापक शासकीय प्रयासों तथा अशासकीय वैयक्तिक एवं संस्थागत प्रयासों से ही दलितों का ज्ञान के क्षेत्र में व्यापक प्रवेश होगा। और उच्च और आधुनिक प्रगतिशील दृष्टिकोण से युक्त दलित समाज व्यवस्था परिवर्तन का प्रयास अत्यन्त प्रभावी ढंग से शुरू करने में सक्षम हो सकेगा।

सांस्कृतिक सीमायें :

भारत में हिन्दू संस्कृति के द्वारा देश के लोगों को हजारों जातियों में बांटकर उन्हे

20. चन्द्रभान प्रसाद 'विश्वासघात' पृष्ठ 173
21. राजकिशोर (लेख) 'अम्बेडकर की विरासत के कुछ सच' 20 जनवरी 2001 अमर उजाला

परस्पर छुआछूत और ऊँच नीच में विभक्त कर पूरे समाज को विषमतापूर्वक बना दिया गया। इसमें मुट्ठी भर लोग विना कमायें शेष नब्बे प्रतिशत कमजोर जनता का शोषण करने के लिए मुक्त कर दिये गये। सैकड़ो वर्षो से भारत में दलित व पीड़ित शूद्र अतिशूद्र जातिप्रथा की अमानवीय प्रवृत्तियों के कारण आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक नैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हीनता का शिकार रहे। भारत में दलित आन्दोलन का लम्बा इतिहास रहा है अनेक सन्त महात्मा और समाज सुधारक हुए जिन्होने दलित मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होने सम्राज्यवादी, सामन्तवादी ब्राम्ह्यणवादी संस्कृति विरूद्ध राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक अभियान शुरू किया। और दलित समाज के हित में नूतन संस्कृति का शुभारम्भ किया। दलित आज के दलित आन्दोलन में सांस्कृतिक क्रान्ति की अपेक्षायें क्षीण है।

साहित्यक सीमाएँ

दलित साहित्य पर चर्चा चलती है तो सबसे पहले स्वभाविक रूप से जो प्रश्न उठता है, वह यह है कि क्या साहित्य का विभाजत जाति के आधार पर सम्भव है ? चूंकि साहित्य का भाषीय आधार जनमानस में स्थापित है, जैसे– हिन्दी, उर्दू, बंगला, कन्नड, तमिल, मराठी और अंग्रेजी आदि भाषाओं का साहित्य। इस लिए साहित्य का कोई जातीय आधार भी हो सकता है, यह बात आसानी से लोगों के गले नहीं उतर रही है।

दलित साहित्य कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है, पर यह कहना भी उचित नहीं है कि दलित साहित्य सिर्फ दलित के द्वारा ही लिखा जा सकता है, यदि ऐसा होता तो कालिदास जाति के गड़रिया थे और राजकीय वैभव का साहित्य लिखा। वाल्मीकि वहेलिया थे, परन्तु पौराणिक विषय को आधार बनाया। व्यास जाति के मल्लाह हुए और उन्होने महाभारत जैसा बहुयामी साहित्य लिखा।[22]

---

22. कंवल भारती (लेख) दलित साहित्य : कुछ आलोचनायें, उदृत दलित जन उभार, पृष्ठ 189

साहित्य नवीन सांस्कृतिक निर्माण की आधार भूमि होता है। दलित साहित्यकारों की वर्तमान मुख्य जिम्मेदारी यही है कि ये अपने दलित समाज के हित में सामुदयिक आत्मबल उत्पन्न करने का प्रयास करें। एक नयी सांस्कृतिक जिम्मेदारी को संभाल ले। दलित साहित्य को शब्द की मुख्य धाराओं से कटना नहीं चाहिए। दलित साहित्य व लेखन वस्तुनिष्ठ व उदार होना ही चाहिए। जिससे दलित संवेदना साहित्य और हिन्दी साहित्य कर सहअस्तित्व पूर्ण विकास सम्भव हो सके। इसके लिए कुछ विन्दुओं पर विचार करना ही होगा।

दलित साहित्य को विखंडनवादी प्रवृत्ति से बचना होगा और दलितेतर संवेदनाओं के प्रति भी सहिष्णु होना चाहिए। दायरे से बाहर संवाद दलित साहित्य को सम्पूर्ण मानवीय सांस्कृतिक विरासत का हिस्सेदार बनायेंगा। लेकिन कुछ वर्तमान दलित साहित्यकारों ने संकीर्णतावादी दृष्टिकोण अपनाया है। डा० पी० एन० सिंह ने दलित चिन्तन का सूक्ष्मपरक विश्लेषण किया है–

1. दलित लेखन अपने समाज को विकासशील अस्मिता को न देखकर एक शाश्वत विक्टम के रूप में देखता है दलित लेखक को विश्वास नहीं है कि सवर्ण भी मानवीय हो सकता है। यह जड़ीभूत दलित अविश्वास दलित लेखन को सीमापार के बदलावे, उसकी कतिपय प्रगतिशील प्रतिबद्धताओं में समझने में बाधक है। सम्प्रति दलित संवेदना उस जड़ हिन्दुत्वादी संवेदना जैसी है समझ सकने में सर्वथा असमर्थ है कि भारत में जन्मा रचा–बसा मुसलमान अथवा ईसाई भी देशभक्त भी हो सकता है संकीर्णता अथवा श्रेष्ठ चिन्तन अथवा साहित्य को जन्म नहीं दे सकती।

2. दलित लेखन 'दलित' ही प्रथम एवम अन्तिम सन्दर्भ है जो इससे भिन्न है वह अविश्वसनीय एवं अमानवीय विकल्पों की बहुलता की अनदेखी वैचारिक एवं संवेदनात्मक गतिरोध पैदा करती है। उनके अनुसार अतिवादी जड़ता संवेदना को पथराती है और इस प्रकार स्वस्थ चिन्तन एवं सृजन में बाधक बनती है।

अन्ततः हम यह कह सकते है कि "दलित साहित्य के दुखः दर्द, आत्मगत पीड़ा, अपमान, क्षोभ, आक्रोश व राग विराग को हिन्दी साहित्य में व्यापक प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए व दलित साहित्य व लेखन को थोड़ा वस्तुनिष्ठ व उदार होना ही चाहिए जिससे दलित संवेदना, साहित्य और

हिन्दी साहित्य दोनों का सहअस्तित्व पूर्ण विकास सम्भव हो सके।[23]

और दलित लेखन की समूची ऊर्जा भावनात्मक विवेचन और वैचारिक विखंडन में न खर्च्र हो कर स्वस्थ दलित संस्कृति के विकास में लगनी चाहिए।

(C) धार्मिक सीमाएँ:

छठीं शताब्दी ई० पूर्व जो धार्मिक सांस्कृतिक क्रान्ति एवं पुर्नजागरण का समय कहलाता है उसी काल में महात्मा बुद्ध का अभ्युदय हुआ। महात्मा बुद्ध वैदिक धर्म की अमानवीय प्रवृत्तियों पचं कुरूपताओं में इतने खिन्न और द्रवित हुए कि उन्होने एक सीधे सरल बौद्ध धर्म की स्थापना की। कर्मकाण्डों से मुक्त एक सुधारात्मक आन्दोलन के रूप में बौद्ध धर्म ने दलितोत्थान में गौतम बुद्ध के नेतृत्व में ही सर्वप्रथम ब्राह्मण साहित्य को चुनौती दी गयी। बुद्ध के निर्वाण के 600 वर्षो के बाद बुद्ध चरित्र के महान कवि अश्वघोष ने बज्रसूची लिखकर वर्ण व्यवस्था पर आक्रमण किया। परन्तु यह विडम्बना ही है कि अनेक दलित संत कवि हुए इन्होने परोक्ष रूप से ब्राह्मणवाद को ही मजबूत किया। नंदनार, चोखामेला तथा रविदास जैसे महान संत इसी श्रेणी में आते है। इन दलित संत कवियों में कबीर ही एक ऐसे थे जिन्होने वैदिक या ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था पर खुलकर प्रहार किया। छठीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक अनेक दलित संत कवि हुए इनमें से किसी ने बुद्ध से प्रेरणा नहीं ली।

महात्मा बुद्ध के बाद बाबा साहेब अम्बेडकर पहले व्यक्ति थे जिन्होने जातीय वि ादों की असमानताओं, उच्चता–निम्नता, पवित्रता–अपवित्रता, धार्मिकता–अधार्मिकता की अभेद दीवारों को हिलाया। उन्होने दलित समाज में जन्म लेकर जाति तथा पंथ का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए तर्क संगत ढंग से उनकी अनुपयोगिता साबित की। अपने समस्त रचनाओं के द्वारा उन्होने दलित समाज को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व प्रदान किया। डा० अम्बेडकर की एक

---

23. नीता मल्ल, शिवराम मल्ल, भविराम (लेख) दलित साहित्य : एक मूल्यांकन उधृत दलित जन उभार पृष्ठ 207

विरासत हिन्दू धर्म का परित्याग करने की है। उनका एक महत्वपूर्ण वाक्य है कि "मै हिन्दू धर्म में पैदा जरूर हुआ हूँ पर हिन्दू के रूप में मरूंगा नहीं"[24] धर्मान्धता के प्रश्न पर विचार करते हुए सभी धर्मो पर विचार किया था। 1935 में हिन्दू धर्म के परित्याग की घोषणा एवं 14 अक्टूबर 1956 को बौद्ध अपना कर अपने को अवर्ण परम्परा से जोड़ा था। वह इसी को स्वस्थ सामुदायिक एवं राष्ट्रीय विकल्प मानते थे। वैदिक परम्पराओं को वह स्वीकार नहीं कर सकते थे। क्योंकि इसमें उन्हे कोई परिष्कार की संभावना नहीं दिखती थी। उन्होने इस कदम को राष्ट्रहित में सही माना था। उन्होने महात्मा गांधी से स्पष्ट कहा था–

"मै वही रास्ता चुनूंगा जिसमें देश की न्यूनतम क्षति हो और बौद्ध धर्म अपनाकर मै देश को अधिकतम लाभ पहुँचा रहा हूँ क्योंकि बौद्ध धर्म भारतीय सभ्यता का अनिवार्य अंग है मैन यह सावधानी वर्ती है कि मेरा धर्मान्तरण इस भूमि की परम्परा संस्कृति एवं इतिहास को क्षतिग्रस्त नहीं करेगा"[25]

अम्बेडकर के धर्मान्तरण का लक्ष्य दलितों को सामाजिक सम्मान दिलाना व सदियों से उनमें जड़ीभूत हीनता बांध का अन्त करना था। जातिवादी भावना से मुक्त करके उन्हे एक समुदाय के रूप में प्रतिष्ठित करना। डा० अम्बेडकर के अनुसार धर्मान्तरण का उद्देश्य भौतिक सुखः की इच्छा नहीं बल्कि एक ऐसे धर्म की खोज होना चाहिए जो हमें सामाजिक न्याय आध्यात्मिक दिशा और नैतिक संहिता प्रदान करें। यह हिन्दू धर्म से पलायन करना नहीं वरन एक बेहतर धर्म की खोज का रास्ता है। लेकिन बाद में धर्मान्तरण प्रयासों में यह चेतना कम दिखायी देती है। आज कई दुविधायें एवं सीमाएँ सामने है –

1. आज दलितों का धर्मान्तरण सिर्फ आस्था परिवर्तन नहीं वह हिन्दू समाज से विरोध जताने का राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल हो रहा है। 6 दिसम्बर 1993 में पटना में दलितों द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण किया गया। उस दिन डा० अम्बेडकर का परिनिर्वाण दिवस और अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराये जाने की बरसी होने के कारण यह ब्राह्मण वाद और साम्प्रदायिकता के खिलाफ एक

---

24. डा० अंगनेलाल वर्मा–बोधिसत्व बाबा साहेब डा० अम्बेडकर, जीवन और दर्शन पृष्ठ 128
25. डा० पी० एन० सिंह (लेख) अम्बेडकर चिन्तन के समाजवादी आयाम पृष्ठ 31,उधृत 'समकालीन सोच' सित० – दिस० – 2000

प्रतीकात्मक विरोध के रूप में भी दिखा।[26]

2. क्या धर्मान्तिरित उस विराट सामन्तित, निरंध्र, सामुदायिकता का एहसास कर सका है जिसकी बाबा साहेब ने कल्पना की थी ? धर्मान्तिरत दलित कुछ और अलग–अलग पड़ा है और अब दलित बोध के साथ उसमें अल्पसंख्यक बोध भी जड़ी भूत हुआ है और कँवल भारती जैसे दलित लेखक इधर दलित राष्ट्र की चर्चा भी करने लगे है"[27]

3. तीसरा प्रश्न यह है कि बौद्ध समुदाय जाति मुक्त होगा, लेकिन ऐसा कुछ होता नहीं दिखता। विभिन्न जातियाँ अपने आक्रामक पहचान के साथ बौद्ध धर्म के दायरे में अस्तित्वमान है। आज दलित तबकों से धर्मान्तिरत ईसाई स्वयं को वहाँ दलित अथवा अछूत ही महसूस करता है। सामुदायिकता मात्र चर्च की पूजा तक सीमित है ऐसा वह कहता है। यही भारतीय इस्लाम और खालसा की भी सच्चाई है।[28]

धर्मान्तरण की प्रक्रिया नवीन नहीं है समाज में जबसे धर्म का गठन हुआ है तभी से धर्म धर्मान्तरण होता आ रहा है। अतएव धर्मान्तरण को धार्मिक खेमेबन्दी बनाना अनुचित है। आस्था परिवर्तन तो आत्मगत चीज है। आर्थिक और राजनीतिक लाभ की दृष्टि से धर्मान्तित होना संकीर्णता है "डा० अम्बेडकर ने 23 साल के चिन्तन मनन और शोध के बाद बौद्ध धर्म अ नाने का फैसला उनके धर्मान्तरण आन्दोलन को महज राजनैतिक विरोध का आन्दोलन मानना उनके महत्व को कम करके आंकना होगा। वे बौद्ध दर्शन को साम्यवाद से श्रेष्ठ समतावादी दर्शन मानते थे। अम्बेडकर को निजाम हैदराबाद ने मुसलमान बनने के लिए चार करोड़ रूपये देने का प्रस्ताव रखा। उनके पीछे सिख और ईसाई धर्म गुरू भी पड़े रहे। पर उन्होने भावनात्मक प्रतिक्रिया में नहीं बल्कि विवेक का प्रयोग करते हुए बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।[29]

---

26. अरुण कुमार त्रिपाठी (लेख) धर्मान्तरण । मुक्ति या मरीचिका पृष्ठ 56-57
27. डा० पी० एन० सिंह (लेख) अम्बेडकर चिन्तन के समाजवादी आयाम पृष्ठ 32
28. पूर्वोक्ति पृष्ठ - 32
29. अरुण कुमार त्रिपाठी (लेख) धर्मान्तरण । मुक्ति या मरीचिका पृष्ठ 55-57

अतएव दलितों की मूल समस्या धार्मिक है। बाबा साहब ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर दलितो के धार्मिक चिन्तन पर क्या रोक लगा दी है ? नहीं बल्कि भगवान बुद्ध और उनका धर्म नाम की पुस्तक लिखकर उन्हे दलितों के धार्मिक चिन्तन की शुरूआत की है। अतएव मात्र धर्मान्तरण की मारीचिका के पीछे न पड़कर महान समाज सुधारकों के लोकदर्शन दलित सन्तों के ह्रदय की वाणी को अपना कर महान समृद्ध परम्परा का निर्माण करें। तभी वह हिन्दू धर्म के भीतर से ही दलित विद्रोह आंतरिक आणुविक परिवर्तन की स्वभाविक प्रगतिशील प्रक्रिया को जन्म दे सकेगा।

(D) आर्थिक सीमायें

दलित समुदाय का सामाजिक जीवन जाति भेद, ऊँच नीच और अस्पृश्यता का शिकार रहा है। पराधीनता, परवशता, सामाजिक सांस्कृतिक निर्योग्ताओं एवं अमानवीय शोषण की शिकार दलित समुदाय का आर्थिक जीवन भी गुलामी से बंधा, कुंठित एवं दीनहीन रहा है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार विराट पुरूष के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति तीन अन्य वर्गो की सेवा के लिये हुई। ब्राह्मणों ने इन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ईश्वर प्रदत्त ग्रन्थों की रचना की । इन ग्रन्थों में शूद्रों को उत्पन्न करने का यह उद्देश्य बताया गया है कि "वह सेवा भावना से ऊपर के तीन वर्णो की गुलामी करे"।[30] शुरू से ही यह वर्ग बंधुआ मजदूर की तरह गन्दे और कठोर कर्म करने हेतु बाध्य किया गया। उनकी शिक्षा–दीक्षा एवं आर्थिक विकास नगण्य रहा। पशुपालन, कृषिकार्य के साथ इन्हे समाज के सर्वाधिक गन्दे कार्य जैसे मैला साफ करना व ढोना, मृत पशुओं को ढोना व उनकी खाल उतारना आदि सौंपे गये। सामाजिक छुआछूत के समाजशास्त्र ने आर्थिक अछूतपन के अर्थशास्त्र को गढ़ा।

कड़े संघर्ष के सैकड़ों वर्षो के बाद स्वतन्त्र भारत में दलित समुदाय की परम्परागत नियोग्ताओं और निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति को देखते भारतीय राज्य व्यवस्था ने देश की सामाजिक आर्थिक संरचना में हस्तक्षेप किया और इस समुदाय को दोहरी सुरक्षा और अधिकार प्रदान किये। एक तो उन्हे देश के एक सामान्य नागरिक के रूप में अन्य नागरिकों के समस्त अधिकार प्रदान किये गये दूसरे उन्हे अनुसूचित जाति का सदस्य होने के नाते विशेष संरक्षण एवं अधिकार प्रदान किया गया। जहाँ संविधान की धारा 15, 16,17,29,38,46 आदि के माध्यम से उनकी परम्परागत निर्योग्ताओं को दूर करने के लिये संवैधानिक व्यवस्था की गई है। राजनीतिक सहभागिता

---

30. 'ज्योतिराव फूले' – गुलामगीरी की प्रस्तावना' उधृत दलित जन उभार संपादक 'कमल भारती' पृष्ठ 32

प्रदान करने हेतु संसद एवं विधानमण्डलों में उन्हे अनिवार्य प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। रोजगार में उन्हे अनिवार्यतः स्थान दिलाने हेतु आरक्षण व्यवस्था को क्रियान्वित किया गया। वहीं आर्थिक क्षेत्र में ऋण अनुदान एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा भूमि वितरण खाद्य, सिंचाई, लघुउद्योगों की स्थापना हेतु ऋण, गाय, भैंसो के क्रय हेतु वित्तीय सहायता के साथ साथ पंच वर्षीय योजनाओं में इनके कल्याण हेतु पृथक रूप से आर्थिक संसाधनों एवं कार्यक्रमों का प्रावधान किया गया।

अन्य कार्यक्रमों के अर्न्तगत अनुसूचित जाति की महिलाओं के लिये कल्याण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम, आवास हेतु भूमि एवं ऋण प्रदान करना, दलित बस्तियों का विद्युतीकरण इत्यादि कार्य किये गये हैं। परन्तु आज भी दलितों की आर्थिक स्थिति दो कारणों से चिन्ता जनक है। प्रथम एक समुदाय के रूप में उनके पास काम नही है या जो है उनसे नकद आय कम होती है दूसरे दलित समाज का बहुसंख्यक हिस्सा आज भी अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र में कृषि मजदूर के रूप में जुड़ा हुआ है। उपरोक्त तथ्य की पुष्टि 1991 की जनगणना रिपोर्ट के निम्न आंकड़ों के विश्लेषण से होती है –

तालिका A

श्रमिको का क्षेत्रगत आवंटन (1971–1991)
अनु0 जाति एवम् जनजाति का गैर–अनु0 जाति/जनजाति से तुलना

	प्राथमिक क्षेत्र	सेकेन्डरी क्षेत्र	सर्विस क्षेत्र	योग
अनु0 जाति				
1971	23964457 (82.43)	2352797 (8.09)	2754055 (9.47)	29071309 (100.00)
1991	38404095 (77.00)	4903850 (9.83)	6566706 (13.17)	49874651 (100.00)
जनजाति				
1971	13684150 (93.57)	371929 (2.54)	568362 (3.89)	14624441 (100.00)
1991	25634677 (90.02)	1099510 (3.86)	1741578 (6.12)	28475765 (100.00)
गैर अनु0जाति/जनजाति				
1971	93237046 (68.22)	16594101 (12.14)	26882502 (19.67)	136713649 (100.00)
1991	129053332 (62.17)	28211324 (13.59)	50317421 (24.24)	207582077 (100.00)

नोट : (कोष्ठक के अन्दर संख्या प्रतिशत में)

इस प्रकार तालिका A दर्शाती है कि वर्ष 1991 में अनु० जातियों एवं जनजातियों की कुल मु ख्य श्रम शक्ति का क्रमशः 77% और 90.02% भाग प्राथमिक सेक्टर में संलग्न है, जबकि गै! अनु० जातियों/जनजातियों की मुख्य श्रम शक्ति का मात्र 62.17% भाग ही इस क्षेत्र में है। अनु० जातियों एवं जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का प्राथमिक क्षेत्र में आवंटन और अनु० जातियों और जनजातियों की तुलना क्रमशः 14.83% और 27.85% अधिक है जो भारी विषमता का सूचक है। जनकल्याण कारिता के दो दशको के दरम्यान अनु० जातियों एवं जनजातियों की श्रमशक्ति के अर्थव्यवस्था के प्राथमिक सेक्टर से दूसरे सेक्टरों में स्थानान्तरण की दर गैर अनु० जातियों व जन जातियों की तुलना में बहुत कम रही है। जब राज्य द्वारा घोषित रूप से अनु० जातियों एवं जन जातियों को सहायता प्रदान करने का बन्धन देता है। तब उनके बीच गतिशीलता में बढोत्तरी होनी चाहिए थी लेकिन वस्तु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। इस तरह की विसंगतियों राज्य द्वारा दलित विकास के लिए चलाये गये आधारभूत कार्यक्रमों की असफलता को उजागर करती है।[31]

---

1. चन्द्रभान प्रसाद ' विश्वासघात – दलित आंकड़ा बैंक –ग्रन्थ प्रथम, पृष्ठ – 147

तालिका B

विभिन्न श्रम श्रेणियों में श्रमिक संख्या/प्रतिशत (1971–1991)

1971 & 1991

	कुल मुख्य श्रमिक	I जोतदार	II कृषि मजदूर	III कृषि संबंधित मजदूर	IV उत्खनन	Va घरेलू उद्योग	Vb गैर घरेलू उद्योग	VI निर्माण	VII व्यापार और वाणिज्य	VIII यातायात एवं भण्डारण	IX अन्य सेवायें
अनु0 जाति											
1971	29071359	81011567	15044761	630919	187210	967227	1034171	351401	385369	499687	1868999
	(100.00)	(27.87)	(51.75)	(2.17)	(0.64)	(3.33)	(3.56)	(1.21)	(1.33)	(1.72)	(6.43)
1991	49874651	12689448	24470657	855535	388455	7201682	2559081	1143087	1470861	1122245	393600
	(100.00)	(25.44)	(49.06)	(1.72)	(0.78)	(2.41)	(5.13)	(2.29)	(2.95)	(2.25)	(7.97)
जनजाति											
1971	14624441	8418491	4832427	343968	89264	150486	162132	59311	87398	84348	396616
	(100.00)	(57.56)	(33.04)	(2.35)	(0.61)	(1.03)	(1.11)	(0.41)	(0.60)	(0.58)	(2.71)
1991	28475765	15520516	9308705	574642	230754	297098	564946	237455	339301	243766	11[illegible]511
	(100.00)	(54.50)	(32.69)	(2.02)	(0.81)	(1.04)	(1.98)	(0.83)	(1.19)	(0.96)	(0.47)
गैर अनु0जाति/जनजाति											
1971	136677599	61656649	27612195	3321914	146288	5234003	9519502	1840596	9565476	3817166	13499860
	(100.00)	(45.11)	(20.20)	(2.43)	(0.47)	(3.83)	(6.96)	(1.35)	(7.00)	(2.79)	(9.88)
1991	207582077	82492322	40818382	4610562	1132066	53055241	18743421	4162662	19486175	6651735	24179511
	(100.00)	(39.74)	(39.74)	(2.22)	(0.55)	(2.56)	(9.03)	(2.01)	(9.39)	(3.20)	(11.65)

नोट : (कोष्ठक के अन्दर संख्या प्रतिशत में)

इस प्रकार तालिका B दर्शाती है कि अनु० जातियों एवं जनजातियों की मुख्य श्रम शक्ति का क्रमशः आधा (49.06%) और लगभग एक तिहाई (32.69%) हिस्सा कृषि मजदूरों की श्रेणी में आता है। जबकि गैर अनु० जातियों / जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का लगभग पांचवा हिस्सा (19.66%) ही इस श्रेणी में आता है। साथ ही तालिका B यह दर्शाती है कि वर्ष 1991 में अनु० जातियों व जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति का क्रमशः 25.44% और 54.50% भाग जोतदार की श्रेणी में है जबकि गैर अनु० जातियों व अनु० जातियों की कुल श्रम शक्ति का 39.74% भाग ही इस श्रेणी में है। 1971 के आकड़ों से तुलना करने पर दिखायी पड़ता है कि अनु० जातियों एवं जन जातियों और गैर अनु० जातियों / जनजातियों की कुल मुख्य श्रम शक्ति में जोतदारों का हिस्सा घटा है। यहाँ गौर तलब है कि गैर अनु० जातियों व जनजातियों का अधिकांश भाग अर्थव्यवस्था के प्राथमिक सेक्टर से दूसरे सेक्टरों में स्थानान्तरित कर दिया जबकि अनु० जातियों व जनजातियों के बीच स्थानान्तरण की यह दर अपेक्षाकृत कम रही जो किसी समाज के निम्न विकास दर की सूचक भारतीय राज्य की दलित विकास के प्रति संवेदनशीलता का द्योतक है।[32]

1. पूर्वोक्त –150 - 151

तालिका C

जोतों की श्रेणीगत संख्या एवं कुल जोत क्षेत्र

1985 - 86

	जोत संख्या (हजारों में)						जोत क्षेत्र					
	सीमांत	लघु	अर्द्ध मध्यम	मध्यम	विशाल	योग	सीमांत	लघु	अर्द्ध मध्यम	मध्यम	विशाल	योग
1985 — 86												
गैर अनुसूचित जाति / जनजाति	44478 (57.4)	14204 (18.33)	10640 (13.73)	6524 (8.42)	1619 (2.08)	77466 (100.00)	17530 (13.01)	20432 (15.16)	29563 (21.94)	38938 (28.90)	28224 (20.95)	134688 (100.00)
अनुसूचित जाति	8508 (70.6)	1923 (16.00)	1067 (8.9)	456 (3.8)	87 (0.70)	12041 (100.00)	3000 (23.60)	2173 (21.50)	2878 (22.80)	2636 (20.90)	1413 (11.20)	12640 (100.00)
जनजाति	3161 (41.30)	1795 (23.5)	1545 (20.2)	936 (12.2)	212 (2.80)	7648 (100.00)	1512 (8.8)	2563 (14.90)	4225 (24.50)	5570 (32.3)	3365 (19.5)	17234 (100.00)

1. 1990—91 की कृषि सूचकांक सूची उपलब्ध नहीं है ।

नोट : (कोष्ठक के अन्दर संख्या प्रतिशत में)

तालिका C दर्शाती है कि अनु० जातियों/जनजातियों के पास मौजूद कुल जोतों का क्रमशः 86.60 और 64.80 प्रतिशत हिस्सा सीमांत व लघु जोत श्रेणियों में है, जबकि गैर अनु०जातियों/जनजातियों के पास उपलब्ध कुल जोतो का 75.73 प्रतिशत भाग ही इन श्रेणियों में आता है। अनु०जातियों के सन्दर्भ में जहॉ यह विषमता स्पष्ट है वही अनुसूचित जन जातियों के सन्दर्भ में भमि की अन उपजाऊ प्रकति और न्यूनतम सिंचाई व्यबस्था उनके जोतो को अलाभकारी बना देती है।[33]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दलितों और शेष जनसंख्या के बीच गहरी विषमता बनी हुई है। 1991की जनगणना रिपोर्ट दर्शाती है "अनु० जाति कुल मुख्य श्रम शक्ति का 49.06 प्रतिशत भाग कृषि मज़दूरों का है। चूंकि श्रमशक्ति जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनु० जाति का प्रत्येक दूसरा व्यक्ति कृषि मजदूर है। आज भी इस समुदाय की बहुसंख्यक संख्या पौष्टिक आहार, रहने योग्य घरों, आधुनिक स्वास्थ्य और शैक्षणिक सुविधाओं से वंचित है"। व्यवस्था द्वारा थोपी गयी आर्थिक विषमता एवं असमानता के शिकार है। भारत की कृषि जनगणना (1985 - 1986) दर्शाती है कि "70.06 प्रतिशत अनु० जाति के जोते सीमांत एवं 16.2 प्रतिशत जोंते लघु श्रेणियों में है"। इस प्रकार अनु० जाति के तीन चौथाई जोत कृषि व्यवस्था के हासिए पर है। लघु आकार के जोत क्षेत्र और आधारभूत आवाश्यक सुविधाओं के अभाव के कारण इन जोतदारों की अन्न उत्पादकता भी कम होगी।[34]

अनु० जाति के कन्धों पर ही समाज की निम्न कोटि के कार्यो का भार है। दयनीय आर्थैक स्थिति के कारण यह निम्न स्तर के पेशों को अपनाने पर विवश है। 1991 की जनगणना के अनुसार गैर "अनु० जातियों / जनजातियों के 19.83% की तुलना में अनु० जाति के मात्र 6.62% घरों में ही कुल मिलाकर तीन सुविधायें – स्वच्छ पेयजल, बिजली और शौचालय है। आर्थिक विपन्नता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।'

जन जाति समुदाय की बहुसंख्यक जनसंख्या अभी भी प्राथमिक सेक्टर में है।जनजातीय

---

33. पूर्वोक्त – 151
34. पूर्वोक्त

क्षेत्रों में औद्योगिक विकास भी नही हुआ है। न ही इन क्षेत्रों में मूलभूत सुविधाओं में ही कुछ गतिशीलता ही आयी है।

सुदूर अतीत काल से देश के दलित समुदाय के आर्थिक विकास का यही है कड़वा सच। स्वतन्त्रता के बाद दलितोद्धार की बड़ी बड़ी बातें करने वाली सरकार ने उनको सर्वतोन्मुख विकास के नाम पर उन्हे दो बैसाखियो पर खड़ा करने की चेष्ठा की। एक आरक्षण दूसरी अनुदान की । और यह मान लिया गया कि इन बैसाखियों के सहारे दलित समुदाय समाज के जागरूक वर्ग के साथ विकास की मंजिल स्वयं तय कर लेगा। यह भी सत्य है कि आजादी के पचास वर्षो के बादतमाम कमियों के बावजूद भी विकास हुआ है। राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय, कृषि औद्योगिक उत्पादन तथा निर्यात सभी कुछ बढ़ा है। लेकिन इस प्रगति का लाभ समाज के विभिन्न वर्गो को समान रूप से नही मिला है। गरीब और अमीर की खाई निरन्तर बढ़ रही है। दलित व अन्य कमजोर वर्गो के जीवन के मूलभूत अधिकार की अनदेखी ही नही भारी अवमानना हो रही है।

अतएव न्याय पूर्ण समाज के निर्माण के लिये आवश्यक है कि समाज में आर्थिक विषमताओं की खाइयों को समाप्त किया जाये। सभी को विकास के समान अवसर प्राप्त हो। संगठित सामाजिक जीवन से जो भी लाभ प्राप्त हो वे इन गिने लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जायें बल्कि सर्वसाधारण को – विशेषतः निर्बल और निर्धन वर्गो को – उनमें समुचित हिस्सा मिले। ताकि वे सुखी, सम्मानित और निश्चित जीवन जी सके। आय और सम्पत्ति का सीधा सम्बंन्ध श्रम और कर्तव्य पालन से होना चाहिये विशेषाधिकार, परम्परा या उत्तराधिकार से नही।

जाति पर आधारित अर्थतन्त्र में श्रम विभाजन अन्याय पूर्ण शोषणकारी रहा है। यह कहना प्रासंगिक है कि भारतीय अर्थतन्त्र में दलितों के समाजार्थिक हितार्थो के प्रति अमानवीय व्यवहार हुआ है। परन्तु भारतीय प्रजातन्त्र की वर्तमान बड़ी उपलब्धियां यही हैं कि दलित समूहो मे अपने अधिकारों के प्रति चेतना जगी है। आज दलितों के सामर्थ्यकरण की आवश्यकता दलित विकास की पूर्णापेक्षी शर्त है। इस कार्य के सम्पादन में उनकी राजनीतिक लाभबन्दी एवं समान प्रतिभागिता महत्वपूर्ण

भूमिका निभा सकती है।

डा० अम्बेडकर ने नया संविधान पारित करने के लिये संविधान सभा में दिये गये अपने एतिहासिक भाषण में कहा था "हमारा काम पूरा हो चुका है, मेरी कामना है कि कल भी सूर्योदय हो। नये भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता तो मिल गयी लेकिन सामाजिक स्वतन्त्रता और आर्थिक स्वतन्त्रता का उदय अभी बाकी है। अनेक भेदभावपूर्ण कुरीतियों के कारण दलितों की अन्य वर्गो पर निर्भरता है जिसे दूर किये बिना उनके शोषण को समाप्त नही किया जा सकता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना आजादी निरर्थक है इस लिये दलितों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना होगा। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग सामाजिक बराबरी कैसे प्राप्त कर पायेगें। इसलिये आर्थिक सत्ता को मुट्ठी भर लोगों के हाथ से निकाल कर उसका व्यापक विकेन्द्रीकरण करना होगा"।[35]

अतः सरकार को संविधान में अन्तर्निहित बुनियादी मूल्यों की रक्षा के लिये इन वर्गो के हित संरक्षण में इनके तत्कालिक हितों के साथ दीर्घकालीन हितों का भी ध्यान रखना होगा। दलितोद्धार के लिये उन्हे निम्न उपायों पर ध्यान देना होगा।[36]

1. साक्षरता व जागरूकता का व्यापक अभियान शुरू किया जाये।

2. ग्रामीण औद्योगीकरण एवं श्रमप्रधान तकनीकि पर बल दिया जाये ताकि अधिकाधिक रोजगार मुहैया हो सके। दलितों की स्थिति गाँवो में अपेक्षाकृत ज्यादा बुरी है।

3. भूमि सुधारों को कड़ाई से लागू किया जा सके।

4. कृषि को उद्योग का दर्जा मिले। इससे इस क्षेत्र में लगे दलित कृषि मजदूरों की दशा सुधारने में मदद मिलेगी।

---

35. संजय स्थितप्रज्ञ 'दलित विकास का मंच' पृष्ठ – 236 उदृत दलित जनउभार संपादक कंवल भारती।

36. पूर्वोक्त– पृष्ठ – 237

साथ ही[37] –

1. बन्दुआ मजदूरों और सफाई तथा चर्म कर्म जैसे कार्यों में जुड़े दलित वर्गो जो गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे है उनकी स्थिति में सुधार लाना।

2. दलित के लिये पुर्नवास का प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

3. बेरोजगार दलितों के लिये व्यवसायिक योजनाओं को नवीनता प्रदान करना।

4. नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम को कड़ाई से लागू किया जाना।

इन्ही उपायों से दलितों का आर्थिक उत्थान सम्भव है। इसी से विषमता मूलक जातिवादी एवं वर्ण व्यवस्था पर आधारित परम्परावादी हिन्दू सामाजिक आर्थिक संगठन को समाप्त किया जा सकेगा। इसके लिये सरकार के सकारात्मक हस्तक्षेप के साथ साथ देश के 150 मिलियन दलित जो बदले हुये सामाजार्थिक परिवेश में शोषण, अत्याचार के प्रति जागृत हो रहे है। वे अपने आर्थिक हितों एवं अनावश्यकताओं के प्रति भी पूर्ण जागरूक हो जाये और इसमें दलित नेतृत्व को दलित समुदाय के सामाजार्थिक हित में उनकी आवश्यकताओं को समझना होगा उसके अनुरूप चलकर और उन्हे संगठित करके विकास के नये सोपानो तक ले जाना होगा। तभी दलित समुदाय सार्थक एवं सम्मानित जीवन को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

37. महेश दत्त पाण्डेय 'दलितों के लिये कल्याणकारी कदम' पृष्ठ – 242 उधृत दलित चेतना उभार'।

नवम अध्याय

निष्कर्ष एवं सुझाव

निष्कर्ष

भारत की सामाजिक स्थिति में जाति की भूमिका न केवल महत्वपूर्ण बल्कि निर्णायक भी है। कुछ जातियों को प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि कुछ अन्य जातियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है और उन्हे बहुत सी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। जाति पर आधारित सामाजिक विभाजन मूलतः वर्ण व्यवस्था का ही विकृत रुप है। प्रारम्भिक वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज में चार मुख्य वर्ग थे – ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिनके भिन्न–भिन्न व्यवसाय थे।[1] पर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था के प्रवर्ग अन्दर से खुले थे और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म निर्धारित नहीं थी। इन वर्गों में से प्रत्येक का एक विशेष सामाजिक कृत्य, संस्कृति और जीवन शैली का अपना अलग–अलग स्तर था। ऋषि मुनियों ने वर्ण व्यवस्था को सनातन और शाश्वत की संज्ञा दी और धीरे धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया कि जाति प्रथा ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था है।

कालान्तर में इन्ही वर्णो के कारण भारतीय समाज हजारों जातियों और उप जातियों में बट गया। यहा तक कि 1957 में जब भारत सरकार ने अनुसूचित जातियों की प्रथम सरकारी सूची प्रकाशित की तो उसमें ऐसी 1,100 जातियों का उल्लेख था।[2] और पिछड़ी जातियों पर नियुक्त ....मण्डल आयोग ने 3743 जातियों को पिछड़ी जातियों के रुप में उल्लेखित किया।[3]

जाति पर आधारित अर्थतन्त्र में श्रम विभाजन अन्यायपूर्ण एवं शोषणकारी रहा है।

---

1. M.N.Srinivas, India - Social structure, Delhi Hidustan Publishing House P. 3, also see, N. K. Dutt, Origins and Growth of caste in India, Vol. 1(200-300 B.C.). London Trupher and Co. 1931, G.S. Ghurye, Class and occupation, Bombay, Populer Prakashan and M.S.A. Rai, "some conceptual issues in the study and M.S.Rao (Eds) Dominance and state power in modern India, recline of the social order, Vol. I Delhi Oxford Univ. Press 1989 p.p. 21-32
2. H.R. Issdcs, India Untouchables, Now York Harpen and Rao 1965 p. -28
3. Repart of the backward classes commission, 1980, reprinted under the title, reservation, for backwards classes: Mandal Commission, repart of the backward classes commission, NEw Delhi, Artank Pub. 1991, Vol 1 p.p. 303-354

अम्बेडकर जाति के पिरामिड को प्रजातन्त्र के माध्यम से नष्ट करना चाहते थे परन्तु स्वाधीन भारत में इस पहलू पर प्रगति धीमी रही है। गांव में आज भी दलित सुरक्षित एवं सम्मानजनक जीवन यापन के लिये अधीर है फिर भी दलित राजनीतिक तौर पर व्यापक रुप से बिखरा हुआ है। शिक्षा एवं वोट उनके अस्त्र हैं किन्तु अभी भी वे मूलतः निस्तेज पड़े हैं। दलित नेतृत्व मे भी एक प्रकार सभ्रान्त वर्ग जन्मा है जो बहुल दलित आबादी के मूल हितार्थों से विलग दिखता है। दलितों के आर्थिक सामर्थ्यकरण की आवश्यकता दलित विकास की पूर्वापेक्षी शर्त है और इस कार्य के सम्पादन में उनकी राजनीतिक लाभबन्दी एवं समान प्रतिभागिता उपकरणात्मक भूमिका निभा सकती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि दलितों के आर्थिक हितों एवं उनकी आवश्यकताओं को अच्छी तरह अभिज्ञानित करते हुये तदनुरुप विकास की रणनीति कार्यान्वित की जाये।

वास्तव में प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी उपलिब्ध यह रही है कि दलितों में राजनीतिक चेतना जगी है, वे सक्रिय हो उठे हैं तथा अपने अधिकारों की मांग करने लगे हैं। तथा भारतीय अर्थतन्त्र में सभी राजनीतिक दल दलितों को अपनी ओर रिझाने का प्रयास कर रहे हैं। हालांकि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में तीखापन जरुर नजर आ रहा है मगर सामाजिक क्षेत्र में अभी भी दलित हासिये पर ही हैं।

भारत का संविधान लागू होने के इतने वर्षो बाद भी दलित जातियों को सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक समानता का अधिकार व्यवहारिक रुप में नहीं मिल सका जो भारतीय संविधान के अनुसार मिलना चाहिये था। कानूनी दृष्टि से तो दलितों को सारी सुविधायें प्रदान की जा रही हैं, परन्तु व्यवहारिक रुप में वह प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो पा रही हैं। आज भी २५०० वर्षो की अस्पृश्यता बरकरार है। ऊपरी दृष्टि से तो सभी राजनेता दलितों के प्रति सहानुभूति दर्शाते हैं परन्तु अन्तर्मन से वे उन्हें जहां का तहां देखना चाहते हैं यही कारण है कि दलितों की स्थिति में सुधार न के बराबर है। आज भी भारतीय मानव समाज में विषमता की गहरी खाई जस की तस बनी हुई है।

संविधान में भले ही दलितों को कई कानूनी अधिकार दिये गये हैं, पर 'दलित समस्या' मूलतः एक सामाजिक समस्या है। कोई भी कानून किसी ब्राहम्ण को बाध्य नहीं कर सकता कि वह दलित के साथ बैठ कर खाना खाये। यह तो सामाजिक जागरण से ही सम्भव है। परन्तु सामाजिक स्तर पर जाति भेद और छुआ–छूत मिटाने का कोई सजग अभियान नहीं चलाया गया। प्रशासनिक उपायों की घोषणा करना एक राजनीतिक आवश्यकता है। क्रूर से क्रूर व्यवस्था भी लोकतांत्रिक ढांचे में जहां प्रत्येक आदमी के बोट की कीमत बराबर है, इस आवश्यकता की उपेक्षा नहीं कर सकती। स्वतन्त्र भारत में दलित की यातना के प्रति जागरुकता ज्यादातर इसी स्तर पर प्रकट होती है। स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के लिये ऐसी राजनीति की जरुरत नहीं है, जिसका मुख्य लक्ष्य सत्ता हो। राजनेता सिर्फ सत्ता की ओर देखते हैं जबकि नेता का लक्ष्य व्यापक परिवर्तन होता है। डा० अम्बेडकर ऐसे ही नेता थे। डा० अम्बेडकर ने संविधान लागू होने क बाद कहा था कि –

"भारत में राजनीतिक समानता की बात तो हो गयी, किन्तु अभी सामाजिक और आर्थिक जीवन में विषमतायें शेष हैं। इस विसंगति को शीघ्र अति शीघ्र दूर किया जाये या फिर वे लोग जो सताये हुये हैं, राजनीतिक लोकतन्त्र की धज्जियां उड़ा देंगे।"[(4)]

वास्तव में दलितों को अपनी स्थिति सुधारने के लिये तुरन्त संघर्ष करना होगा न कि बैठ कर क्रान्ति का इन्तजार। और उनका संघर्ष सफल तभी होगा तब सवर्णो में प्रायश्चित की प्रक्रिया शुरु हागी। चूंकि संघर्ष और प्रायश्चित एक सिक्के के दो पहलू हैं, अतः संघर्ष ऐसा होना चाहिये जो प्रायश्चित को सम्भव बना सके और प्रायाश्चित ऐसा जो संघर्ष का सम्मान करे सके।[(5)]

३ अप्रेल १९२७ को अम्बेडकर ने जिस मराठी पाक्षिक की शुरुआत की थी, उसका नाम था 'बहिष्कृत भारत' था। दलित आज भी बहिष्कृत हैं। लेकिन क्या वह लड़कर अपने को मुख्य

---

4. बाबा साहेब डा० अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड–2 नवम्बर 1993
5. हरिजन से दलित (सम्पादकीय) सम्पादक राजकिशोर, 1994 पृष्ठ – 10

भारत का अंग बना सकेगा ? इस बहिष्कार को समाप्त करना वस्तुतः उन्ही का कर्तव्य है, जिन्होने इन्हें बहिष्कृत करने का काम किया था।

निःसन्देह आज वर्ण व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर खड़े शूद्र वर्ग की सोचनीय दशा की तरफ पूरे राष्ट्र का ध्यान लगा हुआ है और उन पर हो रहे अन्तहीन अत्याचारों को समाप्त करने तथा उन्हें आजाद मनुष्य के रुप में सभी जनतांत्रिक अधिकारों का इस्तेमाल करते हु। गरिमा पूर्वक जीने की परिस्थितियों को सुनिश्चित करने के लिये भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बदलने का आन्दोलन छेड़ दिया गया है। परन्तु दलितोंद्धार हेतु इतने आन्दोलन होने के बावजूद क्या दलितों को आज भी उनके समस्त अधिकार एवं सम्मान मिल पाये हैं ? दलितों में जागरण लाने के लिये बहुत जरुरी है कि दलित वर्गो को आत्म निरीक्षण के लिये प्रेरित किया जाये तथा उन्हे यह समझाया जाये कि अनुदान और आरक्षण की बैसाखियां मात्र आकस्मिक उपचार है। इसे स्थाई इलाज के रुप में नहीं अपनाया जा सकता है। आरक्षण का लाभ उठा कर जितने परिवार समृद्ध हो गये हैं उनका लाभ भी उनके समाज के लोगों को नहीं मिल रहा है। उल्टे इनमें भी एक नव सामन्तवाद उभर रहा है। कहीं ये ब्राहम्णवाद के साथ संघर्ष करते करते नव ब्राहम्णवाद के चंगुल में न फंसते जायें।[6]

हकीकत यह है कि आज दलित वर्ग में एक आलोचन–विलोचन चल रहा है। तेजी से फैल रही दलित चेतना के स्वरुप व उनकी आवश्यकताओं को दलित नेतृत्व को समझना होगा। उनके अनुरुप चलकर और उन्हें संगठित कर के विकास के नये सोपानों तक ले जाना होगा। अभी तक दलितों की सांस्कृतिक धरोहरों व इतिहास की उपेक्षा होती जा रही है। अब विकास के साथ ही साथ सांस्कृतिक जन जागरण के द्वारा दलितों में नये उत्साह, उमंग व विश्वास का संचार करना होगा। अगर सारे दलित नेतागण ये कार्य नहीं कर पाये तो आज तेजी से जागरुक होता जा रहा दलित व वंचित समाज उन्हे इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देने से हिचकेगा नहीं।

6. संजयस्थितप्रज्ञ (लेख) 'दलित विकास का सच' दलित जन उभार, बी०एम०एन० प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ – 235

एक विचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि संसद एवं विधानमण्डलों में उनके अनिवार्य प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों में आरक्षण के अतिरिक्त शैक्षिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अनेकों योजनाओं एवं कार्यक्रमों के माध्यम से शासन द्वारा दिये गये सतत् प्रयासों का दलितों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ? इन व्यवस्थाओं एवं कार्यक्रमों के सम्बन्ध में उनके अपने क्या विचार हैं ? तथा उनके विचार से इन कार्यक्रमों में क्या सुधार अपेक्षित है।

आरक्षण ने गत पांच दशकों में दलित समाज में मध्य वर्ग पैदा करने की आधार–शिला रखी है। यह वर्ग निर्माणाधीन काल में है। यही वर्ग दलित चेतना का वाहक भी है। लेकिन आरक्षण के मुददे पर गलतफहमियों के चलते दलितों का भारी नुकसान भी हुआ है। मूलतः सत्ता में प्रतिनिधित्व का सवाल था। आशा थी कि दलित के हितों की रक्षा करेंगे, उनके हित में कानून बनवायेगे। दलित अधिकारियों से अपेक्षा थी कि वे कार्यपालिका के जरिये, दलितों का भला चाहेंगे। आरक्षण कोटे से उत्पन्न नेताओं, अधिकारियों, कर्मचारियों ने आरक्षण को एक माडल मान लिया। यह भ्रम ही था कि आरक्षण द्वारा पूरा दलित समाज नौकरियों में समाहित हो जायेगा। किसी भी देश मे समूची आबादी सरकारी नौकरियों में समाहित नहीं हो सकती। अतः अब कोशिश यह करनी चाहिये कि दलित समाज इस दृष्टिभ्रम से मुक्त होकर, आरक्षण से बाहर आकर देश की संपदा भूमि, उद्योग, व्यवसाय एवं निजी संस्थाओं में भागीदार बनें । देश में दो करोड़ से कम सरकारी नौकरियॉ हैं यानि हर हाल में ४५ लाख से अधिक दलित सरकारी नौकरियों में नहीं आ सकते[7] चूंकि आरक्षण के अलावा इन्हें अन्य कोई अधिकार नहीं मिल सका, इसलिये दलित चेतना आरक्षण की कैद से मुक्त नहीं हो पायी । देश की संपदा सरकारी नियन्त्रण से बाहर निजी क्षेत्र में है । जब तक निजी क्षेत्र, जिसमें कृषि भी शामिल है, में दलितों की भागीदारी नहीं होती, दलित मुक्ति महज एक सवाल बन कर रह जायेगा ।

अनुसूचित जातियों के उन्नयन हेतु किये गये शासकीय प्रयासों की सफलता

7. चन्द्रभान प्रसाद – 'सत्ता नहीं सत्ता में भगेदारी चाहिये' राष्ट्रीय सहारा, शनिवार 26 जनवरी 2002 – 235

अथवा असफलता तथा उनसे संबंधित लोगों की प्रत्याशाओं एवं प्रतिक्रियाओं पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि अनुसूचित जाति के युवा वर्ग को उनके कल्याण के लिए चलाये गये संवैधानिक एवं शासकीय व्यवस्थाओं का ज्ञान है अथवा नहीं । अब जब इन्हें इन व्यवस्थाओं का ही ज्ञान नहीं होगा तो सही रूप में लाभान्वित भी नहीं हो पायेंगे । इस सम्बन्ध में किये गये एक अध्ययन में पाया गया है कि ६६.०४ प्रतिशत दलितो को दलित कल्याण सम्बन्धी संवैधानिक एवं शासकीय व्यवस्थाओं का ज्ञान है, जबकि ३३.६५ प्रतिशत दलितों को इन व्यवस्थाओं को ज्ञान बिल्कुल नहीं है ।[8] अतः यह एक गम्भीर स्थिति है क्योंकि जब उच्च शिक्षा ग्रहण कर रही युवा पीढ़ी को ही इन व्यवस्थाओं का ज्ञान नहीं है तो अशिक्षितों की स्थिति तो और भी खराब है । इस प्रकार एक विशाल संख्या में स्वयं दलित मुक्त पीढ़ी को दलित कल्याण संवैधानिक योजनाओं का ज्ञान न होना इन व्यवस्थाओं की सफलता पर एक प्रश्न चिन्ह अंकित कर देता है । दलितों का विकास शिक्षा के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता है क्योंकि शिक्षा आत्मविश्वास पैदा करती है और बिना आत्म विश्वास के कोई गौरव नहीं प्राप्त हो सकता । भगवान बुद्ध ने कहा है कि "आत्मदीपो भव" अर्थात अपना दीपक स्वयं बनो,[9] अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने का अधिकार तुम्हारें पास ही है। तुम्हें यह समझकर काम करना चाहिये कि तुम्हारा कोई सहायक नहीं है।

कड़ुवा सच है कि भारत में दलितों की जैसी दुर्दशा है, वैसी दुनियां के किसी भी समुदाय में नहीं है। ऊँच–नीच का भाव तो कमोवेश सारी दुनिया में दिखाई पड़ता है, लेकिन छुआछूत जैसी घृणित बीमारी केवल भारत और कुछ हद तक दक्षिण एशिया में ही है। स्वाधीनता के पश्चात संविधान के प्रावधानों के बावजूद दलितों पर होने वाले अत्याचारों में कोई खास कमी नहीं आई है। दलितों ने बीते वर्षों में क्या पाया ? यदि इस पर गौर करें तो जनजागरण के अनुसार कुल

8. धर्मेन्द्र सिंह (लेख) 'दलित अतीत से वर्तमान तक' दलित जन उभार, बी०एम०एन० प्रकाशन लखनऊ, पृष्ठ 246
9. प्रभुरंजन त्रिपाठी (लेख) 'दलित और बौद्ध धर्म का विकास' दलित जन उभार बी०एम०एन० प्रकाशन लखनऊ, पृष्ठ – 250

दलित आबादी में, अनुसूचित जाति का 62-59 % तथा अनुसूचित जनजाति का 70-4 % हिस्सा निरक्षर है। दलितों में अंगेजी साक्षरता नाम मात्र की है तथा कम्प्यूटर साक्षरता तो मात्र एक स्वप्न है।(10) इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ जब आधुनिक शाखाओं में कम्प्यूटर प्रशिक्षण के बिना चतुर्थ श्रेणी की नौकरी भी मुमकिन नहीं होगी तब भी दलित आबादी का व्यापक हिस्सा निरक्षर ही होगा यानि कि गुलामी का एक नया दौर एक नये रुप में प्रतीक्षा कर रहा है।

श्रम मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार भारत में केन्द्रीय सरकार की ३४.२८ लाख, राज्य सरकार की ७१.१० लाख, अर्द्ध सरकारी की ६३.६८ लाख सरकारी नौकरियां हैं। यानि कुल एक करोड़ बानवे लाख एवं १४ हजार नौकरियां हैं। यदि यह मान लिया जाये कि विगत छः वर्षो में कुल नौकरियों की संख्याा बढ़कर दो करोड़ पहुंच गयी है, और यह भी मान लिया जाये कि दलितों का आरक्षण कोटा २० प्रतिशत तक पूरा हो गया है तो लगभग ४० लाख दलित सरकारी नौकरियों में हैं यानि कुल दलित मुख्य श्रम शक्ति का मात्र ५.११ प्रतिशत हिस्सा सरकारी वेतन भोगी श्रेणी में आता है। कुल दलित मुख्य श्रम शक्ति में २.१७ प्रतिशत व्यवसायी है यदि यह मान लिया जाये कि कुल दलित मुख्य श्रम शक्ति का वह हिस्सा जो मध्यम तथा बड़ी भू–जोतों का स्वामी है तथा उनकी भूमि उपजाऊ एवं सुविधाओं से मुक्त है। जो ५ प्रतिशत के आसपास होगी तो लगभग १० प्रतिशत दलित आबादी आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर है। जनगणना रिपोर्ट के अनुसार कुल दलित मुख्य श्रम शक्ति का 1.79 % भाग (१४ लाख) घरेलू उद्योग है वह उद्योग जिसमें लगे श्रमिक उद्योग के स्वामी भी होते हैं तो आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर दलितों का प्रतिशत लगभग १४.६७ होता है।(11)

मान लीजिये कि कुछ दलित प्राइवेट क्षेत्र में नौकरी करते हैं तो भी आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर दलित आबादी १५ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। तथ्यों पर आधारित उपर्यक्त विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि आजादी से अब तक सरकारों द्वारा लागू योजनाओं में दलित मुक्ति की परिकल्पना नहीं थी। अतः हम यह सोचने पर विवश हो जाते हैं कि यदि सरकारी

10. संजय सिंह (लेख) 'दलित मुक्ति की अवधारणा' उदघृत हिन्दुस्तान, १२ अप्रेल 2001

11. पूर्वोक्ति

योजनाओं में मूलभूत परिवर्तन नहीं किया जाता है तो आगामी वर्षों में दलित समाज की स्थिति बद से बदतर ही होती जायेगी।

हालांकि दलितों की सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है आज कोई सरेआम यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकता कि वह दलितों के साथ बैठकर खाना नहीं खायेगा या उनके छू जाने से उसका धर्म भ्रष्ट हो गया, इसके बावजूद यह भी सही है कि दलितों को अभी भी बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं है। कानूनी और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के बावजूद सदियों से सवर्ण और दलित की जो धारणा लोगों के मन में बैठी है वह मिटी नहीं है। इसके लिये लगातार प्रयास करने की जरुरत है । और यह ध्यान देना भी आवश्यक है कि दलितों की सामाजिक स्थिति का कारण उनकी आर्थिक स्थिति भी है। चूंकि आर्थिक रुप से वे ज्यादा कमजोर हैं इसलिये उनकी सामाजिक स्थिति भी बदतर है। उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में अपने पिछड़ेपन की ओर भी ध्यान देना होगा।

दलितों की तरक्की के बिना भारतीय समाज की तरक्की नहीं हो सकती है और इस तरक्की के लिये सिर्फ सरकार के प्रयास ही काफी नहीं है, जरुरी है कि दलितों के बीच आगे बढ़ने की जागरुकता पैदा की जाये और समाज के सभी वर्ग दलितों को आगे बढ़ने में मदद करें। दलितों को कब तक आखिर दलित समझा जायेगा ? समाज को आज भी अगड़े, पिछड़े, दलित आदि वर्गों में बांटे रखने का काम सबसे ज्यादा राजनीतिक दलों ने किया है। उचित यही होगा कि पुरानी कटुता को भुलाया जाये। आर्थिक तथा तकनीकी प्रगति के इस युग में सोच में भी प्रगति होनी चाहिये। दलितों की तरक्की उन्हे दलित बनाये रख कर नहीं होगी बल्कि उन्हें सभी अन्य वर्गों की बराबरी में बिठाने से होगी। पहले उनके साथ जो अन्याय या अत्याचार हुये हैं उन्हें सिर्फ दोहराते रहने से सामाजिक प्रगति की वांछित दिशा में आगे बढ़ना कठिन होगा। नई सोच और नये प्रयास के साथ संकल्प बद्ध होकर आगे बढ़ना होगा तभी दलितों की वास्तविक तरक्की सम्भव है। असल में दलितों का संघर्ष सिर्फ सामाजिक या राजनीतिक संघर्ष नहीं है। यह वैचारिक संघर्ष भी है।

1965 में डा० अम्बेडकर के मृत्यु के बाद की दलित राजनीति जिन उतार चढ़ावों से होकर गुजरी है उसे तीन चरणों में बांटा जा सकता है। रिपब्लिकन पार्टी का उत्थान और पतन, दलित पैंथर का उभार तथा तीसरे चरण के रुप में दलितों की राजनीतिक सत्ता पर दावेदारी की मांग[12] निश्चित ही दलित राजनीति के इस नये चरण के मिजाज का कांशीराम या मायावती बखूबी प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन वही इसके एकमात्र प्रतिनिधि नहीं है।

सोचने वाली बात यह है कि इसका आगे का रास्ता क्या होगा ? क्या दलित अस्मिता का द्वन्द नयी नयी चीजों, परिघटनाओं को सामने लाता हुआ इसी तरह जारी रहेगा या वह वैकल्पिक संस्कृति की रुपरेखा तय करने में अपना धनात्मक योगदान कर सकेगा तथा इस प्रयास में अपने वास्तविक हितैषी तलाश पायेगा या पूंजीवादी विचारों, संगठनों द्वारा तय दायरों में ही सिमटा रहेगा।

बेशक दलित समाज में स्वाभिमान की लहर पैदा हुई है। वह अनुभव करने लगा है कि सरकारों को बनाने बिगाड़ने में उसकी भूमिका हो सकती है। लेकिन इससे आम दलित की जीवन स्थितियों में कितना फर्क आ पाया है ? स्पष्ट है कि दलित संघर्ष तो अम्बेडकर ने जहां छोड़ा था वह अभी भी वहीं है। दलितों के मानस पटल पर यह धारणा छा चुकी है कि रोटी के लिये तो अपनी लड़ाई हम लगभग जीत चुके है, अब हमारी लड़ाई 'सम्मान' के लिये है। और इस सम्मान को पाने के लिये उन्हें अब किसी दलाल की जरुरत नहीं है। दलाल से उनका मतलब राजनैताओं से है। आज यह राष्ट्रीय हित में है कि दलित स्वालम्बी और समर्थ हो चुका है। इसी जागरुकता के कारण दलित अपने अधिकारों को समझने में सफल है। राजनेताओं का निहित स्वार्थ अब उन्हें समझ में आने लगा है। वो समझने लगा है कि राजनेता शोषित वर्ग को चाहे वह किसी भी जाति का हो, 'बहुजन' से सम्बोधित करके उन्हें अपनी राजनैतिक चाल का मोहरा बनाते हैं। यही कारण है कि विभिन्न राजनैतिक दलों के तालमेल असफल हो जाते हैं। उदाहरण स्वरुप बसपा + सपा का

---

12. सुभाष गानाडे (लेख) 'दलित अस्मिता के नये प्रश्न' उदघृत राष्ट्रीय सहारा, २० जनवरी 2001

तालमेल उ० प्र० में, जहां पर दलित + यादव का मुलायम सिंह १९९३ में प्रतिनिधित्व करना चाहते थे, असफल हो गया।[13]

दक्षिण में दलित और पिछड़ों का संघर्ष शुरु है। वहां पिछड़ों ने ही दलितों का शोषण अधिक किया है।दक्षिण से सबक लेकर ही आज उत्तर प्रदेश में दलित पिछड़ों के साथ कभी मिलना नहीं चाह रहा है। उ० प्र० में १९९३ में सपा से बसपा का तालमेल का नतीजा भी सामने है। हालांकि विचार धारा के स्तर पर दलितों और पिछड़ों में एकता बहुत स्वाभाविक लगती है, लेकिन जमीनी स्तर पर इनमें इसलिये संघर्ष की स्थिति बनती है क्योंकि दलित अपने शोषण के लिये उच्च जातियों की तुलना में पिछड़ों को ज्यादा जिम्मेदार मानते हैं। वैसे भी दलितों का आधार गांवों में है जहां से उच्च जातियां शहरी करण आदि के कारण पलायन कर चुकी हैं। वहां इनका सामना पिछड़ों से ही होता है।

डा० सोहनपाल समनेकक्षर ने कहा कि "२१वीं सदी दलित की होगी" चन्द्रभान प्रसाद के अनुसार यह अच्छे आशय वाले कार्यकर्ता की आशावादिता मात्र है।[14] वैसे यह बात सच हो भी सकती है परन्तु तब जब दलित वर्ग स्वयं प्रयासरत होगा। जबकि दलितों को जब भी मौका मिलता है वो अपने वर्ग का साथ छोड़कर अवसर का पूरा लाभ लेते हैं। मराठा, पटेल, नायर, कमांस, रेड्डी, लिंगायत, थेवर आदि तथा कथित शूद्र जाति के थे। अब इन जातियों ने क्षत्रियता ग्रहण कर रखी है। अर्थात दलितों को जब मौका मिलता है वह अपने उद्धार के लिये अपनी पुरानी स्थिति छोड़ देते हैं। यही स्थिति राजनेताओं की भी है वो दलितों के वोट लेते समय तो उदार हो जाते हैं पर पद प्राप्त करने के पश्चात उन्होने दलितों के लिये कुछ करने की उन्हें कोई चाहत नहीं होती है।

आजादी के बाद से आज तक दलित राजनीति ने एक लम्बा सफर तय कर लिया है। देश में सबसे ऊंची संवैधानिक कुर्सी पर आज एक दलित जाति से आये व्यक्ति को

13. चन्दन मित्रा – (लेख) 'दलित आपना नेता स्वयं होगा' उदघृत पायनियार ३० जनवरी 2000
14. चन्द्रभान प्रसाद (लेख) शेड द ओल्ड उदघृत पायनियर, ३० जनवरी 2001

विराजमान होने का अवसर मिला है। जनसंख्या की दृष्टिकोंण से देश के सबसे बड़े राज्य उ० प्र० में दलित महिला के दो – दो बार मुख्यमंत्री बनने का अवसर मिल चुका है। दलित वर्चस्व वाली बसपा आज उत्तर प्रदेश में प्रमुख राजनीतिक शक्ति है और राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने में भी जिसका कारगर दखल है। इस सब के बावजूद भी दलित संघर्ष अभी समाप्त नहीं हो पाया है। विशेष रुप से आम दलित के उत्थान के लिये अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है, इसके लिये दलित राजनीति को जनवादी मुददों से जोड़ने का तरीका अनुकूल योगदान के लिये बहुत अपरिहार्य है। दलित वर्चस्व वाले दलों का एजेन्डा बहुत संकीर्ण रहता है। दलित व्यक्ति के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री या मुख्यमंत्री बनने से आम दलित की स्थिति में बहुत सकारात्मक अन्तर नहीं आ सकता जब तक कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं और विकास की योजनाओं का विकेन्द्रीकरण नहीं होता।

दलित वर्चस्व वाली पार्टियों में व्यापक सोच के अभाव के चलते उन्होने दलित वर्ग को इन मुददों पर संघर्ष की जरुरत से कभी जुड़ने नहीं दिया। उदाहरण स्वरुप बसपा को ही ले लें जो कभी कोई भी चुनावी घोषणा पत्र जारी नहीं करती। जिसकी न कोई शिक्षा नीति है, न कोई अर्थनीति और न ही कोई विदेश नीति है। सामाजिक परिवर्तन पर जोर दे के उन्होने दलितों की सोच को एक छोटे से दायरे में बांध दिया है। जिसके चलते मंहगी शिक्षा, मंहगी स्वास्थ्य सेवायें, निजीकरण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बढ़ता दबदबा, मूलभूत आवश्यकताओं के लिये भी अनुदान की गुंजाइश को समाप्त करना, जन कल्याण कारी सरकार की अवधारणा को ठिकाने लगाया जाना इत्यादि ऐसे काम होते जा रहे हैं जो अन्ततोगत्वा दलितों के जीवन स्थिति के लिये घातक सिद्ध होंगे।

संविधान निर्माता डा० अम्बेडकर ने दलितों की शक्ति बढ़ाने के लिये जो मन्त्र दिये थे उनमें शिक्षा के क्षेत्र में सबसे आगे निकलने का आवाह्न प्रमुख था। लेकिन कुछ स्वार्थी वर्गो ने आरक्षण को ऐसा मोड़ दे दिया है , जिससे शिक्षा के क्षेत्र में यदि दलितों से प्रतियोगात्मक मजबूती की बात की जाती है तो वे भड़क उठते हैं। जहां तक गैर बराबरी की सामाजिक व्यवस्था

से पीड़ित वर्गों के ध्रुवीकरण में दलितों के शामिल होने से उनके लाभ का प्रश्न है, यह सौदा दलितों के लिये घाटे का साबित हुआ है।

दलितों को धार्मिक अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों से मुक्त होने की भी आवश्यकता है। डा० अम्बेडकर के अनुसरण में दलित धर्मान्तरण कर के बौद्ध तो बन रहे हैं लेकिन इस रास्ते पर उनके द्वारा मात्र मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की पूर्ति की जाती है। वास्तव में दलित बौद्ध हो कर भी पूर्ववत धर्म भीरु बना रहता है और कर्मकान्डों में बढ़चढ़ कर भागेदारी करता है जिनका प्रतिपादन उसी के समुदाय के शोषण को ध्यान में रखकर किया गया है। दलित साहित्य और दलितों के लिये स्वतन्त्र मीडिया की बात भी बहुत हो रही है और परम्परागत साहित्य व मीडिया मे जिस ढ़ंग से उनकी उपेक्षा की गयी है। उसको देखते हुये इसका औचित्य भी सिद्ध होता है लेकिन दलित मीडिया और दलित साहित्य मे दलितों को अपनी काबिलियत साबित करनी होगी। वैश्वीकरण के बाद जिस तरह पूरी दुनियां सिमट कर एक गांव के रुप में रह गयी है उसके परिप्रेक्ष्य में भी दलितों को अपनी स्थिति और भूमिका की शिनाख्त करने की आवश्यकता है।

इस दृष्टि से दलित आन्दोलन के रास्ते में बहुत सी खामियां हैं[15]

१. जातिवाद या दलित जन उभार का आधार जातिवादी रहा है अर्थात यह आन्दोलन जातिवादी व्यवस्था को नकारता नहीं है वरन विभिन्न जातियों के मध्य असमानता समाप्त करने पर बल देता है। निःसन्देह एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर अत्याचार किया जाना उचित नहीं है लेकिन यह तर्क यहीं न रुक के आगे बढ़ता है दलित जाति श्रेणी की ही विभिन्न जातियों में असमानता क्यो ? उनमें भेदभाव क्यों ? दलितवाद 'इस आगे बढ़े तर्क' पर विचार नहीं करना चाहता।

२. दलित आन्दोलन से एक ऐसा वर्ग भी उनके भीतर से पैदा हुआ जो देश की राजधानी से लेकर सुदूर गांव व वार्ड के आरक्षित सीट तक फैला है। इस वर्ग ने पुरोहितवाद की निन्दा की, संघर्ष किया किन्तु स्वयं दलितों का पुरोहित बन गया, भाग्य विधाता बन गया, नियन्ता बन गया। यों तो ऐसे वर्ग हर समाज में होते हैं किन्तु जिस समाज का अधिसंख्यक वर्ग उपेक्षाकृत अधिक पिछड़ा

15. रेनू राठौर, आशीष राठौर, अविराम (लेख) 'दक्खिन टोले का सवाल' दलित जन उभार, बी० एम० एन० प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ – 285

अशिक्षित व कमजोर है उस समाज का अगुआ यदि शोषण करने लगा तो इस बात का अधिक खतरा होता है कि वह अपनी पुरोहिताई चलाये देने के लिये दलितवाद को रास्ते से भटका दे या ऐसे गली में ले जाये जो आगे चल कर बन्द है।

३. आरक्षण व अनुदान की बैसाखियां उठ कर चलने में मदद देने तक तो ठीक है किन्तु बैसाखियां सीमित हैं अतः गिरे पड़े लोगों के लिये ही यह सर्वप्रथम उपलब्ध होना चाहिये न के तेज चलने वाले प्रतियोगिता में भाग लेने वालों के लिये।

४. प्रथम चरण में निषेधात्मक सोच आन्दोलन के आक्रमण को पैना बनाता है, आन्दोलन को संगठित करता है और तेवर को तीखा तथा धारदार बनाता है किन्तु द्वितीय चरण में आकर आन्दोलन को रचनात्मक होना पड़ता है। तब रचनात्मक सोच व कार्यों में इतना दम होना चाहिये कि वह उस स्तर पर संगठन के सभी लोगों को बांध सके। वैचारिक भटकाव व विघटन का यह गणित आन्दोलन की अगुआई कर रहे लोगों के लिये अविश्वसनीय व पीड़ाजनक होता है किन्तु सच तो यह है। दलित आन्दोलन के साथ इस सच को नकारा जा रहा है।

५. यह आन्दोलन सामाजिक है किन्तु समाज के भीतर क्रिया–प्रतिक्रिया की अर्न्तक्रियाएं होती रहती हैं। विश्लेषणात्मक विधि से समस्याओं का निराकरण करने के लिये समझने में मदद मिलती है किन्तु यदि समाधान संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक होता है तो सामाजिक अर्न्तसंबंध के प्रश्न उठ खड़े होते हैं। समाज एक यन्त्र नहीं होता है जिसमें एक खराब पुर्जे को बदलकर ठीक करने तक, यन्त्र के अन्य पुर्जे चुपचाप पड़े रहते हैं। यहां नया समाधान आते ही पूरे समाज के लिये स्वीकार्य होना पड़ता है। यह सच है कि शरीर का कोई अंग सड़ने पर उसका प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है किन्तु उसी प्रकार 'फारेन एलीमेन्ट' शरीर में आने पर उसकी स्वीकार्यता करानी होती है, तभी शरीर स्वस्थ्य ढ़ंग से कार्य करता है।

६. जातिगत भेदभाव व अन्याय सामाजिक प्रश्न है किन्तु उसका समाधान केवल सामाजिक नहीं है जबकि दलित वादी आन्दोलन इसे सामाजिक सीमाओं तक ही सीमित रखता है। यह भमि संबंधों व आर्थिक रिश्तों को प्रश्न नही मानता। जबकि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, इन बिन्दुओं को छुए बिना दलितों का भविष्य बदला नहीं जा सकता। सामाजिक प्रश्न यक्ष प्रश्न अवश्य है, सभी प्रश्नों की कुंजी भी जरुर है किन्तु भूमि संबंधों राहित अर्थशास्त्र के नियम, अर्न्तसंघर्ष व अन्तकथायें,

निर्मम व निर्वेद होती है। इनका हल भूमि संबंधों व अर्थशास्त्र के धरातल पर किया जाना ही संभव है।

हालांकि इतनी खांमिया होने के बावजूद दलित आन्दोलन की उपलब्धि गर्व योग्य रही है। पर फिर भी यह ध्यान रखना होगा कि " कमरे से बाहर निकलने के लिये कुछ कदम कमरे में ही रखने पड़ते हैं" अतः दलित वाद को अब कमरे से बाहर निकालना ही होगा अन्यथा बन्द गली में आने व भटकने का खतरा बना रहेगा।

इस दृष्टि से भोपाल सम्मेलन, दलित विकास एवं आन्दोलन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। भोपाल में ११ से १३ जनवरी २००२ में मध्य प्रदेश सरकार के तत्वाधान में हुआ दलित सम्मेलन सम्भावनाओं के नवीन द्वार खोलता है।(16) भारतीय समाज के सबसे कमजोर तबके के 'बौद्धिक नुमाइन्दों' ने नई अर्थनीति, निजीकरण, विनिमेश और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की चौधराहट वाले बन्दोबस्त का समर्थन कर दिया है और अगर यह धारा बढ़ी तो दलित समाज भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में अपनी मुक्ति देखने लगेगा। भोपाल घोषणा पत्र* के २१ सूत्रीय एजेन्डा इस समाज की समस्याओं और उनके समाधान की ओर गहराई से इशारा करता है।

इस घोषणा पत्र में सामाजिक आर्थिक खुशहाली हेतु प्रत्येक दलित परिवार के लिये खेती योग्य पर्याप्त भूमि, ग्रामीण एवं शहरी सार्वजनिक संपत्तियों को दलितों द्वारा उपयोग करने सम्बन्धी कानून का निर्माण एवं उनका दृढता से पालन, दलितों के हित मे तुरन्त कानूनी न्याय हेतु मौजूदा कानूनों में संशोधन, खेतीहर मजदूरों को गुजारे योग्य मजदूरी, मजदूरी के भुगतान में स्त्री–पुरुष समानता, काम की सुरक्षा और बेहतर कार्यक्षेत्र का माहौल सम्बन्धी कानूनों का निर्माण। दलितों से मुआवजा वसूली, आदिवासियों को वन, वंन उत्पादों तथा वन–संसाधनों के उपयोग के अधिकार, पूजी का लोकतन्त्रीकरण करके दलितों व आदिवासियों को आनुपातिक आधार पर पूंजी

16. राष्ट्रीय सहारा, २६ जनवरी 2002

* भोपाल घोषणा पत्र की विस्तृत चर्चा परिशिष्ट में है।

में हिस्सेदारी तथा बाजार अर्थव्यवस्था में निवेश सम्बन्धी भागेदारी की मांग, बन्धुआ मजदूर प्रणाली, आधिनियम१६७६ को कड़ाई से लागू एवं दलित बाल बंधुआ की समाप्ति। संविधान के अनुच्छेद २१ को संशोधित करके अनु. जाति एवं जनजाति की स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार, आवास, कपड़ा सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी बुनियादी सेवाओं को हासिल करने का अधिकार, दलितों के लिये निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था, बेहतर स्कूली सुविधायें, व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा, दलित बच्चों को छात्रवृत्तियां आदि प्रदान करने की मांग उठाई गई है।

इसी घोषणा पत्र में दलित महिलाओं को विशेष महिला श्रेणी में शामिल की मांग अनुसूचित जाति–जनजाति अत्याचार निरोधक अधिनियम १९८९ एवं नियम १९९५ का कड़ाई से पालन, अकादमिक स्वायत्तशासी संस्थाओं से लेकर विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में दलितों का उचित प्रतिनिधित्व, राष्ट्रीय एवं सभी राज्यों के बजट में दलितों की आबादी के अनुसार आवंटित राशि तय करने आत्मरक्षा के मददेनजर दलितों को हथियारों के लाइसेंस, दलित महिलाओं को हथियार चलाने का विशेष प्रशिक्षण, हाथ से मैला साफ कराने जैसी अपमानजनक व्यवस्था की समाप्ति, कारपोरेट और उद्योग सहित सभी निजी प्रतिष्ठानों में दलित के लिये तय आरक्षण नीति का पालन, संसद व राज्य विधान सभाओं को पिछले २५ वर्षो के दौरान आरक्षण की वास्तिविक स्थिति संबन्धी वार्षिक रिपोर्ट चर्चा के लिये उपलब्ध कराने एवं ख़ाली पड़े आरक्षित पदों को तत्काल भरने की मांग आदि रखी गयी।

दलित घोषणा पत्र इस बात का पुख्ता प्रमाण है कि दलितों का संवेदनशील और जागरुक वर्ग अब सरकारी नौकरियों में आरक्षण–फारक्षण, इंदिरा–विन्दिरा आवास योज़ना तथा काम के बदले अनाज–फनाज से अब ऊब चुका है। उसे भी मध्य वर्गीय सम्पन्नता चाहिये, विशिष्ट मंचों पर स्थान चाहिये, कमेटियों और संस्थाओं की सदस्यता चाहिये और व्यापार–वाणिज्य में हिस्सेदारी चाहिये। इस पर हंसने की जरुरत नहीं है, क्योंकि आज किस वर्ग के व्यक्तियों की लालसाओं से ये चीजें बाहर हैं ? यह भारतीय समाज के संयोजकों और नियोजकों की जिम्मेदारी है कि वे भौतिक तथा सामाजिक सुखों के न्यायपूर्ण वितरण का प्रबंध करें। नहीं तो, डर इस बात

का है कि कल मीडिया के पन्नों पर 'दलित आतंकवाद' नाम का एक नया प्रत्यय दिखाई देगा।

भोपाल घोषणा पत्र का विश्लेषण करते हुये डा० तुलसी राम ने लिखा है ''दलितों का घोषणा पत्र, जिसे देश भर दलित बुद्धिजीवियों ने स्वयं तैयार किया है, वह उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के सुधारने में युगान्तकारी सिद्ध हो सकता है बशर्ते उसे देश भर में लागू कर दिया जाये''(17) । किन्तु एक बात आश्चर्यजनक रही कि दलितों के एक वर्ग में विशेष रुप से बहुजन समाज पार्टी से जुड़े वर्ग ने इसका विरोध किया। जाहिर है , भारतीय समाज जैसी जाति–वेधित व्यवस्था में हर समस्याका जातीय एवं धार्मिक चरित्र उभरजाना भी प्राकृतिक हो जाता है। बसपा जहां एक तरफ कार्यक्रमों को अपने जनाधार के उखड़ जाने के भय से त्रस्त हो जाती है, वहीं संघ परिवार अपने धर्म–विनाश के भय से तिलमिला उठता है, क्योंकि जाति या वर्ण व्यवस्था का भारत में एकमात्र आधार दैवी वैदिक धर्म है।

स्मरण रहे कि ऐतिहासिक एवं प्रमाणित सच्चाई यह है कि दलितों की गरीबी भुखमरी आदि के लिये मानव प्रदत्त वर्ण व्यवस्था जिम्मेदार है; क्योंकि इसी ने सदियों पहले यह निर्धारित किया कि किस जाति के पास धन रखने का अधिकार है और किसे नहीं। वर्ण व्यवस्था ने ही व्यापारियों की एक अलग जमात पैदा की तथा दलितों को धनहीन एवं भूमिहीन बनाया। अतः भारतीय पूंजीवाद वर्ण व्यवस्था के आधार पर विकसित हुआ। इन दोनों सन्दर्भों में मान्यवर कांशीराम तथा संघ परिवार के नेता गिरिराज किशोर के वक्तव्य काफी महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं।

हाल ही में जब एक पत्रकार ने पंजाब में कांशीराम से पूछा कि क्या कारण है कि अधिकतर दलित बसपा नेता उनका साथ छोड़ देते हैं या पार्टी से निकाल दिये जाते है। इस पर उन्होने जवाब दिया कि अच्छा पतझड़ हो जाये तो बहार (वसन्त) बहुत अच्छी भाती है। इस सन्दर्भ में उन्हें यह याद दिलाने की जरुरत नहीं है कि बुरे पतझड़ से पूरी बाग ही उजड़ जाती

17. डा० तुलसी राम (लेख) 'उग्रता छोड़ इतिहास से सबक लें दलित'' राष्ट्रीय सहारा, 26 जनवरी 2002

है। दूसरी तरफ डरबन में जाति व्यवस्था पर सवाल उठाने का विरोध करते हुये गिरिराज किशोर ने कहा – जाति व्यवस्था का सवाल उठाने में हमारे मूलभूत धार्मिक अधिकारों का उल्लंघन होता है। इन दोनों वक्तव्यों पर टिप्पणी की जाये तो कबीर के शब्दों में कहा जायेगा कि 'अरे ! इन दोऊ राह न पाई।'[18]

आज वर्ण व्यवस्था के विनाश में दलितों का धर्मनिरपेक्ष ताकतों के साथ संयुक्त मोर्चा आवश्यक है। वर्ण व्यवस्था के कम से कम चार हजार वर्ष पुराने इतिहास को देखने से पता चलता है कि दलितों ने कभी भी अपने अकेले बल पर अपने को वर्ण व्यवस्था के चंगुल से मुक्त नहीं करा पाया। बौद्धकालीन भारत में बुद्ध तथा अशोक जैसे क्षत्रिय सम्राटों तथा सारिपुत्र मौदगल्यायन, अश्वघोष, नागार्जुन, दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे ब्राहम्ण, बौद्ध दार्शनिको एवं भिक्षुओं के चलते वर्ण व्यवस्था को धक्का लगा था। यदि ऐसे कथित क्षत्रिय तथा ब्राहम्ण नहीं होते तो बुद्ध का वर्ण व्यवस्था विरोधी अभियान उनके जीवन काल में ही समाप्त हो गया होता। अतः दलितों को राजनीतिक उग्रता छोड़कर इतिहास से सीख लेना चाहिये।

आधुनिक चुनौतियों में अपने वर्चस्व की रक्षा के लिये दलितों मे आधुनिक दृष्टिबोध भी जाग्रत करना होगा। कुल मिलाकर दलितों का संघर्ष, अभी जारी तो रहेगा लेकिन उनके लियें परिस्थितियां अब पहले जितनी जटिल नहीं होंगी। जाहिर है कि सामाजिक प्रगति का एक चक्र जो पूरा हो रहा है उसको अपने अन्जाम तक पहुंचाने में उनका श्रेय विस्मृत नहीं किया जा सकता जिन्होने अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के साये में नई चेतना से परिचय के बाद दलितों के मौलिक अधिकार दिलाने के लिये बहुत ही जीवटता से संघर्ष किया। अतएव दलित विकास की सुविचारित रणनीति में डा० अम्बेडकर के दलित दमित मुक्ति आन्दोलन के सैद्धान्तिक आधारों को अपना कर दलित समुदाय अपने राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक समानता की लड़ाई को सशक्त ढ़ंग से संचालित कर सकता है। यही समय, सन्दर्भ और परिस्थितियों की मांग है।

---

18. पूर्वोक्ति

परिशिष्ट

भोपाल घोषणा पत्र

१. सामाजिक एवं आर्थिक खुशहाली के लिए प्रत्येक दलित परिवार के पास पर्याप्त खेती योग्य भूमि होनी चाहिये। सरकार को बची भूमि, सरकारी राजस्व भूमि और मंदिरों की भूमि का बंटवारा निर्धारित समयावधि के बीच निपटा लेना चाहिए। यदि जरुरत महसूस हो तो सरकार कृषि योग्य जमीन खरीद कर दलितों में बांट दे।

२. ग्रामीण एवं शहरी सार्वजनिक संपत्ति को दलितों द्वारा उपयोग करने संबंधी कानून बनाये और उन्हें कड़ाई से लागू किया। दलितों को कानूनी न्याय दिलाने के लिए मुकदमों को लम्बा न खींचा जाये, इसके लिये कानून में संशोधन किया जाये।

३. दलित खेतीहर मजदूरों को गुजारे योग्य मजदूरी मिले, मजदूरी–भुगतान में स्त्री–पुरुष समानता, काम की सुरक्षा और कार्यक्षेत्र में बेहतर माहौल संबंधी कानून बनाये और लागू किये जायें। कानून का सम्मान न करने वालों के विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही हो।

४. राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर विधायी समितियां बनाई जायें, ताकि दलितों की जमीन पर गैर दलितों के कब्जे की पहचान की जा सके। दलितों की जमीन पर कब्जा किये दलितों से मुआवजा वसूला जाये, जमीन के असली हकदारों की पहचान हो और उनके नाम की जमीन उन्हें वापस की जाये और अदालतों द्वारा गैर कानूनी कब्जा करने वालों को दंडित किया जाये।

५. जिन आदिवासियों की जमीने छीनी जा चुकी हैं, उन्हें उनकी जमीन वापिस दिलवायी जाये। आदिवासियों को वन, वन–उत्पादों तथा वन संसाधनों के उपयोग का अधिकार प्राप्त हो। उनकी जमीन पर बांध लगने या कारखाने लगने की स्थिति में विस्थापितों को उसमें शेयरधारक का अधिकार मिले तथा पुनर्वास योजनाएं शुरु की जायें।

६. पूंजी का लोकतंत्रीकरण करके दलितों व आदिवासियों का आनुपातिक आधार पर पूंजी में हिस्सेदारी तथा बाजार–अर्थव्यवस्था में उनकी निवेश संबंधी भागीदारी हो। इनके लिये पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराने हेतु बजट में प्रावधान हो। ऐसी अर्थव्यवस्था में भागीदारी के लिए उनकी क्षमताओं और कुशलता में निखार लाया जाये।

७. बंधुआ मजदूर प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम, १९७६ को कड़ाई से लागू किया जाये। दलितों के बीच बाल मजदूरी को तत्काल खत्म किया जाये। इसके लिये संबंधित कानूनो में जरुरत के मुताबिक संशोधन किये जायें।

८. संविधान के अनुच्छेद–२१ में संशोधन किया जाये, ताकि सभी नागरिकों खासतौर से अनुसूचित जाति–जनजाति को स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवा, आवास, कपड़ा, सामाजिक सुरक्षा आदि बुनियादी सेवाये हासिल करने का अधिकार हो। कम आमदनी वाले दलितों को गुजारे लायक मजदूरी, पांच एकड़ कृषि योग्य भूमि या रोजगार प्राप्त करने का अधिकार मिले।

६. दलितों के निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था तत्काल लागू हो। दलित क्षेत्रों के स्कूलों मे बेहतर सुविधाएं हों और व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा के जरिये दलितों को बाजारोन्मुखी शिक्षा दी जाये। दलित बच्चों के लिए छात्रवृत्तियां तथा निरक्षरों की संख्या के अनुपात को देखते हुये धनराशि आवंटित की जाये।

१०. सरकारी, निजी, विद्यालयों, तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों में दलित बच्चों के प्रवेश में आरक्षण लागू किया जाये। सरकारी खर्चे पर कम आमदनी वाले परिवारों के बच्चों को भी अच्छी शिक्षा प्रदान की जाये। अंग्रेजी माध्यम वाले सभी स्कूलों मे दलितों के बच्चों को दाखिले में पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चत किया जाये।

११. दलित महिलाओं को विशेष महिला श्रेणी में शामिल किया जाये। इसके मुताबिक जनगणना रिपोर्ट, क्रियान्वयन रिपोर्ट और विकास रिपोर्ट में उनके लिये अलग से आंकड़े हों। इन्हें विकास योजनाओं द्वारा मुख्यधारा से जोड़ने के उपाय किये जायें। राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोगों को निर्देश दिया जाये कि वे इस श्रेणी की महिलाओं की स्थिति का आकलन अपनी वार्षिक रिपोर्ट में प्रस्तुत करें।

१२. अनुसूचित जाति–जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम १९८९ एवं नियम १९९५ को कड़ाई से लागू किया जाये। जातीय हिंसा फैलाने वाले दबंग लोगों और इनके साथ नापाक रिश्ता रखने वाले पुलिस अधिकारियों पर मुकदमें चलाये जायें। दलितों पर जुल्म ढाने के मामलों में दोषियों को सामूहिक दंड की ऐसी व्यवस्था की जाये, जिससे अत्याचारी कानून को चकमा देकर न निकलने पायें।

१३. अकादमिक, स्वायत्तशासी संस्थानों से लेकर विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में दलितों का उचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाये। इस नियम का जो संस्थायें पालन न करें, उनकी मान्यता समाप्त कर दिया जाये और उन्हें मिलने वाले अनुदान को भी बंद कर दिया जाये। निजी उद्योगों या व्यावसायिक इकाइयों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था तत्काल लागू की जाये।

१४. राष्ट्रीय एवं सभी राज्यों के बजट में दलितों की आबादी के अनुसार आवंटित राशि तय की जाये। इस राशि का अन्यत्र दुरुपयोग करने वालों के विरुद्ध कार्रवाई की जाये।

१५. सभी सरकारी एवं निजी व्यावसायिक संगठनों को सामाजिक रुप से गैरलाभ में चल रहे व्यापारियों के पक्ष में सामग्री आपूर्ति की जानी चाहिये। यही व्यवस्था डीलरशिप में अनिवार्य बना दी जाये।

१६. दलित की सुरक्षा राज्य का ही एकमात्र दायित्व होना चाहिये। जातिवाद संघर्ष से जूझते क्षेत्रों की पहचान कर वहां सशस्त्र बल तैनात किया जाये। आत्मरक्षा के मददेनजर दलितों को हथियारों के लाईसेंस प्रदान किये जायें। इतना ही नहीं, दलित महिलाओं को हथियार चलाने का विशेष प्रशिक्षण दिया जाये।

१७. हाथ से मैला साफ कराने जैसी अपमानजनक व्यवस्था तत्काल समाप्त कर दी जाये। इस पेशे में शामिल दलितों के लिए पुनर्वास कार्यक्रम और वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध कराये जाये।

१८. विधायी व्यवस्था के तहत संसद व राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जाति–जनजाति आयोग और सफाई कर्मचारियों से जुड़ी वार्षिक रिपोर्ट पर सालाना बहस करायी जाये और बहस के नतीजों पर तुरंत कार्यवाही की जाये। इस संबंध में वार्षिक एवं क्रियान्वयन रिपोर्ट को जनता के समक्ष सार्वजनिक किया जाये।

१६. कारपोरेट और उद्योग सहित सभी निजी प्रतिष्ठानों में दलितों की कुशलता और क्षमता बढ़ाने के लिये सकारात्मक प्रयास किये जायें।

२०. न्यायपालिका एवं रक्षा क्षेत्र में दलितों के लिये तय आरक्षण नीति का पालन हो। न्यायपालिका में नामांकन प्रणाली खत्म करके नियुक्ति प्रक्रिया को पारदर्शी बनाया जाये।

२१. संसद व राज्य विधानसभाओं को पिछले २५ वर्षों के दौरान आरक्षण की वास्तविक स्थिति संबंधी वार्षिक रिपोर्ट चर्चा के लिए उपलब्ध करायी जाये। दलितों के खाली पड़े आरक्षित पदों को तत्काल भरा जाये और उन पदों पर सिर्फ दलित उम्मीदवार ही नियुक्त किये जायें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

BIBLIOGRAPHY

BIBLIOGRAPHY

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल स्त्रोत

1. अश्वघोष — बुद्ध चरितम
2. कथा सरित सागर
3. काका कालेलकर रिपोर्ट, 1953
4. कौटिल्य — अर्थशास्त्र
5. पूर्व मीमांशा सूत्र
6. बारह मिहिर — बृहद संहिता
7. बाण भट्ट — हर्ष चरित
8. बौधायन गृहय सूत्र
9. भगवत पुराण, श्री मद्
10. भरत — नाट्य शास्त्र
11. भारतीय संविधान की मूल प्रति
12. मैगस्थनीज — इण्डिका
13. मंडल आयोग, 1977
14. मनुस्मृति
15. भवभूति — उत्तर रामचरित
16. विष्णु स्मृति
17. वाल्मीकि — रामायण
18. सिंह, अमर — अमर कोश

द्वितीयक श्रोत

लेखक			पुस्तक / प्रकाशन / वर्ष
1.	अम्बेडकर, भीमराव	:	/शूद्रो की खोज, अनुवादक एस.मूर्ति – लखनऊ, कल्चर पब्लिसर्स, 1955
2.	अम्बेडकर, भीमराव	:	/अछूत कौन और कैसे, अनुवादक मदन्त आनन्द कौसल्यायन – लखनऊ, बहुजन कल्याण प्रकाशन, 1994
3.	अम्बेडकर, भीमराव	:	/जातिभेद का उच्छेद, अनुवादक जीववर्धन, लखनऊ, बहुजन कल्याण प्रकाशन, 1980
4.	अम्बेडकर, भीमराव	:	/अग्नि भ्रमण
5.	" "	:	/भगवान बुद्ध और उनके धर्म – भारत रत्न
6.	" "	:	/मि० गांधी एण्ड दि एमेन्सीपेशन दि अन टचेबिल्स 1943
7.	" "	:	/रनाडे, गांधी एण्ड जिन्ना, 1943
8.	"	:	/एनिहिलेशन आफ कास्ट 1936
9.	" "	:	/ब्राम्ह्यण बनाम क्षत्रिय
10.	" "	:	/बुद्ध या कार्ल मार्क्स
11.	" "	:	/किसानों के सवाल, 1925
12.	आचार्य शुक्लेन्द्र	:	/आरक्षण की नीति और संविधान कराह
13.	उपाध्याय, भगवत शरण	:	/खून के छीटें इतिहास के पन्नों पर नई दिल्ली पी.पल्स.,पब्लिशिंग हाउस सी–1978
14.	उमेश कुमार	:	भारतीय अचम्भा/ग्वालियर, उपकार प्रेस, 1993 उत्तर प्रदेश सन्देश, जुलाई, 1995

15. ओंकार, शरद (सम्पादक) : /लोहिया के विचार

16. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 1

17. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 2

18. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 3

19. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 4

20. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 5

21. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 6

22. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 7

23. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 8

24. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 9

25. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 10

26. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 11

27. बाबा साहब डा० अम्बेडकर : /सम्पूर्ण वाड.मय खण्ड – 12

28. बौद्ध, गजाधर प्रसाद : /आर्य नीति का भंडाफोड, लखनऊ बहुजन कल्याण प्रकाशन 1969

29. बनौधा, रामचन्द्र : /अम्बेडकर का जीवन संघर्ष, इलाहाबाद 1947

30. कुबेर, डब्लू. एन. : /भीमराव अम्बेडकर – आधुनिक भारत के निर्माता

31. कश्यप, सुभाष चन्द्र : /संसदीय प्रक्रिया/जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

32. कौशिक, आशा : /गांधी चिन्तन(तुलनात्मक परिपेक्ष) भाग दो/जयपुर, प्रिन्टबैल, 1995

33. कोठारी, रजनी : /भारत में राजनीति 1972 पापुलर बुक डिपे बम्बई

34. कोसाम्बी, डी.डी. : /द इन्ट्रोडक्सन टू दि स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1956 पापुलर बुक डिपो बम्बई

35. गुप्त, विश्व प्रकाश गुप्त, मोहिनी : /भीमराव अम्बेडकर व्यक्ति और विचार

36. चक्र, हरिशंकर : /जाति जीवन चक्र, प्रकाशिका श्रीमती कुसुम चक्र/कानपुर1993/जाति छोड़ो/लखनऊ, बहुजन कल्याण प्रकाशन

37. जोशी, तर्क तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री : /वैदिक संस्कृति विकास 1957 हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लि० बम्बई

38. डा० अंगनेलाल : /बोधिसत्व बाबा साहब डा० अम्बेडकर, जीवन और दर्शन/सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग उ० प्र० लखनऊ 1993 अम्बेडकर विशेषांक– भारत अश्वघोष मार्च--अप्रेल, 1998

39. डीन्कर, डी. सी. : /स्वतन्त्रता संग्राम में अछूतो का योगदान/लखनऊ, त्रिवेनी प्रेस, 1990

40. डा० बसु, दुर्गादास : /भारत का संविधान एक परिचय– छटा संस्करण, बृज किशोर शर्मा अनु/नई दिल्ली हाल आफ इण्डिया प्रा० लि० 1999

41. निशान्त, रवि शंकर : /देश वासियो से दो बातें

42. पवन, रामेश्वर : /हरिजन कौन और कैसे/बहराइच, लक्ष्य संस्थान, 1994

43. पचौरी, सुधीश : /उत्तर आधुनिक परिदृश्य (उपभोक्ता संस्कृति के रूप में)

44. पाण्डेय, विमल चन्द्र : /प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास भाग एक/इलाहाबाद, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस

45. पाण्डेय, विमल चन्द्र : /प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास भाग दो/इलाहाबाद, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस

46. पाण्डेय, प्रशान्त : /अनु० डा० बाबा साहब अम्बेडकर, बसन्त मून, 1991.

1991

47. प्रसाद, चन्द्रभान : /विश्वासघात

48. प्रो० विपिन चन्द्र : /भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष

49. फड़िया, डा० बी.एल. : /अन्तराष्ट्रीय राजनीति/आगरा साहित्य भवन, 1990

50. फूले, ज्योतिराव : /गुलामगीरी, अनुवादक एस.मूर्ति/लखनऊ, कल्चरल पब्लिशर्स, 1994

51. मुखर्जी,रविन्द्र नाथ : /भारतीय समाज व संस्कृति/दिल्ली, विवेक प्रकाशन

52. मोडे, सी.बी.खेरे : /अम्बेडकर चरित्र/बम्बई 1968 वाल्यूम दो

53. मल्ल, नीता : /दलित जन उभार, बी० एम० एन० प्रकाशन लखनऊ

54. माने, जी.बी. : /डा० बाबा साहब अम्बेडकर, माया दलित मुक्ति संग्राम, 1942-45

55. राजकिशोर (सम्पादक) : /हिन्दू होने का मतलब, आज के प्रश्न/नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन 1994

56. रणसुमे, सूर्य नारायण : /डा० बाबा साहब अम्बेडकर/ दिल्ली, सीमा प्रिंटिग प्रेस 1992

57. राय, हिमांशु : /युग पुरूष बाबा साहब अम्बेडकर (संघर्ष गाथा)

58. राज किशोर (सम्पादक) : /भारत का राजनीतिक संकट – हरिजन से दलित

59. राधव, रंगेय : /प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, 1953 आत्मा राम एण्ड संस,देहली 6

60. रस्तोगी, पी० : /प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन/मेरठ, सुशील प्रकाशन

61. लोहिया, राम मनोहर : /जातिप्रथा/पटना, समता प्रकाशन, 1981

62. वर्मा, डा० बृजलाल : /महात्मा ज्योतिराव फूले

63. सक्सेना, डा० जयदयाल : /भारत की पौराणिक कथायें

64. सिंह, डा० अमर ज्योति : /महात्मा गांधी और भारत/वाराणसी, 1995

65. सिंह, पैरियर ललई : /शोषितों पर धार्मिक डकैती/कानपुर, 1991

66. सांस्कृत्यायन, राहुल : /ऋग्वैदिक आर्य 1957 किताब महल, इलाहाबाद दिल्ली

67. सांस्कृत्यायन, राहुल : /दिमागी गुलामी, 1994 किताब महल, इलाहाबाद दिल्ली

68. Ambedkar, B.R. : /States and minorities

69. " " : Thoughts on Pakistan/Bombay, Thacher & Co.,1941

70. " " : Thoughts on Linguistics States/Delhi, 1955

71. " " : The Evolution of prevential finance in British

72. Alam, Javeed : Is Cast appeal costism Oppressed caste in poltics, E.P.W. march, 27,1999

73. Anzaldua, Gloria : Bordalands/La Frontera, Spinsters/Aunt lute, San Francisco.

74. Ahir, D.C. : Legeal of Ambedkar/Delhi, 1990

75. Bapat, Ram : Arthkarnachya Badalatya Disha/ Satara, Dr. Ambedkar Acadmy,1996

76. Bhagwat, Vidut : Sarv dharmati Dalit - O.B.C. Streeyar a Hakkachi Pradhinitva Have/Maharasht a Times, 1997

77. Basant, Moon, Ed. : Dr. Baba Saheb Ambedkar writing & Speeches Govt. of Maharashtra

78. " " : Vol. 1 April 1919

79. " " : Vol. 1 April 1982

80. " " : Vol. 1 April 1987

81. " " : Vol. 1 April 1987

82. Cast in India : Dr. Ambedkar, their original Genesis and

machanism, columbia Uni. 1996

83. Dalit Walfare New decisions : new steps/ Lucknow,Department of Inf.& public relation.

84. Datar, Chhaya : Non Brahmin Rendrings of feminism in Maharashtra is it a more Emancipatory Force, E.P. W. october 1999

85. Gaur, R.K.Krishna : Dalit Movements in India and its readers.

86. Ganguly, Indrani : Some thoughts on Feminism and racism, conect : news letter of Australian Sociologi cal Accociation, 1995

87. Guru Gopal : The theoritical Brahmin and the Empirical Shudra, a paper presented at a workshop on Methodology/Manglore; Manglore Uni.,1998

88. Jatav, Dr. D.R. : B.R. Ambedkar, a vision of man and Morals.

89. Keet, Jahan Jay : Dr. Ambedkar Life and Mission Bomboy popular, 1971

90. Kubar, B.N. : Dr. Ambedkar and critical study/New Delhi

91. Palshikar, Sahay : Dr. Ambedkar chya Hinu Karanchi chikitsa (Dr.Ambedkar's critiqur of Hindutva/Satara, Dr. Ambedkar academy, 1994

92. Perdeshi, Pratima : Dr. Ambedkar dani stree muktivad (Dr.Ambedkar and woman's Libration)/ Pune krantisinh naha pati 1 Academy, 1997

93. Patankar, Bharat : Dalit and present the Emerging cast class Dynamics in Ashish Ghosed. Dalit and

			Peasant : the emergingyCaste Dynamics, Grassroot politics, issue no. 2
94.	Patil, Sharad	:	Marxvad Phule - Ambedkarvad Su gava pune, 1994
95.	Pendse, Sandeep ed.	:	At cross roads, Dalit movements today/ Bombay vikas Adhyayan Kendra, 1994
96.	Rege, Sharmila	:	Dalit walk talk deferently : A critique of difference and towards a Dalit Feminist Stand Point, October 1998
97.	Salve, Dinkar	:	Chadravyuhat Dalit Chalvi (Dalit movement in a maze) /Pune, Kranti Sinha Nana Patil Academy, 1997.

लेख एवं पत्रिकायें

1.	आनन्द प्रधान	:	दलित दावेदारी की गुत्थियां, राष्ट्रीय सहारा, 1997
2.	आम्वेट, गैल	:	'उदारीकरण से होगी दलितों की मुक्ति' राष्ट्रीय सहारा 2002.
3.	अमर, रामसुजान	:	दलित नव जागरण की दशा–दिशा, हिन्दुस्तान फरबरी 2001
4.	" "	:	बारबार टूट का सिलसिला, स्वतन्त्र भारत ५ नवम्बर १९९५
5.	कपूर, मस्तराम	:	समता का स्वप्न और दलित आन्दोलन की दिशा, असली भारत पेज 12-18
6.	कुमार, दिनेश	:	गांधी लोहिया और अम्बेडकर, प्रतिपक्ष अप्रैल, 1991
7.	करौनिया, रामकुमार	:	दलित साहित्य और डा० अम्बेडकर
8.	" "	:	क्या आरक्षण नीति देश के लिये घातक है, भारत

अश्वघोष मार्च–अप्रेल १९९८

9. गुप्त मन्मथ नाथ : भारतीय समाज और अम्बेडकर दलित लिबरेशन टुडे अप्रैल, 1997

10. चतुर्वेदी, राजीव : 'शोषण के खिलाफ बुलन्द आवाज है दलित साहित्य' दैनिक जागरण अगस्त, 2001

11. चतुर्वेदी, अनुराग : दलित राजनीति की नई राहें 'राष्ट्रीय सहारा, जुलाई, 1997

12. जैन, हीरालाल : 'सामजिक समता के अग्रदूत डा० अम्बेडकर' प्रतिपक्ष पेज 23-25

13. झुनझुनवाल, भारत : डरबन में जातिभेद पर चर्चा से डर क्यों? दैनिक जागरण, अगस्त 2001

14. डा० तुलसीराम : अपनी रचनाओं में बाबा साहेब अम्बेडकर भारत अश्वघोष, मार्च–अप्रैल,1998

15. डा० तुलसीराम : उग्रता छोड़ इतिहास से सबक लें दलित, राष्ट्रीय सहारा 2002

16. डा० तुलसीराम : बाद्ध साहित्य के अग्रदूतः महापंडित राहुल सांकृत्यायन अश्वघेष, 1998

17. डा० तुलसीराम : 'दलित साहित्य की रजनीतिक अवधारण' समकालीन सोच

18. डा० तुलसीराम : 'यह मूर्ति पूजा नहीं दलित मुक्ति की अभिव्यक्ति है' राष्ट्रीय सहारा जुलाई १९९७

19. डा० तुलसीराम(सम्पादक) : भारत अश्वघोष, बौद्ध विशेषांक मई–जून 1998

20. डा० विवेक कुमार : 'भोपाल दस्तावेज में बदलाव के बीज' राष्ट्रीय सहारा २६ जनवरी 2002

21. त्रिपाठी, अरुण कुमार : दलित दिग्विजय और एजेण्डा, राष्ट्रीय सहारा 2002

22. थोराट, प्रो० एच० के० : उदारीकरण से नहीं होगा दलितो को उद्धार, राष्ट्रीय सहारा जनवरी 2002

23. द्विवेदी, प्रो. राधेश्याम : पारस्परिक संस्कृति तथा दलित क्रान्ति के मसीहा डा० अम्बेडकर दलित लिबरेशन टुडे, अप्रैल 1997

24. दुबे, अभय कुमार : 'बाल ठाकरे का ब्राम्ह्यण वाद' विरोधी ब्राम्ह्यण वाद, राष्ट्रीय सहारा, जुलाई, 1997

25. दुबे, अभय कुमार : 'सम्भावनाओं का द्वार खोलता एक सम्मेलन, राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) जनवरी 2002

26. दुसाध, एच.एल. : दलित उत्पीड़न और सवर्ण मानसिकता, हिन्दुस्तान

27. दुसाध, एच.एल. : 'कैसे बना यह दस्तावेज' राष्ट्रीय सहारा जनवरी २००२

28. धर्म, नारायण : सामुदायिक आस्मिता बनाम जातीय समन्वय समकालीन सोच, मार्च–अप्रैल, 1998 पेज न० 10

29. नंदुराम : 'अम्बेडकर के सपनों का भारत' प्रतिपक्ष पेज 16-19

30. नैयर, कुलदीप : आज भी आहत है दलित' दैनिक जागरण, सितम्बर 2001

31. नेमिशराम, महोनदास : 'दलितों में सामाजिक संगठनों की भूमिका' असली भारत, पेज 4-11

32. प्रो० ईश्वरी प्रसाद : आरक्षण का प्रावधान, एक विश्लेषण असली भारत अप्रैल, 1993

33. परिहार, महाराज सिंह : जातिवाद राजनीति में घिरा उत्तर प्रदेश' अमर उजाला 18 नवम्बर 1995

34. पटेल, जंग बहादुर सिंह : "कांशीराम की नहीं मायावती की पार्टी है बसपा" स्वतन्त्र भारत 5 नवम्बर 1995

35. पालकीवाल, नानकी : 'दलितों के मसीहा और उनकी वसीयत' दलित लिबरेशन टुडे अप्रैल,1997

36. पुरुषोत्तम 'सत्यप्रेमी' : 'दलित साहित्य और समाजिक न्याय

37. प्रसाद, चन्द्रभान : 'आरक्षण में आरक्षण' अगस्त राष्ट्रीय सहारा अगस्त २००१

38. प्रसाद, चन्द्रभान : 'आदिवासियों की समस्या पर ईमानदार सोच की जरुरत, दैनिक भास्कर मई २००१, भोपाल

39. प्रसाद, चन्द्रभान : 'सवर्ण सत्ता का अवसान' राष्ट्रीय सहारा, नई दिल्ली ७ जून १९९९

40. प्रसाद, चन्द्रभान : 'भारत में शिक्षा एवं दलित'

41. प्रसाद, चन्द्रभान : 'शिक्षित दलित युवाओं में बेरोजगारी

42. प्रसाद, चन्द्रभान : 'भारत में दलित उत्पीणन'

43. प्रसाद, चन्द्रभान : 'भारत में राजनीति एवं दलित मुक्ति का प्रश्न'

44. प्रसाद, चन्द्रभान : 'सत्ता नहीं सत्ता में भागीदारी चाहिये, राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) जनवरी २००२

45. प्रसाद, चन्द्रभान : 'मण्डल आयोग के १० साल', 'अति पिछड़ों का बुरा हाल' सत्य शोधक संवाद, मई १९९९

46. बेसत्री, कौशल्या : 'दलित महिला आन्दोलन और डा० अम्बेडकर' प्रतिपक्ष, 1991

47. बैनीवाल, मलूकचन्द्र : 'दलित बनाम दलित' राष्ट्रीय सहारा, सितम्बर, 2001

48. भारद्वाज, आर्य भूषण : महात्मा गांधी और दलित राजनीति, अमर उजाला, फरवरी, 1996

49. भगवान दास : अम्बेडकर और भारतीय संविधान प्रतिपक्ष पेज 20-22

50. मोहन, नरेन्द्र : 'दलितोत्थान का प्रयोग' दैनिक जागरण 24 अक्टूबर 1995

51. मित्तल,एस.के. : 'महात्मा गांधी एवं हरिजन' अमर उजाला अक्टूबर 1995

52. रविराय : अम्बेडकर भीमराव प्रतिपक्ष पेज 10-11

53. रंज़न, सत्येन्द्र : गांधी लोहिया और अम्बेडकर प्रतिपक्ष अप्रैल 1991

54. राजकिशोर : कांशीराम आरक्षण का विरोध क्यों कर रहे है? अमर उजाला जून 1998

55. रामबिहारी : 'फिलहाल बसपा मजबूरी है दलित समाज की' स्वतन्त्र भारत मार्च 1996

56. रक्षत पुरी : डरबन सम्मेलन की सार्थकता, दैनिक जागरण अगस्त 2001

57. राम सुजान 'अमर' : दलित नव जागरण की दशा–दिशा हिन्दुस्तान फरवरी 2001

58. लखवी चन्द्र : 'दलित राजनीति का विकृत स्वरूप' दैनिक जागरण अक्टूबर 1993

59. लिमये, मधु : आरक्षण से बंधी फैसला, असली भारत अप्रैल 1993

60. शमी भारद्वाज : जाति वाद के पाखण्ड का यथार्थ, असली भारत पेज 38-40

61. शास्त्री, रामदास : बाबा साहेब डा० अम्बेडकर और पत्रकारिता डा० अम्बेडकर फाउण्डेशन पत्रिका–वाल्यूम एक अप्रैल–जून 1996

62. सांस्कृत्यायन, राहुल : डा० अम्बेडकर, अश्व घोष मार्च–अप्रैल 1998

61. सिंह, अजीत : दलित मुक्ति आन्दोलन और जाति वाद के फलितार्थ असली भारत पेज 35-37

63. सिंह, रमेश कुमार : 'दलित चेतना के विविध आयाम' असली भारत पेज 19-27

64. सहारा सलाह : समास्यायें दलितों की, उत्तर चन्द्रभान प्रसाद के राष्ट्रीय सहारा, जुलाई 23, 2001

65. सिंह, शम्भूनाथ : समता का संघर्ष, प्रतिपक्ष पेज 3

66. सिह, डा० आनन्द : भया दोहन का हथियार बन गया है, आरक्षण अमर उजाला जनवरी 2000

67. सिंह, कृष्ण : आरक्षण 'क्रीमी लेयर' के लिये समकालीन जनमत अक्टूबर 1995

68. सेठ, धीरू भाई : दलित राजनीति के परिपेक्ष्य और भविष्य के संकेत, राष्ट्रीय सहारा जुलाई 1997

69. सक्सेना, डा० जयदयाल : गीता–वैज्ञानिक विवेचना, अश्वघोष अक्टूबर 1998

70. Mitra, Chandon : The Dalit will be his own leader, The pioneer 30 June,2000

71. Prasad, Chandra bhan : Dalit welfare The pioneer.

72. " " : Why did the Mondal Revulation fail, 5 Aug. 1999

73. " " : Bacdward Politics, The pioneer

74. Vundra, Raja shekhar : 'The day of the Dalit' The pioneer, 30 June 2000